

मास्टर ऑफ आर्ट्स (हिन्दी) एम. ए. (हिन्दी)

प्रथम वर्ष

हिन्दी भाषा एवं भाषा विज्ञान

(चतुर्थ प्रश्न पत्र)



दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
चित्रकूट, सतना (म.प्र.) - 485334

अनुक्रमणिका

अध्याय – 1 भाषा : अर्थ, स्वरूप एवं अभिलक्षण

9-26

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- भाषा
- भाषा तथा वाक्
- भाषा की परिभाषा और अभिलक्षण
- भाषा की परिभाषा
- भाषा के अभिलक्षण
- भाषा की विशेषताएँ
- भाषा व्यवस्था और भाषा व्यवहार
- भाषा और प्रतीक व्यवस्था
- भाषा व्यवहार
- भाषा संरचना
- भाषिक संरचना के स्तर
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

अध्याय – 2 भाषा—विज्ञान : अर्थ, स्वरूप एवं अध्ययन क्षेत्र

27-44

- परिचय
- भाषा विज्ञान का स्वरूप
- भाषाविज्ञान की वैज्ञानिकता
- भाषाविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र
- भाषाविज्ञान की व्याप्ति
- भाषाविज्ञान के अध्ययन की दिशाएँ
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- स्वनविज्ञान का स्वरूप और शाखाएँ
- वाग् अवयव और उनके कार्य
- स्वन का स्वरूप—अवधारणा
- स्वनिक गुण
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- स्वनिम विज्ञान की अवधारणा
- स्वनिम की अवधारणा
- स्वनिमों के भेद
- स्वनिम विश्लेषण
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- रूप प्रक्रिया और रूपिम विज्ञान
- रूप प्रक्रिया का स्वरूप
- रूप प्रक्रिया की शाखायें
- रूपिम की अवधारणा
- रूपिम के भेद
- रूपिम निर्धारण के सिद्धांत
- रूपिम की विशेषताएँ

- सम्बन्ध तत्त्व के प्रकार्य
- सार-संक्षेप
- रूपिओं के भेद
- अभ्यास-प्रश्न

अध्याय – 6 वाक्य विज्ञान

103-120

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- वाक्य की अवधारणा
- वाक्य और पद का संबंध (पदवाद और वाक्यवाद)
- अभिहितान्वयवाद और अन्विताविधानवाद
- वाक्य की परिभाषा (वाक्य का स्वरूप)
- वाक्य के तत्त्व
- वाक्य में पद विन्यास की विशेषताएँ
- वाक्य के प्रकार
- वाक्य विश्लेषण
- निकटस्थ अवयव विश्लेषण
- गहन संरचना और वाह्य संरचना
- वाक्य परिवर्तन के कारण
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

अध्याय – 7 प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ

121-134

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएं
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

अध्याय – 8 मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

135-158

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय

- मध्यकालीन आर्यभाषाएँ (ई.पू. 500 से 1000 ई.तक)
- पालि
- प्राकृत
- अपभ्रंश
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

अध्याय – 9 आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ

159-178

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- आधुनिक आर्यभाषाओं का उदय
- आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण
- आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय
- हिन्दी भाषा : उसका उद्भव तथा विकास
- खड़ी बोली का विकास
- खड़ी बोली हिन्दी के विविध रूप
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

अध्याय – 10 हिन्दी का भाषिक स्वरूप

179-198

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- हिन्दी का भाषिक स्वरूप
- स्वनिम विज्ञान और स्वनिम
- संस्वन और स्वनिम
- स्वनिम और संस्वन का निर्धारण
- सार संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- सृजनात्मक भाषा
- संचार भाषा
- सम्पर्क भाषा
- राष्ट्र भाषा
- राजभाषा के रूप में हिन्दी
- माध्यम भाषा
- मातृ भाषा
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- विचार वस्तु : हिन्दी बोलियाँ, परिचय, वर्गीकरण और विशेषतायें
- पश्चिमी हिन्दी का स्वरूपगत विभाजन
- पश्चिमी हिन्दी की विशेषताएँ
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय—1

भाषा : अर्थ, स्वरूप एवं अभिलक्षण

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- भाषा
- भाषा तथा वाक्
- भाषा की परिभाषा और अभिलक्षण
- भाषा की परिभाषा
- भाषा के अभिलक्षण
- भाषा की विशेषताएँ
- भाषा व्यवस्था और भाषा व्यवहार
- भाषा और प्रतीक व्यवस्था
- भाषा व्यवहार
- भाषा संरचना
- भाषिक संरचना के स्तर
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत सम्मिलित की गई विषय वस्तु के अध्ययन से आपको निम्नलिखित जानकारी देने के का उद्देश्य निहित है—

1. भाषा एवं उसकी व्यवस्था की जानकारी देना।
2. भाषा व्यवहार तथा उसकी संरचना से परिचित कराना।
3. भाषा प्रकाय एवं भाषा अभिलक्षणस की जानकारी देना।

परिचय

इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य है भाषा के विविध पक्षों से परिचित कराना। इन सिद्धांतों का अध्ययन कर अध्येता किसी भाषा एवं साहित्य के मर्म को आत्मसात करता है। भाषा विज्ञान में जिस भाषा का ग्रहण है, वह संकेतिक आदि से भिन्न मानवीय व्यक्त वाणी है। किसी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के लिए भाषा का अप्रतिम महत्व है। मनुष्य के लिए समस्त प्रकार के ज्ञान और कौशल तथा जीवन व जगत के उन्नति अवनति में भाषा की ही भूमिका होती है, जिसका अध्ययन—मनन समस्त मनुष्यों के लिए नितान्त आवश्यक है।

भाषा

भाषा मानवसभ्यता के विकास की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। मानव जाति का सारा ज्ञान भाषा के माध्यम से ही विकसित हुआ है। सृष्टि में केवल मानव ही वाक्शक्ति संपन्न प्राणी है और यही उसकी श्रेष्ठता का मानदण्ड है। मानव वाहे जंगलों में रहता हो या आधुनिक नगरों में, भाषा उसकी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है। यह कहना अनुचित न होगा कि किसी समाज की भाषा जितनी अधिक समुन्नत होगी उसकी संस्कृति भी उतनी ही अधिक श्रेष्ठ होगी।

भाषा का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु कदाचित अत्यधिक परिचय के कारण बहुत ही कम लोग इस पर ध्यान देते हैं, और बहुधा सांस लेने अथवा चलने के समान ही इस सहज रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त, भाषा के प्रभाव असाधारण हैं— उसके कारण मनुष्य अन्य जीवों से भिन्न है।

संस्कृत के प्रसिद्ध नीतिशास्त्री और वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि के अनुसार—

“न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुबिद्धमिव ज्ञानम् सर्वं शब्देन भासते।।”

(अर्थात् संसार में ज्ञात कोई ऐसा विषय नहीं है जो शब्द का आश्रय न लेता हो। समस्त ज्ञान शब्द से ही उत्पन्न हुआ भाषित होता है)। कहना न होगा कि यहाँ पर ‘शब्द’ भाषा का द्योतक है। जैसा कि सर्वज्ञात है, सामान्य व्यवहार में भी, चिंतन करने से लेकर भाव या विचार की अभिव्यक्ति तक का सर्वोत्तम माध्यम ‘भाषा’ ही बनती है। यही कारण है कि मानव जीवन भर भाषा को प्रयुक्त ही नहीं करता रहता, नाना ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति और प्रगति भाषा के माध्यम से करता ही नहीं रहता, वरन् अपनी जीवन यात्रा में सर्वाधिक आश्रय भी भाषा का ही लेता है। इसी से कहा और जाना तो यह गया है कि ‘वचनमेव प्रसादेन लोक यात्रा प्रवर्तते।’ (अर्थात् भाषा के द्वारा लोक यात्रा भी सहज बन जाती है)। इस विषय में आचार्य दण्डी का यह कथन एकदम सत्य है कि

“इन्दमन्धन्तमः कृस्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाहवयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

(अर्थात् यदि संसार में शब्द (भाषा) रूपी अग्नि का प्रकाश न होता तो त्रैलोक्य अंधकारमय हो जाता) सामान्यतः लोक जीवन में ‘भाषा’ शब्द बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ मिलता है। सभ्य असभ्य, स्थानीय या प्रांतीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, वैयक्तिक, जातिगत और सामाजिक, धर्मगत, जातिगत और स्थानगत, स्वाभाविक और कृत्रिम, सामाजिक (या पारस्परिक) और वैयक्तिक, न जाने कितने विशेष भात्मक प्रकार ‘भाषा’ के अर्थ को प्रकट करते समय प्रयुक्त किये जा रहे हैं। दूसरी ओर,

NOTES

भाषाविज्ञान में इसका प्रयोग प्रायः संकुचित अर्थ में किया जाता है। शास्त्रीय पारिभाषिक और लक्षणात्मक दृष्टि से इतना अवश्य है कि भाषा में ध्वनि संकेत होते हैं— रूढ़, परंपरागत और नवीन, विभिन्न प्रकार के, जिनसे भाव विचारों की अभिव्यक्ति भी होती है और विनिमय भी। इनके अर्थ प्रायः रूढ़िगत होते हैं, किंतु वर्ग, जाति या समाजविशेष द्वारा निर्मित होने के कारण, ये दूसरी भाषा अर्थों से तथा ध्वनि चिन्हों से भी लिया हुआ करते हैं। निश्चयतः ये सार्थक होते हैं तथा इनका उच्चारण वर्ण या शब्दों के रूप में किया जाता है। इस प्रकार, इस 'भाषा' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है 1. व्यापक अर्थ में तथा 2. संकुचित अर्थ में।

व्यापक अर्थ में भाषा जहाँ मनुष्य के चिरसंचित ज्ञान, अनुभव तथा सभ्यता के विकास का मूलाधार है, वहीं वह एक ऐसा महत्वपूर्ण साधन भी है जिसके द्वारा मानव अपने इतिहास, साहित्य, विज्ञान आदि अन्य ज्ञानों को उपलब्ध कराने के साथ साथ उनका प्रसाद एवं प्रचार भी करता है।

संकुचित अर्थ का मुख्य अभिप्राय मनुष्य द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली सार्थक ध्वनि समष्टि से है अर्थात् निरर्थक ध्वनियों या सांकेतिक चिन्हों अथवा इशारों को भाषा वैज्ञानिक अपने अध्ययन का विषय नहीं मानता। उसकी दृष्टि में मानव मुख से निःसृत ऐसी सार्थक ध्वनियाँ ही भाषा कहलाती हैं, जिनका अध्ययन विश्लेषण भी किया जा सके। इसके अतिरिक्त जिसके द्वारा मानव परस्पर अपने भाव विचारों और इच्छाओं का स्वेच्छा से आदान प्रदान कर सकें, वही भाषा है।

भाषा तथा वाक्—

सस्यूर के पूर्व 'भाषा' तथा 'वाक्' का अंतर सामने नहीं आया था। सस्यूर ने ही सबसे पहले इन दोनों को अलगाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। यह उनकी सबसे मौलिक देन थी। उनके अनुसार दोनों में ये अंतर हैं—

- (क) भाषा एक व्यवस्था है, जबकि वाक् उसका उच्चरित या लिखित व्यक्त रूप है।
- (ख) भाषा अपने बोलने वाले समाज के मस्तिष्क में होती है, जबकि वाक् व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त होता है। इस प्रकार भाषा सामाजिक है तो वाक् वैयक्तिक। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वाक् भाषा का वैयक्तिक रूप है तो भाषा वाक् का सामाजिक रूप।
- (ग) भाषा की सत्ता मानसिक होती है तो वाक् की भौतिक।
- (घ) भाषा अमूर्त होती है तो वाक् मूर्त।
- (ङ) कुछ लोगों ने इस प्रसंग में यह भी कहा है कि भाषा वास्तविक नहीं होती जबकि वाक् वास्तविक होती है।

वस्तुतः सस्यूर ने स्पष्टतः कहा है कि दोनों ही वास्तविक होती हैं। हाँ दोनों की वास्तविकता में अंतर है। भाषा की वास्तविकता मस्तिष्क में है, तो वाक् की भौतिक जगत में।

सस्यूर द्वारा संकेतिक ये अंतर आगे भी भाषाविज्ञान के क्षेत्र में विकसित होने वाले नए-नए सम्प्रदायों में किसी-न-किसी रूप में स्वीकृत हुए। कोपेनहैगेन सम्प्रदाय ने भाषा को अमूर्त तथा वाक् को मूर्त कहा। प्राग सम्प्रदाय ने स्वनिम की सत्ता 'भाषा' में तथा उपस्वन की सत्ता 'वाक्' में मानी है। चॉम्स्की के रूपांतरपरक सम्प्रदाय में सामर्थ्य तथा निष्पादन में अंतर की बात की जाती है। कहना न होगा कि पहले का संबंध 'भाषा' से है तो दूसरे का 'वाक्' से। और अंत में इस प्रसंग में यदि शैली की बात उठाएँ तो एक दृष्टि से भाषा तो सामान्य होती है और शैली की सत्ता वाक् में होती है।

भाषा की परिभाषा और अभिलक्षण

भाषा शब्द संस्कृत की भाष् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका कोशीय अर्थ है कहना या प्रकट करना। अतः भाषा को मनुष्य के भावों या विचारों को प्रकट करने का साधन कहा जा सकता है। मनुष्य अपने भावों या विचारों के आदान प्रदान के लिए ज्ञानेन्द्रियों को माध्यम बनाता है। ऐसे सभी माध्यमों को भाषा के अंतर्गत समाहित नहीं किया जा सकता। भाषा विज्ञान के अंतर्गत 'भाषा' के जिस रूप का विश्लेषण किया जाता है वह उस व्यवस्था का अध्ययन है, जिसके अंतर्गत मनुष्य ध्वनि प्रतीकों के माध्यम से अपने भावों या विचारों का आदान प्रदान करता है। उस व्यवस्था को

पारिभाषित करना यद्यपि जटिल है किन्तु प्राचीनकाल से विद्वानों ने भाषा को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

प्राचीनकाल में महर्षि पतंजलि ने लिखा है 'व्यक्तायां वाचि वर्णा येषां तु इमे व्यक्त वाचः। पतंजलि के अनुसार जो वाणी वर्णों में व्यक्त होती है, उसे भाषा कहते हैं। कालान्तर में पाश्चात्य एवं भारतीय भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा के इस 'व्यक्त वाच' को विस्तार से विश्लेषित किया है।

भाषा की परिभाषा –

भाषा और मनुष्य का इतना धनिष्ठ संबंध होते हुए भी उनके वास्तविक स्वरूप या लक्षण अथवा परिभाषा को लेकर विश्व के विभिन्न विद्वानों के पृथक-पृथक मत दृष्टिगत होते हैं। परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने अपने अपने ढंग से भाषा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुये उसे पारिभाषित किया है। जिन्हें सुविधा की दृष्टि से दो वर्गों में रख सकते हैं—(1) भारतीय (2) पाश्चात्य।

भारतीय मत :

1. "वर्णों में व्यक्त वाणी को भाषा कहते है।" पतंजलि
2. "भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचारों को स्पष्टतः समझ सकता है।" कामता प्रसाद गुरु
3. "विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द समूह ही भाषा है।" किशोरीदास बाजपेयी
4. डॉ. बाबूराम सक्सेना "जिन ध्वनि चिन्हों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।"
5. डॉ. मंगलदेव शास्त्री "भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरवयवों से उच्चारण किए गए वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"
6. डॉ. भोलानाथ तिवारी "भाषा, उच्चारण अवयवों से उच्चरित, यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान प्रदान करते हैं।"
7. पी.डी. गुणे —"शब्दों द्वारा हृदयगत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।"
8. सुकुमार सेन "अर्थवान, कण्ठ से निःसृत ध्वनि समष्टि ही भाषा है।"

पाश्चात्य मत :

प्लेटो ने अपने ग्रंथ 'यॉपटिक्स' में एक जगह इस संबंध में कहा है कि

1. "विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है।" तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं। —प्लेटो
2. कोचे "*Language is articulate, limited sound, employed in expression*" अर्थात् अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त स्पष्ट, सीमित तथा सुसंगठित ध्वनि को भाषा कहते हैं।
3. कार्डिनर "*The common definition of speech is the use of articulate sound symbols for the expression of thought.*" (विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यवहृत व्यक्त और स्पष्ट ध्वनि संकेतों को भाषा कहते हैं।)
4. ब्लॉक तथा ट्रेगर "*A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a society group co-operates.*"
5. "*Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which member of a social group cooperate and interact*" —"Strutevent".

भाषा यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिससे एक सामाजिक समूह परस्पर सहयोग करता है।

इन परिभाषाओं के आधार पर भाषा के स्वरूप को निम्नलिखित सूत्रों में निबद्ध किया जा सकता है—

1. भाषा उच्चरित ध्वनि संकेतों की व्यवस्था है।
2. वे संकेत यादृच्छिक होते हैं।
3. भाषा एक व्यवस्था है।
4. भाषा संप्रेषण का सहज माध्यम है।

(1) भाषा उच्चरित ध्वनि संकेतों की व्यवस्था है। 'भाषा' शब्द की व्युत्पत्ति भाष् धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'स्पष्ट वाणी'। भाषाविज्ञान में वागवयवों से उच्चरित ध्वनिसमूह को ही भाषा कहा जाता है। तालियों की आवाज या पैर पटकने का शब्द संप्रेषण का आंशिक साधन होते हुए भी 'भाषा' की परिधि में नहीं आते। यहां तक कि मुंह से उत्पन्न सीटी आदि की आवाजों को भी भाषा नहीं कहा जा सकता।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि लिपिबद्ध भाषा, ब्रेल लिपि की 'स्पर्श भाषा' या 'मूक-बधिरों की 'संकेत भाषा' को 'भाषा' कहा जा सकता है या नहीं? निःसन्देह! परन्तु ये सब उच्चरित भाषा के ही रूपान्तरण हैं। मूल रूप से भाषा उच्चरित होती है। लिपि उसे दृश्य रूप प्रदान करती है, ब्रेल लिपि स्पर्श रूप और संकेत भाषा दृश्य संकेत रूप। इन माध्यमों से जिस 'अभिप्राय' को श्रोता तक पहुंचाया जाता है, वह वस्तुतः 'शब्द' रूप होता है और माध्यमों की यह व्यापकता यहीं समाप्त नहीं हो जाती। रेडियो, टेपरेकार्डर, टेलीविजन, कम्प्यूटर जैसे संप्रेषण के आधुनिकतम साधन भी इस सत्य को झुठला नहीं सकते कि भाषा आखिरकार शब्द रूप है— उच्चरित ध्वनियों की व्यवस्था है। उसका रूपान्तरण केवल वैज्ञानिक चमत्कार है।

(2) ध्वनि संकेत यादृच्छिक होते हैं। यादृच्छिक अंग्रेजी 'आबिट्रेरी' शब्द का अनुवाद है, जिसका अर्थ है 'उन्मुक्त' या 'स्वच्छन्द'। भाषिक ध्वनि संकेतों को यादृच्छिक कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध हैं, उसके पीछे कोई तर्क संगत आधार नहीं होता। जब हम 'पुस्तक' शब्द बोलते हैं, तो एक वस्तु का बोध होता है, उस वस्तु को हम 'पुस्तक' ही क्यों कहते हैं, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह एक उन्मुक्त सम्बन्ध है जो किसी 'सह-सम्बन्ध' पर आधारित नहीं है।

भारतीय व्याकरण में भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है, जिसके अन्तर्गत शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्धों का इतिहास ढूँढ़ने का प्रयत्न हुआ है। उदाहरणार्थ 'पततीति पत्रम्' या 'गच्छतीति गौः' जैसी व्युत्पत्तियाँ 'पत्र' और 'गौ' शब्दों का उनके अर्थों से सम्बन्ध जोड़ती हैं। जो गिरता है वह 'पत्र' (पत्ता) तथा जो चलती है वह गौः (गाय)। ऊपर से देखने पर यह प्रयास शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का आधार तलाश करता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु यादृच्छिकता की बात फिर भी वहीं की वहीं रह जाती है। प्रश्न उठता है कि गिरने की क्रिया को 'पत्' और जाने को गम् (गच्छ) क्यों कहते हैं? यही बात यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यादृच्छिक ही होता है। इसीलिए तो भिन्न-भिन्न भाषाओं में एक ही अर्थ के वाचक भिन्न-भिन्न शब्द प्रचलित हैं।

(3) भाषा एक व्यवस्था है। प्रत्येक भाषा का अपना व्याकरण होता है, जो उसके नियमों का निर्धारण करता है। माना कि सामान्य वक्ता भाषा के नियमों का बहुत सतर्कता से पालन नहीं करता, परन्तु किसी सीमा तक उसे उसके नियन्त्रण में रहना ही पड़ता है। यदि कोई पुरुष 'मैं' जाती हूँ' कहे तो श्रोता उसके आशय को भले ही समझ लें यह प्रयोग हास्यास्पद माना जाएगा। कभी-कभी तो इस स्वच्छन्दता से अर्थ संप्रेषण में बाधा भी पहुँच सकती है।

(4) भाषा संप्रेषण का सहज माध्यम है। दैनिक व्यवहार में हम अपने भाव या विचार दूसरों तक पहुँचाना चाहते हैं। यदि हमें प्यास लगी है तो हम किसी से कहते हैं 'पानी लाओ' जल्दी ही हमें पानी मिल जाता है। यों तो इशारों से भी पानी मांगा जा सकता है परन्तु संकेतों की अपनी सीमाएं हैं। संश्लिष्ट भावों और विचारों को उनके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

NOTES

भाषा के दो पक्ष—

भाषा के दो पक्ष माने गए हैं :

1—मानसिक और 2—भौतिक। मानसिक पक्ष उसका अमूर्त रूप है और भौतिक मूर्त रूप। प्रत्येक वक्ता के मन में भाव और विचार अमूर्त रूप में विद्यमान रहते हैं। जब वक्ता उन्हें प्रकट करना चाहता है तो वागवयवों की सहायता लेता है और भाषा मूर्त रूप ग्रहण कर लेती है। उधर श्रोता के मन में भी वह भाषा अमूर्त रूप में विद्यमान रहती है। इसलिए जब श्रोता द्वारा उच्चरित भाषा श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से उसके मन तक पहुंचती है तो वह वक्ता के अभिप्राय को अविकल रूप से ग्रहण कर लेता है।

इस प्रक्रिया में वक्ता और श्रोता के बीच सामंजस्य होना जरूरी है। यदि श्रोता वक्ता की भाषा नहीं जानता तो अर्थ संप्रेषण नहीं हो पाएगा। कई बार वक्ता और श्रोता के बीच बौद्धिक स्तर की भिन्नता के कारण भी अर्थ संप्रेषण नहीं हो पाता।

भाषा के अभिलक्षण :

भाषा के अभिलक्षण अभिलक्षण का अर्थ मूलभूत लक्षण या विशेषताएं जब हम भाषा का संदर्भ मानवीय भाषा से लेते हैं तो यह जानना आवश्यक हो जाता है कि मानवीय भाषा की मूलभूत विशेषतायें या अभिलक्षण कौन कौन से हैं ? ये अभिलक्षण ही मानवीय भाषा को अन्य भाषिक संदर्भों से पृथक करते हैं।

मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. भाषा सामाजिक वस्तु है

भाषा की परिभाषा में कहा गया है कि भाषा विचार विनिमय का माध्यम है। इसके द्वारा ही किसी समाज के लोग विचारों का आदान प्रदान करते हैं। भाषा के लिए दो पक्ष जरूरी हैं, वक्ता और श्रोता। जैसे ही व्यक्ति एक से दो होते हैं, समाज के निर्माण की शुरुआत हो जाती है। यहीं से भाषा की सामाजिकता शुरू होती है।

भाषा का जन्म समाज में होता है और समाज में ही वह विकसित होती है। बिना समाज के भाषा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि किसी बालक को जन्म के तत्काल बाद जंगल में छोड़ दिया जाये, तो वह भाषा का एक भी शब्द नहीं सीख पायेगा और न ही उसे भाषा की जरूरत महसूस होगी।

2. भाषा पैत्रिक या आनुवांशिक सम्पत्ति नहीं है

भाषा, ऊपरी तौर पर, मनुष्य की जन्मजात सम्पत्ति है। बच्चा परिवार में रहकर कब भाषा सीख जाता है, इसका पता नहीं नहीं चलता। सामान्यता तीन साल का बच्चा उतनी भाषा जानता है, जितनी व्यवहार के लिए आवश्यक होती है। वह बड़ा होता जाता है और उसकी भाषा का क्षेत्र भी उसी अनुपात में बढ़ता जाता है। भाषा सीखने के लिए उसे कभी कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। भाषा की यह अर्जन प्रक्रिया माँ की गोद से प्रारंभ होती है। इसीलिए हम स्वभाषा को 'मातृभाषा' कहते हैं। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भाषा हमें माँ के दूध के साथ सहज मिल जाती है। यदि ऐसा होता तो भाषा सीखने की आवश्यकता ही न होती।

यदि किसी बच्चे को एक डेढ़ साल की उम्र में कोई गोद ले ले, तो वह नये परिवार की भाषा को उतनी ही सहजता से सीखेगा, जितनी अपनी 'माँ की भाषा' को। तब उसके नये परिवार की भाषा ही उसकी 'मातृभाषा' कहलायेगी। परंतु कल्पना कीजिए कि बच्चे को पूर्णतया भाषा विरहित परिवेश में रखा जाये तो क्या होगा ? वह पूर्णतया गूंगा होगा और कोई भाषा नहीं सीख पायेगा।

स्पष्ट है कि भाषा पैत्रिक या एक अनुवांशिक संपत्ति नहीं है।

3. भाषा अर्जित वस्तु है

ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा हम माँ के पेट से सीखकर नहीं आते। वह हमें अर्जित करनी पड़ती है। बच्चा अधिकतर भाषा व्यवहार से सीखता है। भारतीय

काव्यशास्त्र में इस अर्जन प्रक्रिया का एक सुंदर उदाहरण मिलता है। एक बच्चे ने देखा कि एक व्यक्ति ने दूसरे से कहा 'गाम् आनय' (गाय लाओ)। दूसरा व्यक्ति गया और कुछ समय बाद एक पशु के साथ लौटा। कुछ समय बाद उस व्यक्ति ने दूसरे से कहा 'अश्वम् आनय' (घोड़ा लाओ)। दूसरा व्यक्ति फिर गया और एक अन्य पशु के साथ वापस आया। बालक ने इस व्यवहार से तीन शब्द सीखे गौ (गाय), अश्व (घोड़ा) और आनय (लाओ)। वस्तुतः बच्चा अधिकतर भाषा इसी प्रकार सीखता है।

4. भाषा परम्परागत वस्तु है

भाषा एक सनातन वस्तु है, जो हमें परंपरा से प्राप्त होती है। हम अपने परिवार में जो भाषा बोलते हैं, वह हमें अपने माता पिता से मिलती है, माता पिता को दादा-दादी से और उन्हें अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से। यह प्रवाह अनादिकाल से इसी प्रकार चला आ रहा है। समय के साथ भाषा बदलती रहती है, परंतु उसका प्रवाह कभी खंडित नहीं होता। यदि हम किसी नयी भाषा का निर्माण करना चाहें तो नहीं कर सकते। पिछली शताब्दी में विश्व के कुछ उत्साही बुद्धिजीवियों ने 'एस्पिरेन्टो' नाम की एक विश्वभाषा का निर्माण किया। महानगरों में उसकी कक्षाएँ चलीं और अनेक लोगों ने उसे सीखा भी। परंतु यह प्रयोग सफल नहीं रहा। कारण यही था कि यह प्रयास भाषा की प्रकृति के विरुद्ध था, क्योंकि भाषा परम्परागत वस्तु है, उसका निर्माण नहीं होता।

5. भाषा नित्य परिवर्तनशील है

भाषा निरंतर बदलती रहती है। यह परिवर्तन ध्वनि, रूपरचना, वाक्यविन्यास और अर्थ सभी क्षेत्रों में होता है। ध्वनि परिवर्तन के कारण संस्कृत के हस्त, कर्ण, अक्षि आदि शब्द हाथ, कान और आँख हो गये। रूपरचना के परिवर्तन के कारण योगात्मक संस्कृत भाषा हिंदी तक पहुँचते पहुँचते अर्ध अयोगात्मक हो गयी, वाक्य विन्यास में भी परिवर्तन हुआ और पदक्रम जरूरी हो गया। उधर अर्थपरिवर्तन के चलते 'असुर' देवता से राक्षस बन गये। वैदिक काल से इक्कीसवीं शताब्दी तक आते आते भाषा इतनी बदल गयी कि आज का कोई हिंदी भाषा बिना प्रयास के उस काल की भाषा को नहीं समझ सकता।

भाषा की परिवर्तनशीलता केवली समय तक ही सीमित नहीं है। स्थान के साथ साथ भी उसका स्वरूप बदलता है। एक कहावत है चार कोस पर पानी बदले आठ कोस पर बानी। इस परिवर्तन के कारण ही एक ही परिवार की भाषा सिंधी, हिंदी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला, असमिया आदि अनेक भाषाओं में बदल गयी तथा प्रत्येक भाषा की दर्जनों बोलियाँ और उपबोलियाँ बन गयीं।

6. भाषा व्याकरण द्वारा नियंत्रित होती है

ऊपर कहा गया है कि भाषा नित्य परिवर्तनीय है। प्रयत्नलाघव, अज्ञान और अपूर्ण अनुकरण के कारण उसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। परंतु व्याकरण इस परिवर्तन को नियंत्रित रखता है। 'अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण भाषा परिवर्तन चाहती है, और व्याकरण उसे स्थिर रखना चाहता है। एक विद्वान ने कहा है कि व्याकरण भाषा का पुलिसमैन है। भाषा एक व्यवस्था है। यदि उसे अनुशासन में रखा जायेगा तो भाषिक अराजकता छा जायेगी और परिवर्तन की गति इतनी तेज हो जायेगी कि एक पीढ़ी की भाषा दूसरी पीढ़ी के लिए दुर्बोध हो जायेगी। इसलिए भाषा के मानकीकरण और स्थिरीकरण की आवश्यकता होती है।

ऊपर से देखने पर परिवर्तन और स्थिरीकरण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, परंतु भाषा के संदर्भ में ये दोनों साथ साथ काम करते हैं। परिवर्तन भाषा की केन्द्रापगामी प्रवृत्ति है और स्थिरीकरण केन्द्राभिगामी। इन दोनों में संघर्ष चलता रहता है। अंतिम विजय परिवर्तन की ही होती है किन्तु स्थिरीकरण उसकी गति का नियमन करता है और फलस्वरूप परिवर्तन मंद गति से होता है।

7. प्रत्येक भाषा की भौगोलिक और ऐतिहासिक सीमा होती है

प्रत्येक भाषा की स्थान और काल की दृष्टिसे सुनिश्चित सीमाएँ होती हैं। जैसे पंजाबी की सीमाएँ, पंजाब, बंगला की बंगाल, मराठी की महाराष्ट्र तथा गुजराती की गुजरात प्रदेश की

स्व-प्रगति की जाँच करें

NOTES

राजनैतिक सीमाओं तक व्याप्त हैं। हमारे देश में भाषावार प्रांत रचना हुई है। अतः भाषाओं की सीमाओं को लेकर कोई संभ्रम की स्थिति नहीं है। परंतु यदि ऐसा न होता तो भी भाषाओं की सीमाएँ स्वतः निर्धारित होती। योरोप में तो अधिकतर भाषाएँ संपूर्ण देश में प्रयुक्त होती हैं। काल की दृष्टि से भी भाषाओं की व्यापकता सुनिश्चित होती है। उदाहरण के लिए आर्य भाषाओं के विकास क्रम पर दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि मध्यकालीन भाषाओं का समय 500 ई.पू. से लेकर 1000 ई. तक माना गया है। इस 1500 वर्ष के कालखण्ड में भी 500 ई. पू. से 0 ई. तक का काल पालि का. 0 ई. से 500 ई. तक का प्राकृतों का तथा 500 ई. से 1000 ई. तक का समय अपभ्रंशों का माना जाता है।

यहाँ यह बात स्पष्ट करना भी जरूरी है कि भाषा की सीमाएँ राजनैतिक सीमाओं की तरह सुस्पष्ट नहीं होती। दो भाषाओं के बीच सैकड़ों वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र संधि क्षेत्र होता है, जहाँ दोनों भाषाएँ बोली जाती हैं। जैसे जैसे हम एक भाषा के केन्द्र की ओर बढ़ते हैं, पहली भाषा का प्रभाव कम होता जाता है। महाराष्ट्र और गुजरात की सीमा पर स्थित नंदुरबार और सूरत जिलों का काफी विस्तृत भाग मराठी और गुजराती का संधि क्षेत्र है।

यही बात काल सीमा पर भी लागू होती है। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश में रचनाएँ होती रहीं और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने भी पाँव जमाने शुरू कर दिये।

8. प्रत्येक भाषा का अपना स्वतंत्र ढाँचा होता है

ध्वनि, रूपरचना, वाक्यविन्यास और अर्थ की दृष्टि से हर एक भाषा की अपनी संरचना होती है। उदाहरणार्थ हमारा परंपरागत मूर्द्धन्य स्वर ऋ मराठी में रु है हिंदी में रि, वैदिक भाषा की ध्वनि मराठी में विद्यमान है हिंदी में नहीं। रूप रचना में भी उपर्युक्त दोनों भाषाओं में स्पष्ट अंतर मराठी में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के अतिरिक्त नपुंसक लिंग भी विद्यमान है, हिंदी में नहीं। अंग्रेजी में पूर्वसंग का प्रयोग होता है, भारतीय भाषाओं में परसर्ग का। हमारा वाक्य विन्यास कर्ता कर्म क्रिया के पदक्रम पर आधारित है। अंग्रेजी का कर्ता क्रिया कर्म के। तात्पर्य यह कि प्रत्येक भाषा के अपने व्याकरणिक नियम हैं, अपनी संरचना पद्धति है।

9. भाषा कठिनता से सरलता की ओर जाती है

प्रयत्नलाघ मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है, जो भाषा के विकास पर भी लागू होती है। ध्वनि, रूप, वाक्यरचना आदि सभी क्षेत्रों में भाषा सरलता की ओर गतिमान रहती है। संस्कृत के संयुक्ताक्षर पालि और प्राकृत में द्वित्ताक्षरों में परिवर्तित हो गये और बाद में द्वित्व भी समाप्त हो गया। कर्म कम्म काम, अक्षि-अक्खि आँख आदि शब्दों का विकास क्रम इसका प्रमाण है। द्विवचन का धीरे धीरे समाप्त हो जाना, विभक्तियों का घिसना और उनकी जगह परसर्ग का प्रयोग और क्रिया के तिङ्गत रूपों की जगह कृदन्तों का प्रचलन भाषा की इस प्रवृत्ति का द्योतक हैं। अंग्रेजी में भी जीवनए जीममए जील आदि सर्वनामों का लुप्त हो जाना, 'स्ट्रॉंग' क्रियाओं की जगह 'वीक' क्रियाओं के प्रयोग बढ़ना, भाषा के सरलता की ओर बढ़ने के उदाहरण हैं।

10. भाषा संयोगावस्था से अयोगावस्था की ओर जाती है

यह भी प्रयत्नलाघव का ही एक रूप है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ संयोगावस्था में थीं। वाक्य में शब्दों का नहीं पदों का प्रयोग होता था। पदक्रम का कोई महत्त्व नहीं था। संस्कृत में 'बालक : पुस्तकं पठति' जैसे वाक्यों में सभी शब्द पद थे। तब 'अपदं न प्रयुजीत' भाषा का अनिवार्य सिद्धांत था। बाद में प्राकृतों और अपभ्रंशों में विभक्तियाँ लुप्त होने लगीं। आज हिंदी में 'बालक पुस्तक पढ़ता है' आदि वाक्यों में 'बालक' और 'पुस्तक' पूरी तरह अयोगात्मक शब्द हैं। पदक्रम से वे कर्ता और कर्म बन गये हैं। यह भारतीय भाषाओं के अयोगात्मक अवस्था की ओर बढ़ने का उदाहरण है। अंग्रेजी भी अयोगात्मक भाषा नहीं है। परंतु Ram Killed Ravan जैसे वाक्यों में कर्ता और कर्म पूरी तरह अयोगात्मक हो गये हैं।

11. भाषा का कोई अंतिम रूप नहीं होता अर्थात् भाषा परिवर्तनशील है

पिछले पृष्ठों में कहा गया है कि भाषा नित्य परिवर्तनशील होती है। अतः उसका कोई अंतिम रूप होना संभव ही नहीं। मराठी में बीसवीं शताब्दी में ही इतने परिवर्तन हुए कि पुरानी पीढ़ी

के लोग इसे भाषिक अराजकता तक कहने लगे। वहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों को उच्चारण के अनुसार बदल लिया गया। रीति, नीति, कवि, मुनि, मराठी में रीती, नीती, कवी और मुनी हो गये और मानक मराठी में इन्हें शुद्ध मान लिया गया। लेखन में अनुस्वार का सर्वत्र लोप हो गया। अमरीकी इंगलिश में भी वर्तनी के क्षेत्र में ऐसी ही स्वच्छदंता आयी। Kwality, Program आदि वर्तनियाँ चल पड़ी। स्पष्ट है कि यह बदलाव एक ही पीढ़ी के जीवनकाल में हुआ। कल और परिवर्तन होंगे, होते रहेंगे।

अपवाद रूप में संस्कृत ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसे पाणिनि के व्याकरण ने इतना स्थिर कर दिया है कि शताब्दियों की यात्रा में भी उसमें कोई बहुत उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ भाषावैज्ञानिकों का मत है कि संस्कृत एक मृत भाषा है। अतः वह एक रूढ़िबद्ध ढाँचे में बँधकर रह गयी है। परंतु ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। संस्कृत आज भी जीवित है। वह हमारे जन जीवन में बहुत गहरे तक पैठ चुकी है।

12. भाषा का मौखिक रूप पहले परिवर्तित होता है

भाषा के मुख्य रूप ने दो भेद प्रयोग में आते हैं— मौखिक तथा लिखित। परिवर्तन की नियम पहले भाषा के मौखिक रूप को प्रभावित करता है, लिखित को बाद में। अनुकरण की अपूर्णता, शारीरिक कारणों तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों के कारण भाषा का मौखिक रूप अधिक परिवर्तित होता है। लिखित रूप प्रायः कम और बाद में बदलता है। ऐसा भी बहुधा होता है कि भाषा का मौखिक रूप परिवर्तित हो जाता है और लिखित रूप ज्यों का त्यों रह जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लिखित भाषा मौखिक की अपेक्षा कहीं अधिक स्थिर, जड़ तथा गतिहीन होती है। इसीलिये भाषा के इन दोनों रूपों में बहुत अधिक अंतर दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिये 'ऋ', 'ष' आदि वर्णों का उच्चारण पहले कभी अपने ढंग से होता होगा, किंतु अब उनको 'रि' और 'स' आदि के रूप में उच्चरित करते हैं, किंतु हिंदी वर्णमाला में इसका स्थान यथावत् बना हुआ है। अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार के उदाहरण बहुत बड़ी संख्या में दृष्टिगत होते हैं। उनकी वर्तनी आज भी पूर्ववत् बनी हुई है, जबकि उनका उच्चारण बिल्कुल बदल चुका है। Knowledge, Lieutenant, Knife, Daughter, But, Hour आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। हिंदी में भी अनेक शब्दों के उच्चारण परिवर्तित हो गये हैं जैसे राम—रामा, गुप्त—गुप्ता, कृष्ण—किरशन, बुद्ध—बुद्धा, दिल्ली—देहली आदि।

13. भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है

भाषा प्रारंभ में स्थूल होती है। धीरे-धीरे सूक्ष्म मनोभावों और विचारों को व्यक्त करने के लिये सकी अभिव्यक्ति क्षमता भी सूक्ष्म होती जाती है। मानव मस्तिष्क में सीधे जुड़े होने के कारण उसके विकास का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। बालक पहले वस्तुओं का ज्ञान उनके स्थूल रूप में ग्रहण करता है। बाद में धीरे-धीरे वह अन्य सूक्ष्म भावों का परिचय प्राप्त करता है। इसी प्रकार भाषा का विकास भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है।

14. भाषा की दूसरी प्रवृत्ति यह भी है कि वह प्रारंभ में अनघड़ या अप्रौढ़ होती है —

उसमें व्याकरण संबंधी अनियमितार्यें, ग्राम्य प्रयोग, अपवाद तथा अशुद्धियाँ देखने में आती हैं। बाद में भाषा प्रयोग और प्रतिष्ठा के कारण संस्कृत होकर व्यवस्थित तथा प्रौढ़ रूप धारण कर लेती है। अनेक लोकभाषायें या बोलियाँ साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेने पर कहीं अधिक प्रौढ़ प्राज्जना और व्यापक हो जाती है।

15. भाषा पैतृक एवं जन्मसिद्ध नहीं है—

भाषा मनुष्य को जन्म के साथ नहीं मिलती है। शरीर के तुल्य भाषा भी उसे जन्मसिद्ध नहीं है। भाषा पैतृक—परंपरा के रूप में अनायास नहीं मिलती है। भाषा सीखनी पड़ती है, अर्जित की जाती है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव के जन्म के समय समाज में भाषा की स्थिति है, पर वह बालक को स्वतः सिद्ध नहीं होती है। बालक में बोलने की शक्ति है। उसे वाक्—शक्ति मिली है, परन्तु शब्द और अर्थ का सम्बन्ध समाज से अर्जित करना पड़ता है। माता और पिता आदि से शिक्षण के द्वारा प्राप्त होने पर भी उसे पैतृक नहीं कह सकते। इसी प्रकार भाषा जन्म

16. भाषा भाव—सम्प्रेषण का साधन है—

भाषा ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भावों और विचारों को दूसरे तक पहुंचाता है। विविध संकेतों और आंगिक साधनों के द्वारा अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से श्रोता तक नहीं पहुंचाया जा सकता है। भाषा के द्वारा बोलकर भावों को, अमूर्त भावों को, स्वारस्य को, आरोह—अवरोह को, सजीव भावनाओं को बोलकर या लिखित रूप में जितनी विशदता के साथ व्यक्त कर सकते हैं, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं।

17. भाषा का मूलरूप वाक्य है, पद केवल व्यावहारिक है—

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाता है तो यह सिद्ध होता है कि भाषा का मूल वाक्य है। अतएव पाश्चात्य भाषाशास्त्री भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वाक्य ही वह सत्ता है जो मानव के विचार को पूर्ण एवं स्पष्टरूप में प्रस्तुत करती है। वाक्यों का आधार विचार है और विचारों का मूर्तरूप वाक्य है। किसी एक भाव को मन में रखकर विचार किया जाता है। वह विचार पदों के द्वारा नहीं, अपितु वाक्यरूप में होता है। वाक्य की सत्ता को सर्वोच्च माना जाता है। वाक्य के संघटक अवयवों का विभाजन करने पर हमें पदों की सत्ता प्राप्त होती है। इसी प्रकार पदों के निर्मापक अवयवों का परीक्षण करने पर वर्णों की सत्ता प्राप्त होती है। उपयोगिता एवं शास्त्रीय दृष्टि से वाक्य ही भाषा के सार्थक अंग हैं।

भाषा की विशेषताएँ—

मानवीय भाषा में कतिपय ऐसी विशेषताएं होती हैं, जो अन्य प्राणियों की भाषा में नहीं मिलती। पाश्चात्य भाषा शास्त्री 'हॉकेट' ने सात विशेषताओं का उल्लेख किया है। वे हैं—

1. द्वैतता अर्थात् किसी भाषा में दो तत्व अवश्य होते हैं। पहला है सार्थक ध्वनि—अंश, जिसे स्वनिम नाम से जानते हैं तथा दूसरा है—सूपिम।
2. उत्पादकता मनुष्य की भाषा में यह विशेषता होती है कि वह वक्ता तथा श्रोता के मध्य बोधगम्यता को उत्पन्न करती है।
3. पादृच्छिकता भाषा के किसी तत्व और अर्थ में को चिरस्थायी संबंध नहीं होता। सभी भाषिक तत्वों के अर्थ प्रयोक्ता द्वारा स्वैच्छिक रखे होते हैं, जो वस्तुतः संकेतजन्य होते हैं।
4. प्रेषण एवं ग्रहण में परस्पर परिवर्तनशीलता की क्षमता का होना— भाषा का उपयोग करने वाला कोई भी व्यक्ति अपने भाव या विचार को प्रेषित कर सकता है तथा ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार कथन एवं श्रवण के द्वारा आदान—प्रदान की प्रक्रिया में परिवर्तन क्षमता रहती है।
5. संरचना गत विशेषता का होना प्रत्येक मानव समुदाय की भाषा में उसकी विशिष्ट संरचना होती है, जिसके अनुसार ही विचार विनिमय में सरलता आती है।
6. मूर्त—अमूर्त की स्थिति मानव—भाषा में मूर्त—अमूर्त सभी प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है अर्थात् भाषा स्थूल वस्तुओं का ही नहीं अपितु अमूर्त भावों—विचारों से संबंधित अर्थ को भी व्यक्त करती है।
7. सांस्कृतिक संक्रमण मानव—भाषा पैतृक परंपरा से नहीं अपितु शिक्षा के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संवमित होती है। इसे अनुकरण की क्रिया सम्पन्न करती है।

भाषा व्यवस्था और भाषा व्यवहार

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी आर.एच. राविन्स के अनुसार—भाषा व्यवस्था किसी भाषा के बोलने वालों के मस्तिष्क में भाषिक क्षमता के रूप में विद्यमान रहती है। अतः इसकी सत्ता मानसिक होती है। इसे ही भाषा व्यवस्था कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति उस भाषा को बोलता है तो यह उसी मस्तिष्क

में व्यवस्थित भाषा का व्यावहारिक रूप है। भाषा की यह व्यावहारिक सत्ता भौतिक होती है। जो उच्चारण या लेखन में प्रकट होती है। इस प्रकार किसी के अनुकरण पर एक ही वाक्य बोल लेना यह नहीं सिद्ध करता कि वह व्यक्ति उस भाषा को जानता है। बोलना भाषा व्यवहार है, जो व्यक्ति से जुड़ा है लेकिन भाषा को जानना अलग बात है जो भाषा व्यवस्था का आधार है।

वस्तुतः भाषा के दो पक्ष माने गये हैं—

1. मानसिक और 2. भौतिक। मानसिक पक्ष उसका अमूर्त रूप है और भौतिक मूर्त रूप। प्रत्येक वक्ता के मन में भाव और विचार अमूर्त रूप में विद्यमान रहते हैं। जब वक्ता उन्हें प्रकट करना चाहता है तो वागवयवों की सहायता लेता है और भाषा मूर्त रूप ग्रहण कर लेती है। उधर श्रोता के मन में ही वह भाषा अमूर्त रूप में विद्यमान रहती है। इसलिए जब श्रोता द्वारा उच्चरित भाषा श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से उसके मन तक पहुँचती है तो वह वक्ता के अभिप्राय को अविकल रूप से ग्रहण कर लेता है।

इस प्रक्रिया में वक्ता और श्रोता के बीच सामंजस्य होना जरूरी है। यदि श्रोता वक्ता की भाषा व्यवस्था से परिचित नहीं है तो अर्थ प्राप्ति नहीं होगी। यह ध्यान देने योग्य है कि भाषा व्यवस्था भी सबमें समान नहीं होती क्योंकि किसी भाषा भाषी वर्ग में सबके मस्तिष्क में समान भाषा व्यवस्था नहीं होती। अतः यह स्पष्ट है कि इस व्यवस्था का संबंध समाज से है। उस विशेष भाषा—समूह के मस्तिष्क में भाषा की यह व्यवस्था विद्यमान रहती है। वह अपने भावों और विचारों को मूर्त रूप देने के लिए, उसी व्यवस्था के अंतर्गत अपनी भाषा का व्यवहार करता है। यदि भाषा की यह व्यवस्था न होती तो वह उसे व्यवहार में कैसे लाता और व्यवहृत होने पर या मूर्त रूप में आने पर उस भाषा को श्रोता इसलिए ग्रहण करता है क्योंकि उसके मस्तिष्क में भी वह भाषा व्यवस्था विद्यमान है। यदि श्रोता उस भाषा व्यवस्था से नहीं जुड़ा है। तो सुनकर भी कुछ समझ नहीं सकता। यह अवश्य है कि कुछ वाक्यों का उच्चारण कर सकता है। भाषा व्यवस्था के महत्त्व को जानने के बाद यह जानना आवश्यक है कि हर व्यवस्था की अपनी एक संरचना होती है।

भाषिक संरचना को जानने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि भाषा किसकी व्यवस्था है अर्थात् भाषा की संरचना किन उपादानों से होती है। सामान्यतः भाषा के अभिव्यक्त रूप को देखकर हम कह सकते हैं कि भाषा मूलतः स्वनों की व्यवस्था है, क्योंकि भाषा के वाक् रूप में स्वन ही उच्चरित होते हैं। स्वनों की अनुभूति ज्ञानेन्द्रियों से होती है चाहे वह वागेन्द्रिय हो या श्रवणेन्द्रिय। इन्द्रियों से प्राप्तज्ञान को स्थूल कहा जाता है। अतः स्वनों को स्थूल कहा जाता है किन्तु स्वनों से जो अर्थ उद्भूत होता है उसका बोध इन्द्रियाँ नहीं कर सकतीं।

वह बौद्धिक अनुभूति का विषय है। अतः अर्थ को हम सूक्ष्म कहेंगे। इस तरह भाषा के दो पक्ष हुए। स्थूल या भौतिक पक्ष स्वनव्यवस्था और सूक्ष्म या बौद्धिक पक्ष अर्थ व्यवस्था। इस प्रकार भाषा अनुभूति और अभिव्यक्ति की मिश्रित व्यवस्था है।

भाषा और प्रतीक व्यवस्था

प्रतीक विशेष प्रकार के संकेत हैं। कुछ घटनाएं या पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके द्वारा अन्य घटनाओं तथा पदार्थों का निर्देशन होता है। अर्थात् एक विशिष्ट घटना या वस्तु को देखकर हमारा ध्यान किसी अन्य घटना या वस्तु की ओर आकृष्ट हो जाता है। इनका सम्बन्ध स्वाभाविक तथा कारणात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। इनका सम्बन्ध मानव निर्मित हो सकता है या कोई सम्बन्ध रूढ़ होकर प्रतीकात्मक बन जाता है। कम्पन ज्वर का संकेत है जो स्वाभाविक सम्बन्ध पर आधारित है। मानचित्र पर रेल, सड़क, स्कूल आदि प्रतीकों के द्वारा ही प्रदर्शित किए जाते हैं। इसी तरह चौराहे पर लगी हुई लाल, हरी बतियाँ रुकने तथा जाने की संकेतक होती हैं। भाषाओं को 'प्रतीक व्यवस्थाओं की समावेशक' माना गया है क्योंकि वे इस तरह के रूढ़ संकेतों तथा प्रतीकों में उल्लेखनीय अन्तर होता है। भाषा की प्रतीक व्यवस्था विशुद्ध या यादृच्छिक रूढ़ि पर आधारित होती है। जबकि मानचित्र पर अंकित संकेत रूढ़ शैली के द्वारा उन वस्तुओं का बोध कराते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि संकेत तथा संकेतक वस्तु में परस्पर सुनिश्चित सम्बन्ध होता है। भाषा में प्रयुक्त शब्द—प्रतीकों का सम्बन्ध उनके द्वारा संकेतिक वस्तु—विशेष के साथ नहीं होता है। प्रायः सभी भाषाओं में पाये जाने वाले अनुरणात्मक या ध्वनि अनुकरणात्मक शब्दों का सम्बन्ध वस्तु विशेष के साथ कुछ निश्चित सीमा

NOTES

तक पाया जाता है जैसे बिल्ली की बोली के लिए प्रयुक्त शब्द प्रतीक म्याऊँ, चिड़िया की बोली के लिए चीँ चीँ आदि। आर.एच. राविन्स ने कहा है कि 'अम्प से अन्त होने वाले अंग्रेजी भाषा के अनेक शब्द जैसे थम्प, क्लम्प, स्टम्प, डम्प आदि गुरुता, स्थूलता एवं मन्दता के साथ साहचर्य प्रकट करते हैं।' यह तथ्य सुविदित है कि प्रत्येक भाषा में इस तरह के अनुरणात्मक शब्दों की संख्या अत्यन्त सीमित होती है। इसमें एक दूसरी समस्या यह भी है कि विश्व की सभी भाषाओं में एक ही जन्तु की बोली के लिए समान प्रतीक शब्द प्रयुक्त नहीं होता है। अंग्रेजी में कुत्ते की ध्वनि को बाऊ-बाऊ तथा हिन्दी में भों-भों वाले कुछ भाषा वैज्ञानिकों के प्रयास के बावजूद यह तथ्य सिद्ध नहीं हो जाता है कि भाषा की शब्दावली का अधिकांश भाग अपने साहचर्यों में विशुद्ध रूप से यादृच्छिक नहीं होता है। यदि ऐसा न होता तो विश्व की अधिकांश भाषाएँ बहुत कुछ समान होतीं।

भाषा की प्रतीक व्यवस्था की अतिशय व्याप्ति आश्चर्य में डाल देने वाली हैं। भाषा अपनी प्रतीक व्यवस्था में संसार की सभी वस्तुओं, घटनाओं, अनुभूतियों तथा विचारों को बांध लेने की क्षमता रखती है। अपने वक्ताओं की आवश्यकतानुसार भाषा अनन्त रूपों में परिवर्तित और परिवर्द्धित होती रहती है। इसीलिए भाषा से इतर प्रतीक और कुछ जीवों के द्वारा प्रयुक्त संप्रेषणात्मक साधन भाषा की बराबरी नहीं कर पाते।

भाषा के प्रतीक ध्वन्यात्मक होते हैं। ध्वनियों के पारस्परिक संयोजन का प्रत्येक भाषा में एक निश्चित क्रम होता है। इसी तरह भाषा के विभिन्न अंगों (ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ) की निश्चित क्रियाशीलता होती है अर्थात् सभी अंग एक व्यवस्था के तहत कार्यरत होते हैं।

भाषा व्यवहार

भाषा की परिभाषा पर गंभीरता विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की उपयोगिता व्यक्ति को समाज से जोड़ता है। वह समाज चाहे दो व्यक्तियों का हो या लाखों करोड़ों का। इस प्रकार भाषा सामाजिक वस्तु है। समाज से ही भाषा सीखी जाती है और अपना अभिप्राय भी सामाजिक व्यवहार के लिए व्यक्त किया जाता है। किंतु कई स्थितियों में भाषा का व्यवहार वैयक्तिक सीमा में भी होता है। एकान्त में गाना गाते हुए, अथवा सुनसान जगह में कुछ बड़बड़ाते हुए भी व्यक्ति भाषा का ही उपयोग करता है।

इस प्रकार भाषिक व्यवहार तीन स्तरों पर देखा जा सकता है –

1. व्यक्ति स्वयं या आत्मालाप –

भाषा का व्यवहार व्यक्ति स्वयं के लिये कम करता है। किन्तु अकेले में कुछ कहते हुए, गाना गुनगुनाते हुए, विरोधियों के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए भाषा का उपयोग करता है। इस प्रकार भाषा का उपयोग व्यक्ति के स्तर भी होता है। इसे ही हम आत्मालाप की संज्ञा दे सकते हैं।

2. व्यक्ति व्यक्ति या वार्तालाप –

यही भाषिक व्यवहार का सबसे व्यापक और महत्वपूर्ण पहलू है। इसमें वक्ता और श्रोता दोनों पक्ष विद्यमान रहते हैं। अधिकतर प्रसंगों में एक कथन का वक्ता अगले कथन का श्रोता बन जहाता है और श्रोता वक्ता बनकर अपनी बात कहता है। यह क्रम चलता रहता है। कई बार तीन, चार या अधिक व्यक्ति बातचीत करते हैं तो कई वक्ता और श्रोता यथाक्रम अपनी अपनी भूमिका निभाते हैं। दो प्रेमियों का संभाषण, मित्रों की गप्प गोष्ठी, सास बहू की नोक झोंक, किसी समस्या पर परिवार के विभिन्न व्यक्तियों का विचार विमर्श, ग्राहक और विक्रेता के संवाद, न्यायाधीश और वकीलों की दलीलें, स्वामी और सेवक की बातचीत आदि संभाषण की असंख्य स्थितियाँ इस वर्ग में आती हैं, जिनके आज्ञा, निर्देश, प्रश्न, उत्तर, भावाभिव्यक्ति आदि असंख्य रूप हो सकते हैं।

3. व्यक्ति समाज या संभाषण –

यह भाषिक व्यवहार का वह पहलू है, जिसमें वक्ता अपेक्षाकृत बड़े समुदाय से बातें करता है। इस स्थिति में वक्ता, वक्ता ही बना रहता है और श्रोता निष्क्रिय श्रोता। कुछ अपवादों को छोड़कर विश्वविद्यालय की कक्षाएँ, राजनैतिक नेताओं की जनसभाएँ, संतों और महात्माओं का प्रवचन,

आकाशवाणी और दूरदर्शन की वार्ताएँ, समाचार बुलेटिन, रेलवे स्टेशनों और हवाई अड्डों की घोषणाएँ एकपक्षीय भाषण के विविध रूप हैं।

भाषा : अर्थ, स्वरूप
एवं अभिलक्षण

NOTES

वस्तुतः भाषा व्यवहार का यह पक्ष एक भाषी समाज से घनिष्ठ रूप में संबद्ध होता है, तथा जीवन के विविध पक्षों के उजागर करने में भाषा का वृहत्तर उपयोग होता है।

सामाजिक दृष्टि से भाषा के पाँच प्रमुख उपयोग हैं—

1. विचार—सम्प्रेषण— सामाजिक दृष्टि से भाषा का उल्लेखनीय व्यवहार विचारों और भावों के संप्रेषण में होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में भाषा का उपयोग विचारों के आदान—प्रदान में ही करता है।
2. संसूचन भाषा का दूसरा उपयोग आवश्यक सूचना देना है। वस्तुतः यह विचार—संप्रेषण का ही एक रूप है तथापि इसमें व्यक्ति से ज्यादा वर्ग या समाज को विविध ज्ञान, स्थितियों, नियमों की जानकारी देने का उद्देश्य निहित होता है।
3. उद्बोधन यह भी भाषा का सामाजिक पक्ष है। जिसमें चेतना उत्पन्न करने, जागरूकता लाने आदि नैतिक और कर्तव्य जनित कार्यों की ओर उन्मुख करने का भाव रहता है।
4. रसास्वादन साहित्य, संगीत, काव्यशास्त्रीय रसास्वादन, आदि ने लिए भाषा का उपयोग होता है। वस्तुतः यह कार्य आत्मिक जगत को रससिक्त करता है।
5. दर्शन एवं चिंतन ऐहिक जगत की वैज्ञानिक संरचना से परिचित कराने तथा सृष्टि की रचना एवं रचयिता के संबंध में गंभीर चिंतन कर उसे व्यक्त करने में भी भाषा का व्यवहार होता है।

भाषा संरचना

भाषा के जिन दो पक्षों से उसको स्वरूप मिलता है वे हैं बोध और अभिव्यंजना अर्थात् अनुभूति और अभिव्यक्ति। इन दोनों का संबंध भाषा व्यवस्था से है, तथा भाषा व्यवस्था का आधार है उसकी संरचना। अतः अनुभूति और अभिव्यक्ति की मिश्रित संरचना भाषा कहलाती है। अभिव्यक्ति का तात्पर्य केवल रचनात्मकता से है, और अनुभूति का रचनाओं के द्वारा प्रकट आशय से है। अनुभूति अर्थ की होती है और इस अर्थ की अभिव्यक्ति कराने वाले तत्त्व भौतिक होते हैं। अतः अभिव्यक्त तत्त्व वे हैं जो भाषा के भौतिक उपादान हैं। इसमें स्वन, स्वनिम, रूप, व्याकरण और शब्द आते हैं।

द्रव्य और आकृति—

आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार, स्वन, रूप, वाक्य और प्रोक्ति की संरचना का स्तर पृथक होता है और प्रोक्ति से ही अर्थ संरचना होती है। इस प्रकार हम देखें तो प्रतीत होता है कि स्वन और प्रोक्ति तक की संरचना में स्वन रूप वाक्य प्रोक्ति का क्रम बनता है। इसमें रूप, वाक्य और प्रोक्ति की व्यवस्था व्याकरण से जुड़ी है। अतः भाषा संरचना के भौतिक पक्ष में स्वन और व्याकरण आते हैं। संरचनात्मक भाषा वैज्ञानिकों ने इसे नए रूप में व्याख्यायित किया। उसका आधार अर्थ तंत्र है। अभी तक शब्द और अर्थ का संबंध रूढ़िगत माना जाता था लेकिन परवर्ती भाषा वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया कि एक भाषा से दूसरी भाषा के शब्दों में अर्थ साम्य नहीं मिलता।

इस दृष्टि से सस्यूर का अनुसंधान महत्त्वपूर्ण है। सस्यूर के अनुसार अर्थ और ध्वनि दोनों का अस्तित्व मानसिक है। वस्तु और ध्वनि दोनों की सत्ता भौतिक है। उदाहरण के लिए गाय की सत्ता तथा उच्चारित या लिखित ग् + आ+य+अ की सत्ता भौतिक है पर गाय कहने से जो अर्थ संकेत बनता है वह मानसिक है इसी प्रकार उच्चरित होने से पूर्व ये ध्वनियाँ भी मानसिक रूप से विद्यमान रहती हैं। अर्थ और ध्वनि के मानसिक बिम्ब में भी संबंध रहता है। अतः भौतिक सत्ता अर्थात् वस्तु और ध्वनि तथा इनके मानसिक बिम्ब दो तत्त्व हुए। सस्यूर ने भौतिक वस्तु और ध्वनि को पदार्थ या द्रव्य कहा है और मानसिक बिम्ब को रूप या आकृति कहा है। इसी के आधार पर सस्यूर ने प्रतिपादित किया कि भाषा पदार्थ नहीं रूप है। विभिन्न भाषाओं के अर्थ तंत्र में भेद के लिए भाषा वैज्ञानिकों ने वस्तु और रूप के बीच विभेद का आश्रय लिया है। अर्थात् प्रत्येक भाषा में वस्तु और रूप अलग

NOTES

होते हैं। अतः जब हम दूसरी भाषा का अध्ययन करते हैं तो हमें वस्तु के लिए वही रूप नहीं मिलता जो पहली भाषा में है। इसलिए एक भाषा के शब्दों को दूसरी भाषा के शब्दों की यथावत् अर्थ साम्य में नहीं लाया जा सकता। इसकी सिद्धि प्रोक्ति से होती है। अतः वाक्य संरचना भाषा का एक स्तर है अंतिम स्तर नहीं।

प्रोक्ति –

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों का मत है कि भाषा किसी मंतव्य की अभिव्यक्ति है। मंतव्य कभी एक वाक्य से नहीं प्रकट होता। उसमें एकाधिक वाक्यों का प्रयोग होता है। संपूर्ण मंतव्य को प्रकट करने वाले वाक्य खण्ड को प्रोक्ति कहते हैं। भाषा की पूरी व्यवस्था प्रोक्ति है।

उपर्युक्त स्तर भाषा संरचना के महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त लिपिबद्ध संरचना का अलग स्तर होता है। हर भाषा की लेखनीय संरचना में भी अंतर होता है। अतः लिपि को भी भाषा संरचना का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। इस प्रकार स्वन, शब्द, रूप, अर्थ, स्वनिम, वाक्य, प्रोक्ति तथा लेखन भाषा संरचना के अंतर्गत आते हैं।

भाषिक प्रकार्य

भाषा का प्रकार्यात्मक अध्ययन प्राग स्कूल की देन है। अतः प्राग सम्प्रदाय को प्रकार्यवादी सम्प्रदाय भी कहा जाता है। प्राग सम्प्रदाय में इस दिशा में कार्य करने वाले भाषा वैज्ञानिक रोमन याकोव्सन और मार्टिने थे। अतः उन्हें प्रकार्यवादी भी कहा जाता है।

भाषिक प्रकार्य में भाषा का विश्लेषण सामान्य संरचना के आधार पर नहीं किया जाता। प्रकार्यवादी भाषा के विभिन्न प्रकार्यों के आधार पर भाषा का विश्लेषण करते हैं।

सामान्यतः भाषा के अंतर्गत आने वाली इकाइयों के अपने प्रकार्य होते हैं, जिनका अध्ययन भाषा विज्ञान के अंतर्गत किया जाता है किन्तु प्राग सम्प्रदाय ने भाषा के अपने प्रकार्यों को अध्ययन का विषय बनाया है। रोमन याकोव्सन के अनुसार भाषा को तीन दृष्टियों से देखना चाहिए

1. वक्ता
2. श्रोता
3. संदर्भ।

वक्ता की दृष्टि से भाषा अभिव्यक्ति प्रकार्य करती है, श्रोता की दृष्टि से प्रभाषिक प्रकार्य करती है और संदर्भ की दृष्टि से साम्प्रैषणिक प्रकार्य करती है। इसके अतिरिक्त संपर्क, कूट और संदेश ये तीन संदर्भ भी भाषा बनाती है। अतः याकोव्सन ने भाषा के छः प्रकार्य माने हैं।

1. आभिव्यक्तिक प्रकार्य
2. इच्छापरक
3. अभिधापरक
4. संपर्क द्योतक
5. आधिभाषिक
6. काव्यात्मक

प्रकार्यवादियों के अनुसार भाषा की संरचना प्रकार्य के अनुसार बदल जाती है। इस प्रकार एक ही भाषा प्रकार्यानुसार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत होती है।

भाषा के इन समस्त रूपों को चार भागों में सम्मिलित किया जाता है। याकोव्सन ने वक्ता, श्रोता और संदर्भ तीन तत्त्वों के आधार पर प्रमुख तीन प्रकार बनाये हैं। उपर्युक्त छः रूप भाषा के आभिव्यक्तिक संदर्भ से जुड़े हैं। अतः हम इसे निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

भाषा को जब हम द्रव्य मानते हैं तो उसकी अनुकारिता अर्थ से अधिक संगत होती है क्योंकि ध्वनियों का भौतिक रूप (उच्चरित रूप) जिस अर्थ को प्रस्तुत करता है वह यादृच्छिक है। दूसरे ध्वनि और अर्थ का संबंध एकस्तरीय होता है। सस्यूर इसे संकेत कहते हैं। उनका मानना है कि अभिव्यक्त शब्द जिसका संकेत करता है, वह भौतिक वस्तु नहीं है वरन् उसका मानसिक बिम्ब है। इस तरह ध्वनि परक अभिव्यक्ति संकेतक है और उससे जो संकेतित है, वह है अर्थ। दोनों के बीच यादृच्छिक संबंध है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषा संरचना में अनुभूति और अभिव्यक्ति दो पक्ष होते हैं। अनुभूति का संबंध अर्थ संरचना से है। अभिव्यक्ति की संरचना स्वन एवं व्याकरण से सम्पृक्त है। स्वन स्वतः

अर्थ संरचना नहीं कर सकते। अतः अभिव्यक्ति की संरचना में निम्न पक्ष होते हैं—

1. स्वनात्मक संरचना।
2. व्याकरणात्मक संरचना।

स्वनात्मक संरचना दो रूपों में होती है 1. स्वन संरचना 2. स्वनिमिक संरचना। इसी प्रकार व्याकरणात्मक संरचना के दो पक्ष होते हैं— 1. रूपात्मक 2. वाक्यात्मक। स्वनिमिक और रूपतात्मक संरचना में अर्थ सृष्टि का कार्य रूप स्वनिमिक संरचना से होता है।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने स्वन एवं अर्थ संरचना को गौण और स्वनिमिक और वाक्यात्मक संरचना को प्रधान माना है। स्वन और अर्थ को गौण मानने का तर्क यह है कि भाषा के इन दोनों तत्त्वों को संबंध विज्ञान की अन्य शाखाओं से भी है जबकि अर्थ का संबंध दर्शन से है। इसके विपरीत स्वनिमिक और व्याकरणिक संरचना का अध्ययन केवल भाषा विज्ञान के अंतर्गत होता है।

भाषिक संरचना के स्तर

भाषा संरचना के स्वरूप को समझने के लिए संरचना के विविध स्तरों का विवेचन आवश्यक है। सामान्यतः भाषा संरचना के चार स्तर हैं— स्वन, व्याकरण, प्रोक्ति और अर्थ। स्वन के अंतर्गत स्वन और स्वनिमिक, व्याकरण के अंतर्गत रूप और वाक्य, को लिया जा सकता है। संक्षेप में भाषा संरचना के प्रमुख स्तर इस प्रकार हैं

1. स्वन स्वनों की व्यवस्था ही भाषा है। स्वन स्वयं अर्थ नहीं देते लेकिन स्वनों के योग से ही शब्द, पद, वाक्य, और प्रोक्ति की स्थिति है। अतः भाषा में स्वन और स्वनिमों के स्तर पर अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।
2. शब्द को भाषा की महत्त्वपूर्ण कड़ी माना जाता है। शब्द अर्थवान होते हैं और पद तथा वाक्य में अर्थ देने वाले होते हैं। शब्दों में प्रत्ययदि के योग से रूप बनते हैं।
3. रूप वाक्य रूपों से बनता है। रूप को ही पद कहते हैं। रूप में शब्द और धातु आते हैं जो अर्थ तत्त्व कहे जाते हैं तथा प्रत्यय और कारक जुड़कर उसे पद बनाते हैं। इन्हें संबंध तत्त्व कहते हैं। रूप व्याकरणिक संरचना के मुख्य तत्त्व हैं।
4. वाक्य भाषा में अर्थवान इकाई वाक्य को माना जाता रहा है। वाक्य अनेक प्रकार के होते हैं। संरचनात्मक भाषाविज्ञान में वाक्य का विशेष महत्त्व है। आधुनिक भाषाविज्ञान में वाक्य को पूर्ण इकाई नहीं माना जाता क्योंकि अर्थ संरचना में वाक्य की अपेक्षा पूरी अनुभूति होती है।
5. साम्प्रेषणिक प्रकार्य जब वक्ता द्वारा श्रोता को कोई सूचना सम्प्रेषित की जाती है और सीधे विचार विनिमय होता है तो भाषा संरचना का स्तर अलग होता है जिसे हम साम्प्रेषणिक प्रकार्य कहते हैं। सामान्य वार्तालाप में इसी प्रकार्य का प्रयोग होता है।
6. आभिव्यक्तिक प्रकार्य भाषा के द्वारा वक्ता अपने आपको अभिव्यक्त करता है। अतः हर व्यक्ति की भाषा कुछ न कुछ बदल जाती है जिसे हम उसकी शैली कह सकते हैं। भाषा के सभी स्तरों पर यह परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। यहाँ तक कि साहित्य सृजन में भी कथा भाषा और काव्य भाषा का अंतर साम्य देखा जा सकता है। इस प्रकार भाषा की संरचना एक स्तर पर नहीं होती। आभिव्यक्तिक प्रकार्यानुसार भाषा संरचना में परिवर्तन आता है।
7. प्राभाविक प्रकार्य भाषा का प्रयोग जब इस रूप में होता है जिसमें सम्प्रेषण और आत्माभिव्यक्ति की अपेक्षा श्रोता को प्रभावित करना ही मुख्य उद्देश्य हो तो उसे भाषा का प्राभाविक प्रकार्य कहा जाता है। भाषणों की भाषा मुख्यतः प्राभाविक होती हैं, जिसका उद्देश्य श्रोता को प्रभावित करना है। अतः भाषणों की भाषा संरचना और उसका अनुमान अलग होता है। इसकी संरचना, शब्दावली भी भिन्न होती है।
8. सामष्टिक प्रकार्य भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार भाषा के उपर्युक्त तीन प्रकार अलग अलग अवसरों पर प्रयुक्त होते हैं। इन प्रकार्यों से समन्वित भाषा का अस्तित्व अलग होता है, जिसे सामाजिक प्रकार्य कहा जा सकता है। समन्वित भाषा संरचना का अपना प्रकार्य होता है। यह उसी प्रकार है जैसे अलग-अलग वस्तुएँ अपना स्वतंत्र महत्त्व रखती हैं लेकिन उन्हें एक साथ

स्व-प्रगति की जाँच करें

NOTES

प्रस्तुत किया जाय तो किसी अन्य वस्तु का बोध कराती हैं। उदाहरण के लिए इडली, डोसा स्वयं में अलग खाद्य हैं पर समष्टि रूप में दक्षिण भारतीय व्यंजन के रूप में माने जायेंगे। इसी प्रकार अलग-अलग प्रकार्य के रूप में प्रस्तुत होने पर भी भाषा की अपनी निजता होती है। सामान्य क्रम में हम रेडियो या आकाशवाणी कुछ कहें लेकिन सामष्टिक रूप में हिंदी का प्रतिनिधित्व करने वाला शब्द आकाशवाणी है। इस तरह भाषा का जो निजी अस्तित्व है और अभिव्यक्ति से पृथक है उसे सामष्टिक प्रकार्य कहा जा सकता है।

इसी प्रकार्यात्मक अध्ययन के आधार पर प्राग स्कूल में भाषा के मानक रूप का अध्ययन हुआ। रोमन याकोब्सन ने भाषा के प्रकार्यों का निर्धारण करके भाषा के अभिलक्षणों और ध्वनियों का अध्ययन किया है, जो उनकी महत्वपूर्ण देन है।

सार—संक्षेप

भाषा की परिभाषा 'भाषा मानव मुख निःसृत वाक् प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से कोई व्यक्ति अथवा कोई भाषा समुदाय आपस में विचारों का आदान प्रदान करते हुए क्रियाशील होता है।

भाषा की विशेषताएँ या उसके अभिलक्षण के विषय में कहा जा सकता है कि भाषा (1) सामाजिक वस्तु है (2) भाषा वैचिक या आनुवांशिक संपत्ति नहीं है। (3) भाषा अर्जित वस्तु है। (4) भाषा परंपरागत वस्तु है (5) भाषानित्य परिवर्तनशील है (6) भाषा व्याकरण द्वारा नियंत्रित होती है। (7) प्रत्येक भाषा की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक सीमा होती है। (8) प्रत्येक भाषा का अपना स्वतंत्र ढाँचा होता है। (9) भाषा कठिनता से सरलता तथा संयोगावस्था से अयोगावस्था की ओर जाती है। तथा (10) भाषा का कोई अंतिम रूप नहीं होता।

जहाँ तक भाषा व्यवस्था का प्रश्न है, वह मूलतः स्वनों की व्यवस्था है। वस्तुतः भाषा के दो पक्ष हैं—स्थूल या भौतिक पक्ष जिसे हम स्वन व्यवस्था के रूप जानते हैं तथा दूसरा है सूक्ष्म या बौद्धिक पक्ष, जिसके अंतर्गत अर्थ व्यवस्था निहित है। स्पष्ट है कि भाषिक संरचना का आधार भी इन्हीं व्यवस्थाओं के उपादानों पर खड़ा है। जहाँ तक भाषा व्यवहार का प्रश्न है वह तीन स्तरों पर देखा जा सकता है वे हैं (1) व्यक्ति स्वयं (2) व्यक्ति व्यक्ति (3) व्यक्ति तथा समाज भाषा प्रकार्य के अंतर्गत इसे तीन दृष्टियों से देखना चाहिए (1) वक्ता (2) श्रोता (3) संदर्भ। वक्ता की दृष्टि से भाषा अभिव्यक्ति प्रकार्य करती है, श्रोता की दृष्टि से प्रभाविक प्रकार्य तथा संदर्भ की दृष्टि से साम्प्रणिक प्रकार्य करती है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. भाषा शब्द संस्कृत की भाष् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका कोशीय अर्थ है कहना या प्रकट करना। अतः भाषा को मनुष्य के भावों या विचारों को प्रकट करने का साधन कहा जा सकता है। मनुष्य अपने भावों या विचारों के आदान प्रदान के लिए ज्ञानेन्द्रियों को माध्यम बनाता है। ऐसे सभी माध्यमों को भाषा के अंतर्गत समाहित नहीं किया जा सकता। भाषा विज्ञान के अंतर्गत 'भाषा' के जिस रूप का विश्लेषण किया जाता है वह उस व्यवस्था का अध्ययन है, जिसके अंतर्गत मनुष्य ध्वनि प्रतीकों के माध्यम से अपने भावों या विचारों का आदान प्रदान करता है। उस व्यवस्था को पारिभाषित करना यद्यपि जटिल है किन्तु प्राचीनकाल से विद्वानों ने भाषा को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

प्राचीनकाल में महर्षि पतंजलि ने लिखा है 'व्यक्तायां वाचि वर्णा येषां तु इमे व्यक्त वाचः। पतंजलि के अनुसार जो वाणी वर्णों में व्यक्त होती है, उसे भाषा कहते हैं। कालान्तर में पाश्चात्य एवं भारतीय भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा के इस 'व्यक्त वाच' को विस्तार से विश्लेषित किया है।

2. प्रत्येक भाषा की स्थान और काल की दृष्टिसे सुनिश्चित सीमाएँ होती हैं। जैसे पंजाबी की सीमाएँ, पंजाब, बंगला की बंगाल, मराठी की महाराष्ट्र तथा गुजराती की गुजरात प्रदेश की राजनैतिक सीमाओं तक व्याप्त हैं। हमारे देश में भाषावार प्रांत रचना हुई है। अतः भाषाओं

की सीमाओं को लेकर कोई संभ्रम की स्थिति नहीं है। परंतु यदि ऐसा न होता तो भी भाषाओं की सीमाएँ स्वतः निर्धारित होती। योरोप में तो अधिकतर भाषाएँ संपूर्ण देश में प्रयुक्त होती हैं।

काल की दृष्टि से भी भाषाओं की व्यापकता सुनिश्चित होती है। उदाहरण के लिए आर्य भाषाओं के विकास क्रम पर दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि मध्यकालीन भाषाओं का समय 500 ई.पू. से लेकर 1000 ई. तक माना गया है। इस 1500 वर्ष के कालखण्ड में भी 500 ई. पू. से 0 ई. तक का काल पालि का. 0 ई. से 500 ई. तक का प्राकृतों का तथा 500 ई. से 1000 ई. तक का समय अपभ्रंशों का माना जाता है।

यहाँ यह बात स्पष्ट करना भी जरूरी है कि भाषा की सीमाएँ राजनैतिक सीमाओं की तरह सुस्पष्ट नहीं होती। दो भाषाओं के बीच सैकड़ों वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र संधि क्षेत्र होता है, जहाँ दोनों भाषाएँ बोली जाती हैं। जैसे जैसे हम एक भाषा के केन्द्र की ओर बढ़ते हैं, पहली भाषा का प्रभाव कम होता जाता है। महाराष्ट्र और गुजरात की सीमा पर स्थित नंदुरबार और सूरत जिलों का काफी विस्तृत भाग मराठी और गुजराती का संधि क्षेत्र है।

3. भाषा नित्य परिवर्तनशील होती है। अतः उसका कोई अंतिम रूप होना संभव ही नहीं। मराठी में बीसवीं शताब्दी में ही इतने परिवर्तन हुए कि पुरानी पीढ़ी के लोग इसे भाषिक अराजकता तक कहने लगे। वहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों को उच्चारण के अनुसार बदल लिया गया। रीति, नीति, कवि, मुनि, मराठी में रीती, नीती, कवी और मुनी हो गये और मानक मराठी में इन्हें शुद्ध मान लिया गया। लेखन में अनुस्वार का सर्वत्र लोप हो गया। अमरीकी इंगलिश में भी वर्तनी के क्षेत्र में ऐसी ही स्वच्छदंता आयी। Kwality, Program आदि वर्तनियाँ चल पड़ी। स्पष्ट है कि यह बदलाव एक ही पीढ़ी के जीवनकाल में हुआ। कल और परिवर्तन होंगे, होते रहेंगे।

अपवाद रूप में संस्कृत ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसे पाणिनि के व्याकरण ने इतना स्थिर कर दिया है कि शताब्दियों की यात्रा में भी उसमें कोई बहुत उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ भाषावैज्ञानिकों का मत है कि संस्कृत एक मृत भाषा है। अतः वह एक रूढ़िबद्ध ढाँचे में बँधकर रह गयी है। परंतु ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। संस्कृत आज भी जीवित है। वह हमारे जन जीवन में बहुत गहरे तक पैठ चुकी है।

4. मानवीय भाषा में कतिपय ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो अन्य प्राणियों की भाषा में नहीं मिलती। पाश्चात्य भाषा शास्त्री 'हॉकेट' ने सात विशेषताओं का उल्लेख किया है। वे हैं—
1. द्वैतता अर्थात् किसी भाषा में दो तत्व अवश्य होते हैं। पहला है सार्थक ध्वनि—अंश, जिसे स्वनिम नाम से जानते हैं तथा दूसरा है—सूपिम।
 2. उत्पादकता मुनष्य की भाषा में यह विशेषता होती है कि वह वक्ता तथा श्रोता के मध्य बोधगम्यता को उत्पन्न करती है।
 3. पादृच्छिकता भाषा के किसी तत्व और अर्थ में को चिरस्थायी संबंध नहीं होता। सभी भाषिक तत्वों के अर्थ प्रयोक्ता द्वारा स्वैच्छिक रखे होते हैं, जो वस्तुतः संकेतजन्य होते हैं।
 4. प्रेषण एवं ग्रहण में परस्पर परिवर्तनशीलता की क्षमता का होना— भाषा का उपयोग करने वाला कोई भी व्यक्ति अपने भाव या विचार को प्रेषित कर सकता है तथा ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार कथन एवं श्रवण के द्वारा आदान—प्रदान की प्रक्रिया में परिवर्तन क्षमता रहती है।
 5. संरचना गत विशेषता का होना प्रत्येक मानव समुदाय की भाषा में उसकी विशिष्ट संरचना होती है, जिसके अनुसार ही विचार विनिमय में सरलता आती है।
 6. मूर्त—अमूर्त की स्थिति मानव—भाषा में मूर्त—अमूर्त सभी प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है अर्थात् भाषा स्थूल वस्तुओं का ही नहीं अपितु अमूर्त भावों—विचारों से संबंधित अर्थ को भी व्यक्त करती है।

NOTES

7. सांस्कृतिक संक्रमण मानव-भाषा पैतृक परंपरा से नहीं अपितु शिक्षा के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सवमित होती है। इसे अनुकरण की क्रिया सम्पन्न करती है।

5. प्रतीक विशेष प्रकार के संकेत हैं। कुछ घटनाएं या पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके द्वारा अन्य घटनाओं तथा पदार्थों का निर्देशन होता है। अर्थात् एक विशिष्ट घटना या वस्तु को देखकर हमारा ध्यान किसी अन्य घटना या वस्तु की ओर आकृष्ट हो जाता है। इनका सम्बन्ध स्वाभाविक तथा कारणात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। इनका सम्बन्ध मानव निर्मित हो सकता है या कोई सम्बन्ध रूढ़ होकर प्रतीकात्मक बन जाता है। कम्पन ज्वर का संकेत है जो स्वाभाविक सम्बन्ध पर आधारित है। मानचित्र पर रेल, सड़क, स्कूल आदि प्रतीकों के द्वारा ही प्रदर्शित किए जाते हैं। इसी तरह चौराहे पर लगी हुई लाल, हरी बत्तियां रुकने तथा जाने की संकेतक होती हैं। भाषाओं को 'प्रतीक व्यवस्थाओं की समावेशक' माना गया है क्योंकि वे इस तरह के रूढ़ संकेतों तथा प्रतीकों में उल्लेखनीय अन्तर होता है। भाषा की प्रतीक व्यवस्था विशुद्ध या यादृच्छिक रूढ़ि पर आधारित होती है। जबकि मानचित्र पर अंकित संकेत रूढ़ शैली के द्वारा उन वस्तुओं का बोध कराते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि संकेत तथा संकेतक वस्तु में परस्पर सुनिश्चित सम्बन्ध होता है। भाषा में प्रयुक्त शब्द-प्रतीकों का सम्बन्ध उनके द्वारा संकेतिक वस्तु-विशेष के साथ नहीं होता है। प्रायः सभी भाषाओं में पाये जाने वाले अनुरणात्मक या ध्वनि अनुकरणात्मक शब्दों का सम्बन्ध वस्तु विशेष के साथ कुछ निश्चित सीमा तक पाया जाता है जैसे बिल्ली की बोली के लिए प्रयुक्त शब्द प्रतीक म्याऊँ, चिड़िया की बोली के लिए चीं चीं आदि। आर.एच. राविन्स ने कहा है कि 'अम्प से अन्त होने वाले अंग्रेजी भाषा के अनेक शब्द जैसे थम्प, क्लम्प, स्टम्प, डम्प आदि गुरुता, स्थूलता एवं मन्दता के साथ साहचर्य प्रकट करते हैं।'

अभ्यास-प्रश्न

1. भाषा की उपयुक्त परिभाषा देते हुए उसकी विवेचना कीजिए।
2. भाषा के अभिलक्षणों का वर्णन कीजिए।
3. भाषा-व्यवस्था से आप क्या समझते हैं! समझाकर लिखिए।
4. भाषा-व्यवहार पर एक निबंध लिखिए।
5. भाषा प्रकार्य पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

अध्याय-2

भाषा-विज्ञान : अर्थ, स्वरूप एवं अध्ययन क्षेत्र

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- परिचय
- भाषा विज्ञान का स्वरूप
- भाषाविज्ञान की वैज्ञानिकता
- भाषाविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र
- भाषाविज्ञान की व्याप्ति
- भाषाविज्ञान के अध्ययन की दिशाएँ
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई के तहत सम्मिलित किए गए विषय-वस्तु के माध्यम से अध्येता छात्र को निम्नलिखित जानकारी दी जाने का उद्देश्य निहित है।

NOTES

1. भाषाविज्ञान के स्वरूप को उद्घाटित किया जाना।
2. भाषाविज्ञान की व्याप्ति पर प्रकाश डालना।
3. भाषाविज्ञान के अध्ययन की दिशाओं पर विवेचनात्मक जानकारी प्रस्तुत करना।

परिचय

भाषाविज्ञान मानव समुदाय द्वारा व्यवहृत किसी भी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह सर्वविदित है कि भाषा-व्यवहार सामाजिक व्यवहार का एक अभिन्न एवं अनिवार्य कारक है। यद्यपि भाषाविज्ञान में मानव की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन होता है तथापि यह परम सिद्ध है कि संसार में कोई प्राणी भाषाविहीन नहीं होता। इस प्रकार भाषा की महत्ता सर्वसिद्ध है। भाषाविज्ञान में भाषा के विविध पक्षों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत होता है।

भाषा विज्ञान का स्वरूप

आधुनिक युग विशेषज्ञता का है। आज मानव-ज्ञान की प्रत्येक शाखा-प्रशाखा का सूक्ष्म एवं गहरा अध्ययन हो रहा है। मनुष्य के व्यक्तिगत दैनिक जीवन में ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन में भी भाषा का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। इस महत्त्व के परिणाम स्वरूप ही 19 वीं शताब्दि में, भाषाविज्ञान अध्ययन का एक अलग विषय बन गया और यूरोप के अनेक विद्वान् इसके गंभीर अध्ययन में प्रवृत्त हुए। यूं तो, प्राचीन भारत में भी वाक् वाणी, भाषा, लिपि, व्याकरण आदि के संदर्भ में भाषाविषयक विवेचन हुआ मिलता है किंतु यह एक निर्विवाद सत्य है कि एक स्वतंत्र विषय के रूप में, इसका उद्भव और विकास पाश्चात्य देशों में ही हुआ है तथा गत दो-तीन शताब्दियों में, उन्हीं के प्रभाव स्वरूप, इसका भारत में आगमन हुआ है।

अंग्रेजी में इस विज्ञान के कई नाम—‘फिलॉलोजी’, ‘सायंस आव लैंग्वेज’ ‘कम्पैरेटिव फिलॉलोजी’—प्रचलित हैं। फ्रान्स में इसे लोग ‘लिग्विस्टिक’ तथा जर्मनी में ‘स्पाख विशेन शैट’ नाम से अभिहित करते हैं।

इस देश में अंग्रेजी के प्रचार एवं प्रसार के कारण ज्ञान-विज्ञान संबंधी अनेक विषयों का नामकरण भी अंग्रेजी के आधार पर ही हुआ है। हिंदी में आज इस विज्ञान के लिए ‘भाषाविज्ञान’, ‘भाषाशास्त्र’, ‘तुलनात्मक भाषा विज्ञान’ नाम तो स्पष्ट रूप से ‘सायंस आव लैंग्वेज’ का अनुवाद है।

ग्रीक में ही भाषाविज्ञान को (Logology) भी कहा जाता था। तो जर्मनी में भी सैकड़ों वर्षों तक इसको Sprach wissenschaft कहा जाता रहा। मैक्समूलर ने इसको "Science of language" कहा तो श्री टी. जी. टकर ने (अपनी पुस्तक Introduction to Natural history of Language esa ½ Science of Tongue (जिह्वाविज्ञान) अथवा Glottology जैसी संज्ञायें प्रदान की। श्री प्रीचर्ड भी इस मत के थे। निश्चयता श्री टकर ने इस नाम को सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध किया था, लेकिन “यह एक रहस्य है कि विद्वान इस नाम को नहीं अपना सके।” श्री डेबीज ने इसी को ग्लासौलौजी (Glossology) कहा। इसी प्रकार व्याकरण के अंतर्गत और तुलनात्मक अध्ययन प्रधानता के कारण, कभी-कभी इसको तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar) तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative Philology), तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान (Comparative and historical Linguistics) आदि भी कहा गया, यद्यपि यह जानकर कि प्रत्येक शास्त्रीय अध्ययन तुलनात्मक और ऐतिहासिक होता है, यह व्यर्थ की पूँछ हटा दी गयी। अन्य नाम भी विशेष प्रचलित नहीं हो पाये। आज तो पाश्चात्य जगत में भाषाविज्ञान के लिये सर्वव्यापी, सर्वप्रचलित और सर्वमान्य शब्द Philology और Linguistics ही हैं जो प्रायः समानार्थी रूप धारण किये हुए हैं।

भारत वर्ष में, प्राचीन काल में, भाषाविज्ञान को निर्वचनशास्त्र, शब्दानुशासन, शब्दशास्त्र, वाक्ज्ञानादि संज्ञाएँ दी गयी थीं जो आज अब्यवहारिक हो चुकी हैं। हिंदी जगत के संदर्भ में देखें तो डॉ. उदयनारायण तिवारी के शब्दों में “आज हिंदी में फिलालॉजी तथा लिग्विस्टिक्स के लिए पृथक् शब्दों

की आवश्यकता है।अमेरिकी भाषाशास्त्रियों के दृष्टिकोण के आधार पर ही हिंदी में भी क्रमशः भाषाविज्ञान (फिलालॉजी) तथा भाषाविज्ञान (लिंग्विस्टिक्स) शब्द व्यवहृत किये जाने लगे हैं " निश्चयतः इनमें सर्वाधिक प्रचलित और मान्य प्रथम शब्द अर्थात् भाषा विज्ञान ही है। आगे वे कहते हैं—

वस्तुतः भारतवर्ष में शास्त्र का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में होता रहा है। भाषा-विज्ञान नाम आधुनिक है। शास्त्र के अंतर्गत विज्ञान के परिप्रेक्ष्य भी आते रहे हैं, लेकिन प्रभाव क्षेत्र की दृष्टि से अब यह सीमित हो गया है। शास्त्र के साथ स्थिरता का भाव जुड़ गया है, जबकि विज्ञान में गत्यात्मकता का बोध होता है। इसलिये विज्ञान नाम उपयुक्त है।"

व्युत्पत्ति और रूप की दृष्टि से, 'भाषाविज्ञान' शब्द एक समासयुक्त और अन्वर्थ संज्ञा है जो 'भाषा' और 'विज्ञान' दो शब्दों से निर्मित है। इसका सामान्य अभिधाय है—भाषा का विज्ञान। "व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखें तो 'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भास' धातु जिसका अर्थ व्यक्त वाक 'व्यक्तायां वाचि' अर्थात् प्रकट की गयी, कही गयी या उच्चरित की गयी वाणी है तथा 'विज्ञान' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु में 'ल्युट' (अन्) प्रत्यय लगाने पर बनता है" जिसका अभिधाय है—'विशेष ज्ञान'। अर्थ की दृष्टि से इसका सर्वोत्तम पर्यायी पाश्चात्य शब्द—'फिलालॉजी' (Philology) है जो स्वयं दो ग्रीक शब्दों चैपस स्वहवे से निर्मित शब्द है तथा जिसमें चैपस 'शब्द' (World) का अर्थ द्योतक है तो स्वहवे या इससे बना स्वहल शब्द विज्ञान (Science) का अर्थद्योतक है। दृष्टव्य बता यह भी है कि भाषाविज्ञान (Philology) नामक विषय का उद्भव भी ग्रीक में ही हुआ माना जाता है। सारांश में, कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान वह विषय (शास्त्र या विज्ञान) है जिसमें भाषाविषयक विभिन्न पक्षों का अध्ययन व्यवस्थित अथवा वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है।

संभवतः इसी आधार पर प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कहा है—"भाषाविज्ञान का सीधा सा अर्थ है—भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है, विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषाविज्ञान कहलाएगा।"

यहाँ यह बात स्पष्टतया समझ लेनी चाहिए कि जहाँ तक इस विज्ञान से संबंध है, हिंदी में 'विज्ञान' एवं 'शास्त्र', दोनों, शब्द पर्याय रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार 'भाषाविज्ञान' तथा 'भाषाशास्त्र' एवं 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' और 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' में कोई अंतर नहीं है। ठीक इसी पर्याय रूप में, किसी समय में, यूरोप में, 'फिलॉलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक' शब्द भी लिए गये थे। इनमें 'फिलॉलोजी' का व्यवहार, विशेषरूप से इंग्लैंड के भाषाविद करते थे। चूंकि भाषा एक व्यवस्था है और प्रत्येक व्यवस्था का व्यवस्थित क्रम में विश्लेषण विज्ञान का विषय है। अतः भाषाविज्ञान नाम अधिक उपयुक्त है और प्रायः सर्वस्वीकार्य भी।

भाषाविज्ञान अपने वर्तमान स्वरूप में एक आधुनिक ज्ञानशाखा है, जिसका जन्म अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दर्शकों में हुआ। इसके जनक सर विलियम जोन्स को माना जा सकता है। उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्यों के सामने एक निबन्ध प्रस्तुत किया, जिसमें संस्कृत, ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं में पाये गये साम्य के आधार पर यह मत व्यक्त किया गयाथा कि भारत और योरोप की भाषाएं एक ही स्रोत से विकसित हुई हैं। इस विचार ने विद्वानों में हलचल मचा दी। भारत और योरोप की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का सिलसिला शुरू हुआ। यही भाषाविज्ञान का प्रारम्भ बिन्दु था।

प्राचीनकाल में पाश्चात्य देशों में भाषाविज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में उतना गहन अध्ययन नहीं हुआ, जितना भारत में। यूनान में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू और डायोनिमस थ्रैक्स आदि के कई भाषावैज्ञानिक विषयों का गम्भीर विवेचन किया है जिनमें सुकरात की शब्द और अर्थ के अन्तःसम्बन्ध की स्थापना, प्लेटो का ध्वनियों का वर्गीकरण तथा अरस्तू का पदविचार उल्लेखनीय है।

किन्तु इस क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय कार्य थ्रैक्स का है। थ्रैक्स प्रथम योरोपीय व्याकरणकार हैं, जिन्होंने स्वरों और व्यंजनों का दो टूक अन्तर बताते हुए स्वरों को स्वतन्त्र रूप से उच्चरित ध्वनि और व्यंजनों को स्वराश्रित ध्वनि बताया। इसके बाद योरोप में अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कोई उल्लेखनीय व्याकरणकार नहीं हुआ।

NOTES

आधुनिक भाषाविज्ञान के क्रमबद्ध अध्ययन की शुरुआत, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सर विलियम जोन्स से होती है। वे कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रमुख जज थे। उन्होंने संस्कृत सीखी और कलकत्ते में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर भारत, योरोप और ईरान की प्राचीन भाषाओं के एक स्रोत से उत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त की और तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। कोलबुक, श्लेगल ब्रदर्स, हम्बोलडट, रैस्क, ग्रिम और बॉप ने उनके काम को आगे बढ़ाया और तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में काफी काम किया। इन भाषावैज्ञानिकों में रैजमस रैस्क और याकोब ग्रिम का ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन विशेष ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसे 'ग्रिम नियम' के नाम से जाना जाता है। फ्रांज़ बॉप ने भी ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन किया, जो स्वरों की तुलना को लेकर था। उन्नीसवीं शताब्दी में भाषावैज्ञानिक अध्ययन में और गहराई आयी। इस काल के भाषाविदों में फ़ैडरिक मैक्समूलर और विलियम हिवटनी विशेष उल्लेख के हकदार हैं। मैक्समूलर भारतीय वाङ्मय को संसार के सामने प्रतिष्ठित करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में अग्रणी माने जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ग्रासमैन, वर्नर, अस्कोली और येस्पर्सन ने भी भारतीय और योरोपीय भाषाओं की ध्वनियों के तुलनात्मक अध्ययन में कुछ नये पृष्ठ जोड़े। ग्रासमैन का ध्वनि नियम, जो ग्रिम नियम के अपवादों का वैज्ञानिक निराकरण करता है, इस अध्ययन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

बीसवीं शताब्दी में भाषाविज्ञान के अध्ययन में एक नया मोड़ आया। इससे पूर्व विद्वानों का ध्यान विशेषकर ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन पर केन्द्रित था। फर्दिनां द सस्यूर ने भाषिक अध्ययन को वर्णनात्मक और एककालिक स्वरूप प्रदान किया। 1928 में हेग में अन्तर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान परिषद का प्रथम अधिवेशन हुआ और एककालिक अध्ययन के सिद्धान्त को विश्व स्तर पर स्वीकार किया गया। इसके फलस्वरूप विभिन्न देशों में भाषाविज्ञान के चार केन्द्र स्थापित हुए, जिन्हें लन्दन स्कूल, अमेरिकन स्कूल, प्राग स्कूल और कोपनहैगन स्कूल के नाम से जाना जाता है।

लन्दन स्कूल के विद्वानों में डेनियल जोन्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने मान स्वरों के निर्धारण में नायक की भूमिका निभायी। इस स्कूल का अध्ययन क्षेत्र प्रमुख रूप से ध्वनिविज्ञान रहा। अमेरिकन स्कूल ने भाषाविज्ञान के सभी क्षेत्रों में काम किया और स्वनिम और रूपिम की संकल्पनाएँ विश्व के भाषावैज्ञानिकों के सामने रखीं। इस स्कूल ने वाक्यविज्ञान, लिपिविज्ञान और भाषाभूगोल के अध्ययन को भी गहराई प्रदान की। इस स्कूल के प्रमुख आचार्य ब्लूमफील्ड हैं, जिनका ग्रन्थ 'लैंग्वेज' भाषाविज्ञान की 'बाइबल' कहलाती है। इस स्कूल ने विश्व को ब्लाक-ट्रेगर, हैरिस, हॉकेट और ग्लिसन जैसे भाषावैज्ञानिक दिये हैं। प्राग स्कूल ने स्वराघात, बलाघात, संगम आदि विषयों पर कार्य किया। जैकबसन, हैले और फांट इसके प्रमुख आचार्य हैं। कोपनहैगन स्कूल का क्षेत्र ग्लोसीमेटिक्स माना जाता है। यह एक जटिल विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध 'ग्लोसीम' से है, जो ध्वनि की 'स्वनिम' जैसी एक इकाई है।

बीसवीं शताब्दी के भाषावैज्ञानिकों में सस्यूर, सपीर, बोआज, फर्थ और चोम्स्की के नाम विशेष सम्मान के साथ लिये जाते हैं। फर्दिनां द सस्यूर जेनेवा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे। उन्होंने भाषाविज्ञान के विभिन्न विषयों पर कुछ भाषण दिये जो बाद में कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुए हैं। सस्यूर ने पहले पहल भाषा को सामाजिक वस्तु बताया और समाजभाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इसके पश्चात् सपीर ने भाषा को मानव चेतना के साथ जोड़ा और कहा कि भाषा वस्तुतः 'चेतना' की वस्तु है, केवल ध्वनियों का समुच्चय नहीं।

बोआज ने भी भाषा के सामाजिक पक्ष की वकालत की। उनका मानना है कि भाषा केवल सम्प्रेषण का माध्यम नहीं है, अपितु किसी जाति या समाज की सम्पूर्ण संस्कृति की वाहिका होती है। फर्थ भी आधुनिक भाषाविज्ञान के आधार स्तम्भों में माने जाते हैं। मात्रा, आघात, विराम और लहजा आदि स्वनगुणों की अर्थभेदकता का सिद्धान्त उकनी अमूल्य देन है। इसी प्रकार भाषाविज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में चेम्स्की का प्रदेय भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे रूपान्तर प्रजनक व्याकरण के जन्मदाता हैं।

इन भाषावैज्ञानिकों के सिवाय इस क्षेत्र में फिशमेन, डेलहाइम्स, गम्पर्ज, फर्म्यूसन और लेबॉव के कार्य को भी कम नहीं आंका जा सकता। इन्होंने भाषा के अध्ययन को सामाजिक सन्दर्भों के साथ जोड़कर भाषा को देखने की एक नयी दृष्टि प्रदान की है। इनके अतिरिक्त भारत की भाषाओं के अध्येता जार्ज

ग्रियर्सन, ट्रम्प, बीम्स, कैलॉग, वेबर, लासेन, पिशेल, टेसीटरी, स्टीवेन्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों का योगदान भी भाषिक अध्ययन के क्षेत्र में अविस्मरणीय है।

किन्तु आधुनिक युग में पाश्चात्य विद्वानों ने भाषाविज्ञान के अध्ययन को जो गहराई प्रदान की है, उससे कहीं अधिक गहराई प्राचीन भारतीय चिन्तकों की कृतियों में मौजूद है। यों तो प्राचीन भारत में 'भाषाविज्ञान' नाम से किसी ज्ञानशाखा का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु शिक्षा, निरुक्त और निघण्टु के नाम से ध्वनिविज्ञान, व्युत्पत्तिविज्ञान और कोशविज्ञान का जो सूक्ष्म विश्लेषण वैदिक साहित्य में मिलता है, वह सचमुच अद्भुत है।... और संस्कृत व्याकरण का क्षेत्र तो इतना व्यापक है कि वह सहज ही स्वन, स्वनिम, रूप, रूपिम, वाक्यविन्यास, शब्दनिर्माण आदि सारे भाषिक अध्ययन को अपने में समेट लेता है। हमारे यहां ज्ञान का आदि उत्स वेद माने जाते हैं। चार संहिताएं, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तथा छह वेदांग वैदिक साहित्य के तीन प्रमुख सोपान हैं। वेदांगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष की गणना होती है। इनमें से शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त भाषाविज्ञान के विषय हैं।

शिक्षा का सम्बन्ध उच्चारण शास्त्र से है, जिसे हम ध्वनिविज्ञान का वैदिक रूप कह सकते हैं। शिक्षा का लक्षण बताते हुए सायणाचार्य ने कहा है— "वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।" अर्थात् शिक्षा सह शास्त्र है, जिसमें वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण की शिक्षा दी जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि शिक्षाशास्त्र में स्थान, प्रयत्न, मात्रा आदि का इतना सूक्ष्म विवेचन हुआ है कि यन्त्रों और उपकरणों से सम्पन्न आधुनिक भाषाविज्ञान भी उसकी मान्यताओं को चुनौती नहीं दे सकता। अनुमान है कि शिक्षाग्रन्थों की संख्या काफी बड़ी थी, जिनमें अब केवल पाणिनीय शिक्षा ही उपलब्ध है।

प्रातिशाख्य भी उच्चारण सम्बन्धी ग्रन्थ थे। वेदों की 1130 शाखाएं बतायी जाती हैं। इन शाखाओं के उच्चारण में स्थानगत और प्रदेशगत अन्तर था। प्रातिशाख्यों में इसी उच्चारण भेद का निरूपण हुआ है। इन प्रातिशाख्यों को व्यावहारिक ध्वनिशास्त्र और भाषाभूगोल का प्राचीन रूप माना जा सकता है। निरुक्त भी भाषाविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। निरुक्तों की सही-सही संख्या ज्ञात नहीं है, परन्तु इस शृंखला की एकमात्र उपलब्ध रचना यास्क के निरुक्त से कई पूर्ववर्ती निरुक्तकारों का संकेत मिलता है। इस ग्रन्थ में शब्दों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठाये गए हैं, जैसे शब्दों का मूल स्रोत क्या है? क्या सभी शब्दों की व्युत्पत्ति को धातुओं से जोड़ा जा सकता है? क्या धातुओं से व्युत्पन्न और अन्य शब्दों के स्वरूप में कोई मूलभूत अन्तर है? क्या सभी शब्दों की व्युत्पत्ति जान पाना सम्भव है? आदि। इन प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास भी 'निरुक्त' में विद्यमान हैं।

यास्क के निरुक्त को रूपिम की संकल्पना का भी आदि स्रोत माना जा सकता है। यास्क ने दो प्रकार के शब्द बताए हैं, सखण्ड और अखण्ड। उनके अनुसार सखण्ड वे शब्द हैं जिन्हें लघुतम सार्थक खण्डों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे गुरुत्व, नैपुण्य आदि। निरुक्त का ही उत्तरवर्ती भाग निघण्टु है। यह वैदिक शब्दकोश है, जिसमें वैदिक शब्दों के पर्याय दिए गए हैं।

ज्ञान-विज्ञान की प्राचीन शाखाओं में व्याकरण का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। भारत में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में वैयाकरणों की लम्बी परम्परा रही है, जिनमें पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, भट्टोजिदीक्षित, भर्तृहरि वररुचि हेमचन्द्र, सूरि और मार्कण्डेय के नाम विशेष सम्मान के साथ लिए जाते हैं।

पाणिनि संस्कृत व्याकरण के महर्षि हैं। उनकी 'अष्टाध्यायी' सूत्र शैली में लिखा गया ऐसा परिपूर्ण ग्रन्थ है, जो ध्वनि, पद, कृदन्त, तद्धित, सन्धि, समास और लिगानुशासन आदि सभी विषयों का विवेचन करता है। उनकी सबसे बड़ी देन शब्दनिर्माण प्रक्रिया है, जिसके सहारे भारतीय भाषाएँ हजारों वर्षों से अपनी शब्दसम्पदा को समृद्ध बनाती आयी हैं। कात्यायन संस्कृत व्याकरण में वार्तिककार के नाम से जाने जाते हैं। उन्होंने लगभग 1500 वार्षिक लिखे, जो कहीं पाणिनि के सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हैं, तो कहीं छूटी हुई बात को पूरा करते हैं। पतंजलि सूत्रों के भाष्यकार हैं। उनका ग्रन्थ 'महाभाष्य' व्याकरण का प्रौढ़ ग्रन्थ है।

NOTES

भट्टोजिदीक्षित ने संस्कृत व्याकरण के सिद्धान्तों को सरल शैली में प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों को विषय के अनुसार वैज्ञानिक क्रम दिया है। सूत्रों को स्पष्ट किया है और यथास्थान नियमों के उदाहरण दिये हैं। उनकी 'सिद्धान्तकौमुदी' संस्कृत व्याकरण का प्रवेश द्वार है। भर्तृहरि मौलिक व्याकरणकारों में अग्रणी हैं। उनका 'वाक्यपदीय' पदों और वाक्यों के आपेक्षिक महत्व की मीमांसा करता है। वे वाक्य को भाषा की एकमात्र सार्थक इकाई मानते हैं। जिस वाक्यवाद को आधुनिक विद्वान भाषा-चिन्तन की महान् उपलब्धि मानते हैं, उसका प्रतिपादन बरसों पहले 'वाक्यपदीय' में सम्पूर्णता के साथ विद्यमान है।

वररुचि, हेमचन्द्र सूरि, मार्कण्डेय और पुरुषोत्तम प्राकृत के व्याकरणकार हैं। वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' हेमचन्द्र सूरि का 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन', मार्कण्डेय का 'प्राकृतसर्वस्व' और पुरुषोत्तम का 'प्राकृतानुशासन' मध्ययुगीन भाषाओं के स्तम्भ ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों से प्राकृतों के स्वरूपों को समझने में तो सहायता मिलती ही है, उनके क्षेत्रीय भेदों और उपभेदों की प्रामाणिक जानकारी भी प्राप्त होती है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाविज्ञान एक व्यापक और गम्भीर विषय है, जिसे वर्तमान स्वरूप तक पहुँचने में सैकड़ों साल लगे हैं और पाणिनि, पतंजलि और श्रेक्स से लेकर ब्लूमफील्ड, चोम्स्की, किशोरीदास बाजपेयी और भोलानाथ तिवारी तक सैकड़ों मनीषियों ने इसे अपने ज्ञान और चिन्तन से समृद्ध बनाया है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'भाषाविज्ञान' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। ध्वनिविज्ञान के लिए 'शिक्षा', व्युत्पत्तिविज्ञान के लिए 'निरुक्ति' और शब्द या पदविज्ञान के लिए 'व्याकरण' शब्दों का प्रयोग होता है। संस्कृत व्याकरण का क्षेत्र काफी व्यापक है और वह अपनी परिधि में भाषिक अध्ययन के प्रायः सभी विषयों को समेट लेता है। परन्तु संस्कृत वाङ्मय में व्याकरण के लिए 'शब्दानुशासन', 'शब्दशास्त्र', 'निर्वचनशास्त्र' आदि कई नामों का उल्लेख मिलता है। अतः पारिभाषिक अर्थ में इनमें से कोई भाषाविज्ञान नाम का विकल्प नहीं बन सकता। एक तो वे शास्त्र शब्द या पद के निरूपण तक सीमित हैं और दूसरे भाषाविज्ञान और व्याकरण की प्रकृति में भी भारी अन्तर है। व्याकरण जहाँ किसी भाषा के नियमों का विधान मात्र करता है, वहाँ भाषाविज्ञान उनके इतिहास की छानबीन करता है और भाषिक सिद्धान्तों के विश्लेषण की जिम्मेदारी निभाता है।

आधुनिक काल में हिन्दी के भाषाविदों ने भी इसे 'भाषाशास्त्र', 'भाषालोचन' और 'भाषिकी' आदि कई नामों से अनिहित किया है। परन्तु इनमें से कई नाम लोकप्रिय नहीं हो पाया। यों तो 'भाषाविज्ञान' नाम भी सर्वथा निर्दोष नहीं है और भाषा के अध्ययन को रसायनविज्ञान और भौतिक विज्ञान जैसे शुद्ध विज्ञानों की पंक्ति में बैठा देता है, जबकि भाषिक नियम उतने ठोस और निरपवाद नहीं होते। फिर भी 'भाषाविज्ञान' नाम इस ज्ञान शाखा की प्रकृति के अधिक निकट है।

भाषाविज्ञान भाषा के विभिन्न अवयवों और पहलुओं का विवेचन करने वाली वह विद्याशाखा है जिसमें उसकी संरचना, प्रकृति और विकास की विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया गया है, भाषा-विज्ञान का अध्ययन 'तुलना' से प्रारम्भ हुआ और वह 'इतिहास तथा विकासक्रम' से होता हुआ 'एककालिकता' और 'वर्णनात्मकता' तक पहुँचा। इन दिशाओं ने भाषाविज्ञान की परिभाषाओं को भी प्रभावित किया है। डॉ. भोलानाथ तिवारी लिखते हैं कि, "जिस विज्ञान के अन्तर्गत समकालीन, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक अध्ययन के सहारे भाषा सामान्य की उपत्पत्ति, गठन, प्रकृति और विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो उसे 'भाषाविज्ञान' कहते हैं।

यह अनावश्यक लम्बी परिभाषा है। भाषाविज्ञान का काम ध्वनि, शब्द, पदरचना, वाक्यरचना और अर्थ आदि भाषिक इकाइयों से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन करना है। यदि यह कार्य दो भाषाओं को लेकर किया जाता है तो वह तुलनात्मक अध्ययन कहलाएगा, एक भाषा के विकास के विभिन्न सोपानों को लेकर किया जाता है, तो ऐतिहासिक, एक भाषा के एक काल बिन्दु को लेकर किया जाता है तो समकालीन या एककालिक तथा व्यावहारिक प्रयोजन से किया जाए तो प्रायोगिक कहलाता है। असली बात तो भाषिक नियमों का निर्धारण है। अतः सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि, 'भाषाविज्ञान भाषा के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

भाषाविज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक है। समस्त संसार की विगत और वर्तमान भाषाओं का अध्ययन इसकी परिधि में आ जाता है। एक तरफ तो यह निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर भाषा विशेष का अध्ययन करता है, तो दूसरी ओर विभिन्न भाषाओं के अध्ययन द्वारा कुछ सुनिश्चित नियमों का निर्धारण भी करता है। भाषाविज्ञान के अध्ययन की पहली प्रविधि व्यावहारिक भाषाविज्ञान के दायरे में आती है तो दूसरी सैद्धान्तिक दायरे में।

भाषाविज्ञान की वैज्ञानिकता

भाषाविज्ञान एक पूर्ण विज्ञान है। उसके नियम भौतिक विज्ञान और गणित की तरह निरपवाद हैं। जो अपवाद दिखायी देते हैं, वे केवल आरोपित हैं, अपवादभास हैं। उदाहरण के लिए भाषाविज्ञान कहता है कि “भाषा परम्परागत वस्तु है, उसका निर्माण नहीं किया जा सकता।” एस्पिरेन्तो के जन्म को इस नियम का अपवाद बताया जा सकता है। एस्पिरेन्तो एक कृत्रिम भाषा थी, जिसका निर्माण डॉ. जोमन हॉफ ने किया और 1887 के करीब उसे विश्व भर के भाषाविदों के सामने रखा। वे इसे विश्वभाषा बनाना चाहते थे, ताकि भाषा की दीवारें मानव-मानव के बीच व्यवधान न बनें। उनके इस प्रयास को व्यापक समर्थन मिला। एस्पिरेन्तो में पुस्तकें लिखी गयीं। पत्रिकाएं निकलीं। परन्तु वह जीवित नहीं रह सकीं और आज कुछ ही लोग इसे जानते हैं। कारण स्पष्ट है, भाषा परम्परागत वस्तु है। उसका निर्माण नहीं होता।

ध्वनियों का उच्चारण, ध्वनियों का एक सुनिश्चित दिशा में विकास, पदरचना में सरलता का आग्रह, अर्थपरिवर्तन के सुनिश्चित कारण आदि अनेक बातें हैं, जो भाषाविज्ञान की वैज्ञानिकता प्रमाणित करती हैं। संस्कृत व्याकरण की शुद्धता और अपवादहीनता भी भाषाविज्ञान की वैज्ञानिकता की पुष्टि करती है।

भाषाविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र

भाषा हमारे भावों और विचारों की वाहक है, जिन्हें वह वाक्यों के माध्यम से वहन करती है। वाक्यों के खण्ड ‘पद’ कहलाते हैं और पदों के खण्ड ‘ध्वनि’। अतः ध्वनि, पद तथा वाक्यभाषा के अवयव हैं, जिनसे उसके शरीर की रचना होती है। अर्थ भाषा की आत्मा है। उसके बिना इन अवयवों का कोई अस्तित्व नहीं। भाषाविज्ञान भाषा के इन्हीं घटकों का अध्ययन करता है। अतः भाषाविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान और अर्थविज्ञान का समवेश होता है।

ध्वनिविज्ञान—यह भाषाविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसके अन्तर्गत ध्वनि के स्वरूप, उसकी उच्चारणप्रक्रिया, उसके भेद—उपभेद, बलाघात, स्वराघात, अनुनासिकता आदि का अध्ययन किया जाता है। आज ध्वनिविज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। मानस्वर और स्वनिम विज्ञान के अध्ययन ने उसे बहुत गहराई प्रदान की है। मानस्वरों के माध्यम से किसी की भाषा के स्वरों के सही—सही स्वरूप को जाना जा सकता है। उधर स्वनिम विज्ञान दो भाषाओं की ध्वनियों के साम्य—वैषम्य को जानने—समझने में सहायता करता है।

ध्वनिविज्ञान में ध्वनिपरिवर्तन की विभिन्न स्थितियों का भी अध्ययन किया जाता है। संस्कृत के अग्नि, हस्त, कर्म आदि शब्द किन—किन ध्वनिपरिवर्तनों से होते हुए आग, हाथ और काम बन गये, इसका विश्लेषण करना ध्वनि का विषय है।

पदविज्ञान—शब्दों और पदों का अध्ययन पद विज्ञान के क्षेत्र में आता है। पद के स्वरूप का विवेचन, शब्द, सम्बन्धत्व और पद के अन्तःसम्बन्ध का अध्ययन, संवा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय आदि भेदों का ज्ञान, लिंग, वचन, कारक, पुरुष काल और क्रियार्थ आदि व्याकरणिक कोटियों का परिचय पदविज्ञान के प्रमुख विषय हैं।

पदविज्ञान में शब्दविज्ञान का भी अन्तर्भाव होता है। जिसमें शब्द निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। उपसर्ग, प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से शब्दों की निष्पत्ति शब्दविज्ञान का प्रमुख विषय है। संस्कृत व्याकरण में धातुओं और शब्दों से नये शब्द बनाने के लिए क्रमशः कृत और तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता था। उस प्रक्रिया का अध्ययन करना भी भाषा-विज्ञान के इस अंग का कार्य है।

NOTES

रूपिम की अवधारणा ने पदविज्ञान के अध्ययन को बहुत सूक्ष्मता प्रदान की है। इसमें उपसर्ग, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और परसर्ग जैसी लघुतम भाषिक इकाइयों का पृथक्करण किया जाता है। रूपिम के अध्ययन से किसी भाषा के व्याकरणिक स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है।

वाक्यविज्ञान—वाक्य के स्वरूप और भेदों का अध्ययन वाक्यविज्ञान का विषय है। वाक्य का गठन कुछ पदों के संयोग से होता है, जिन्हें एक विशिष्ट क्रम से रखना जरूरी होता है, इसे 'पदक्रम' कहते हैं। अयोगात्मक भाषाओं में पदक्रम का व्याकरणिक महत्व होता है। वाक्यविज्ञान में प्रमुख रूप से पदक्रम का अध्ययन किया जाता है।

वाक्यविज्ञान के अध्ययन में भी पिछले वर्षों में बहुत गहराई आयी है। भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण और वाक्य का विभाजन इस विज्ञान के अपेक्षाकृत नवीन अध्ययन विषय हैं। वाक्यपरिवर्तन पर भी पिछले दिनों काफी अध्ययन हुआ है।

इसके अतिरिक्त वाक्यविज्ञान में रचना, अर्थ, व्याकरण आदि की दृष्टि से वाक्यों का वर्गीकरण भी किया जाता है।

अर्थविज्ञान—अर्थ भाषा का प्राणतत्व है। ध्वनि, पद और वाक्य की सार्थकता इनकी अर्थवत्ता में निहित है। अर्थविज्ञान में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है, जिसके अन्तर्गत संकेतग्रह के साधक और बाधक कारणों तथा शब्द शक्तियों का समावेश होता है। भाषा एक परिवर्तनशील वस्तु है। उसकी यह प्रकृति सबसे ज्यादा अर्थ को प्रभावित करती है। शब्दों का अर्थ बड़ी तेजी से बदलता है। अर्थविज्ञान में अर्थपरिवर्तन की दिशाओं और अर्थपरिवर्तन के कारणों का भी अध्ययन किया जाता है। कभी शब्द संकुचित अर्थ को छोड़कर विस्तृत अर्थ ग्रहण कर लेता है तो कभी विस्तृत अर्थ को छोड़कर संकुचित। कभी शब्द का अर्थ पूरी तरह बदल जाता है और विश्वास भी नहीं होता कि इस अर्थ के मूल में इतना भिन्न अर्थ समाया हुआ है। उधर लक्षणा, प्रयत्न, लाघव, सादृश्य, अज्ञान, भावुकता, सौजन्य, परिवेश आदि कारण अर्थ को प्रभावित करते हैं, जिनके चलते 'बुद्ध' बुद्ध बन जाते हैं 'असुर' राक्षस।

उपरोक्त के अलावा आधुनिक भाषाविज्ञान में अनेक अध्ययन के क्षेत्र समाहित किए गए हैं, जो भाषाविज्ञान के महत्व को विस्तार देते हैं, जिनमें कोश विज्ञान, व्याकरण, व्युत्पत्तिविज्ञान, भाषाभूगोल, समाजभाषाविज्ञान, शैलीविज्ञान आदि प्रमुख हैं।

भाषाविज्ञान को परिभाषित करने के लिए कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों के विचार इस प्रकार हैं—

1. "भाषाविज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें भाषा मात्र के भिन्न-भिन्न अंगों एवं स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।" ...डॉ. श्यामसुंदर दास
2. "भाषाविज्ञान का अभिप्राय भाषा का विश्लेषण करके उसका दिग्दर्शन करना है।" ...डॉ. बाबूराम सक्सेना
3. "भाषाविज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें भाषा मात्र के भिन्न-भिन्न अंगों का विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं।" ...डॉ. उदय नारायण तिवारी
4. "जिस विज्ञान के अंतर्गत ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि का सम्यक व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धांतों का निर्धारण हो, उसे भाषाविज्ञान कहते हैं।" ...डॉ. भोलानाथ तिवारी
5. "वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में भाषाओं की आंतरिक संरचना का अध्ययन होता है।" ...ग्लीसन
6. जिसमें लिखित भाषा का अध्ययन किया जाता है, उसे फिलालॉजी और जिसमें बोलचाल की भाषा का अध्ययन किया जाता है, उसे लिंग्विस्टिक्स' कहते हैं।" ...एल. ब्लूमफील्ड
7. "भाषाविज्ञान भाषा और भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन है।" ...मेरिओपेई

उपरोक्त सभी परिभाषाओं पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है।

“भाषा या भाषाओं की वैज्ञानिक शैली और विज्ञान-सम्मत दृष्टि से अध्ययन करने वाला शास्त्र या विषय ही भाषाविज्ञान है। निश्चयतः इसमें अध्येय होती है भाषा जिसके अंगों, प्रत्यंगों का अध्ययन एकदम वैज्ञानिक ढंग से वैज्ञानिक दृष्टि से, करते हुए वैज्ञानिक अर्थात् तर्कसम्मत निर्णय-निष्कर्ष स्थापित किये जाते हैं। सारांश में कह सकते हैं कि भाषा अथवा भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विषय ही भाषाविज्ञान है।

भाषा और भाषाविज्ञान के संबंध में बहुत कुछ जानकारी देने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि इसके अध्ययन के क्षेत्र क्या हैं? वस्तुतः किसी भाषा का अध्ययन चार भाषिक तत्त्वों—स्वन, स्वनिम, पद और वाक्य पर आधारित होता है। इसी लिए भाषाविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में स्वन और स्वनिम विज्ञान, रूप रचना विज्ञान, वाक्य विज्ञान एवं अर्थविज्ञान आते हैं।

भाषाविज्ञान की व्याप्ति

मानव अपने जीवन में ज्ञान के विविध रूपों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संपर्कित होता रहता है। जब हम अपनी या अन्य किसी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि भाषाविज्ञान की व्याप्ति केवल भाषा तक ही सीमित नहीं अपितु इसका संबंध कई सामाजिक विज्ञानों से लेकर शुद्ध विज्ञान विषय वस्तुओं से भी है। जिनका परीक्षण निम्नलिखित अनुसार किया जा सकता है।

भाषा विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान –

शरीर विज्ञान और भाषाविज्ञान—भाषा के उत्पादन में ओठ से लेकर फेफड़े तक के शारीरिक अंगों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योगदान रहता है। फेफड़े से निकलती हुई वायु स्वर तंत्री, कंठ, तालु, नासिका विवर आदि से टकराकर ध्वनियों को जन्म देती है। ध्वनियों के वर्गीकरण में शारीरिक अंगों तथा प्राण वायु की स्थिति आदि का ज्ञान आवश्यक होता है। अलग—अलग स्थानों पर अलग—अलग प्रयत्नों से ध्वनि का भेद पैदा होता है। इसकी सही पहचान शरीरविज्ञान से परिचित व्यक्ति को ही हो सकता है। शरीरस्थ वागिन्द्रियों का कार्य मुख्यतया ध्वनि पैदा करना नहीं है किन्तु मनुष्य उनसे यह नया कार्य करवाता है। स्वर के आरोह—अवरोध, दीर्घता—ह्रस्वता आदि का ज्ञान शरीरविज्ञान के द्वारा संभव होता है।

भाषा ध्वनि रूप में वक्ता के मुख से निकलकर श्रोता के कान तक पहुँचती है। श्रवणेन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण कैसे होता है, इसका ज्ञान शरीर-विज्ञान से ही होता है।

भाषाविज्ञान और भौतिकी—

वक्ता के मुख से निकली हुई ध्वनियाँ शून्य से होकर श्रोता के कान तक पहुँचती हैं। ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान पर कैसे पहुँचती है, इस समस्या का निदान प्रस्तुत करती है। भौतिकी। मुक्त आकाश में 'ईथर' के द्वारा ध्वनि तरंगों का संचरण होता है। ध्वनि—गति का सम्यक् अध्ययन भौतिकी का विषय है। भाषाविज्ञान को भाषा के इस कार्य व्यापार की सूक्ष्मता की सूचना भौतिकी के द्वारा ही मिल सकती है।

भाषाविज्ञान और सामाजिक विज्ञान

भाषाविज्ञान और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक क्रिया—कलापों का अध्ययन करता है। सामाजिक क्रिया—कलापों में भाषा का प्रमुख स्थान है। सामाजिक संगठन में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सामाजिक संबंधों और परिवर्तनों का प्रभाव भाषा पर पड़ता है और भाषा इन परिवर्तनों को भी तीव्रतर करती है। यदि यह कहा जाय कि एक भाषासमाज भावात्मक दृष्टि से अधिक समीप रहता है तो अत्युक्ति न होगी। चूँकि भावों की अभिव्यक्ति भाषा में होती है, इसलिए समाज को जोड़ने और तोड़ने दोनों में ही भाषा की सक्रिय भूमिका होती है।

दो भाषा—समाजों के मिलन को भी भाषा के द्वारा विश्लेषित किये जा सकता है। हिंदी में अरबी—फारसी, अंग्रेजी के शब्दों के आगमन से ही यह पता चल जाता है कि मुसलमानों तथा अंग्रेजों से यहाँ का समाज प्रभावित हुआ है। किसी समाज के रीति—रिवाज तथा परंपरा का ज्ञान किये बिना भाषा का अध्ययन संभव नहीं है।

स्व-प्रगति की जाँच करें

भाषाविज्ञान और नृवंश (नृतत्व) शास्त्र –

नृतत्व या नृवंशशास्त्र में मानव को उत्पत्ति और विकास का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य का विकास प्राकृतिक और सांस्कृतिक दो रूपों में होता है। सांस्कृतिक विकास में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदिम मानव से संबंधित भाषा का सम्यक् अध्ययन किये बिना उसकी अभिरूचि, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज और सृजनशीलता का सम्यक् विवेचन नहीं किया जा सकता है। इस कार्य को सुंदर बनाने में भाषाविज्ञान उसकी सहायता करता है। नृवंशशास्त्र भी भाषाविज्ञान के लिए कुछ ऐसी सामग्री देता है जिससे उसकी भाषागत समस्याओं का उचित समाधान मिलता है। प्रजातीय संबंधों, मिश्रणों आदि का भाषा पर कहाँ तक असर पड़ता है इसकी जानकारी नृवंशशास्त्र के सहारे ही मिलती है। इस तरह हम देखते हैं कि भाषाविज्ञान और नृवंशशास्त्र एक-दूसरे के अध्ययन में सहायक सिद्ध होती हैं।

भाषाविज्ञान और भूगोल—

भूगोल में भू-मंडल की आकृति, जलवायु, मानव-आवास, उपज, खनिज, उत्पादन आदि का अध्ययन किया जाता है। भौगोलिक संरचना तथा परिवेश का भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। कुछ भाषा-वैज्ञानिकों का विचार है कि जलवायु का असर मानव की उच्चारण-पद्धति पर भी पड़ता है। शीत प्रदेश के लोगों का मुँह अधिक नहीं फैलता है, इसीलिए उनके द्वारा उच्चरित ध्वनियाँ बहुत स्पष्ट नहीं रहती हैं। अंग्रेजी में बहुत सी ध्वनियों का अनुच्चरित रह जाना जीभ के अत्यधिक तोड़-मरोड़ न कर पाने के कारण है। भाषाओं के सीमा-निर्धारण में भूगोल का ज्ञान काफी सहायता करता है। सीमावर्ती बोलियों में पारस्परिक सम्मिश्रण के कारण उनकी भौगोलिक सीमा निर्धारण भाषाविज्ञान की सहायता से किया जाता है।

भाषा के क्षेत्रीय विस्तार तथा सीमित दायरे के कारण भी भूगोल होता है। किसी छोटे से क्षेत्र में अनेक बोलियों का विकास भू-आकृति से उत्पन्न अवरोधों के कारण होता है। पहाड़ी क्षेत्रों तथा दुर्गम जंगलों क्षेत्रों में अनेक बोलियों का निर्माण पारस्परिक संपर्क के अभाव के कारण होता है। एक ही भाषा-भाषी जाति भिन्न-भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बँटकर नये ढंग से भाषा को विकसित करती है।

भाषाविज्ञान और इतिहास –

इतिहास अतीत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थितियों का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इतिहास की घटनाओं का भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भाषा के स्वरूपतामक परिवर्तन हेतु ऐतिहासिक घटनाएँ पर्याप्त जिम्मेदार होती हैं। राजनीतिक विप्लव, आक्रमण या अन्य कारणों से स्थानान्तरित होने वाली जाति सब दूसरी भाषा जाति के संपर्क में आती हैं तो भाषिक परिवर्तन की गति तेज हो जाती है। आभीर आदि जातियों ने भारत में आकर यहाँ की प्रचलित प्राकृतों को बदलकर अपभ्रंश में ढाल दिया। उनके विचारों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं तथा धार्मिक आस्था से संबंधित बहुत-सी शब्दावली का भाषा में प्रवेश हुआ। भारतीय भाषाओं में विदेशी शब्दों के समावेश का कारण ऐतिहासिक है। इतिहास से ही यह ज्ञात होता है कि सोने की चिड़िया समझा जाने वाला भारत सदैव विदेशियों की धन लोलुपता का शिकार होता रहा है। समय-समय पर उनके आक्रमण होते रहे हैं। कुछ विदेशी जातियों का यहाँ राजनीतिक आधिपत्य भी स्थापित हुआ। इन्हीं कारणों से भाषा में विदेशी तत्वों का समावेश हुआ।

भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान –

भाषा में व्यक्त होने वाले विचार या भाव अमूर्त अवस्था में मन में ही अवस्थित रहते हैं। अमूर्त भावों तथा विचारों का अध्ययन मनोविज्ञान में किया जाता है। वक्ता या श्रोता भाषा प्रयोग के समय विभिन्न प्रकार की अनुक्रिया करते हैं। वक्ता के मन में पहले यह भावना आती है कि श्रोता में किस तरह की अनुक्रिया पैदा करनी है। भावात्मक सम्प्रेषणों में तो मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रत्यक्ष भूमिका रहती है। किसी के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने या घृणा व्यक्त करने के लिए भाषा का चुनाव मन में ही कर लिया जाता है। प्रभावगत तीव्रता भी भाषा प्रयोग पर ही निर्भर करती है। भाषा के अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। एक ही वाक्य अलग-अलग मानसिक स्थिति में अलग-अलग प्रभाव छोड़ता है। किसी वस्तु या व्यक्ति पर नाराज हुए व्यक्ति के आगे जब उस

वस्तु या व्यक्ति का नाम आता है तो क्रोध से उबल उठता है। द्रौपदी के एक ही कटु वाक्य से महाभारत जैसा भयानक युद्ध हो गया। शब्दों का मन पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव कैसे पड़ता है, इसका विवेचन मनोविज्ञान ही कर सकता है। शब्दों में निहित वस्तुओं, भावों तथा विचारों का संप्रत्यय मनुष्य के मस्तिष्क में निर्धारित हो जाता है। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति के आगे उन शब्दों का प्रयोग करता है जिनके अभिप्राय से दोनों परिचित हैं तो उसी तरह का संप्रत्यय श्रोता के मस्तिष्क में उद्बुद्ध हो जाता है। भाषा से वक्ता और श्रोता दोनों मानसिक स्तर पर एक—दूसरे से जुड़ जाते हैं। यदि वक्ता और श्रोता के मानसिक धरातल में बहुत अधिक स्तर—भेद होगा तो दोनों के बीच भाषा का हर तरह का प्रयोग पूरी तरह नहीं समझा जा सकेगा।

भाषाविज्ञान और दर्शन —

भाषाविज्ञान और दर्शन का गहरा संबंध है। भाषा के अर्थ पक्ष पर गंभीर विचारों की परंपरा दर्शन से ही शुरू हुई है। ग्रीस और भारत दोनों स्थानों पर भाषा विवेचन में दार्शनिकों ने रुचि प्रदर्शित की है। प्लेटो, अरस्तू ने भाषा के विषय में जो मत प्रस्तुत किये आगे आने वाले भाषा चिंतन पर उनका प्रभाव बना रहा। भारत में वाणी के जो चार रूप माने गये हैं वे दर्शन से ही संबद्ध हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी आदि भेदों का आधार दर्शन ही है। वैयाकरणों का स्फोटवाद दर्शन पर आधृत है।

भाषाविज्ञान और मानविकी—

भाषाविज्ञान और साहित्य—भाषा का सृजनात्मक रूप ही साहित्य है। इसकी मौखिक तथा लिखित दोनों ही परम्पराएँ मिलती हैं। लिखित परंपरा से प्राप्त साहित्य के माध्यम से भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाता है। जिस भाषा का साहित्य उपलब्ध नहीं होता उसका तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन संभव नहीं होता है। ऋग्वेद की प्रांजल तथा उत्कृष्ट भाषा को देखने से लगता है कि इसके पहले भी भाषा थी किन्तु उसका साहित्य उपलब्ध न होने के कारण उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं हो पाता। संसार की प्रमुख भाषाओं में प्राप्त साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उनकी पारिवारिक एकता का निष्कर्ष निकाला गया।

भाषाविज्ञान के अध्ययन से साहित्य की कतिपय समस्याओं का निदान आसानी से हो जाता है। शब्दों के स्वरूप—परिवर्तन तथा अर्थ—परिवर्तन से संबद्ध अनेक तथ्यों का सकारण विवेचन भाषाविज्ञान में होता है। इससे साहित्य की समझ सुंदर हो जाती है। गार्भिणी और गाभिन, स्थान और थान के अंतर के कारण को भाषाविज्ञान ही निर्दिष्ट करता है। असुर और सुर में अर्थ का पारस्परिक परिवर्तन क्यों और कैसे हो गया इसका उत्तर भाषाविज्ञान देता है। इस तरह हम देखते हैं कि भाषाविज्ञान और साहित्य एक—दूसरे के अध्ययन में पर्याप्त सहायता देते हैं।

भाषाविज्ञान और व्याकरण —

व्याकरण को भाषाविज्ञान की एक शाखा माना जा सकता है। व्याकरण में भाषा का वर्णनात्मक विवेचन होता है। किन्तु भाषाविज्ञान और व्याकरण के वर्णनात्मक विवेचन में उल्लेखनीय भेद परिलक्षित होता है। भाषाविज्ञान किसी भाषा की संपूर्ण संरचनात्मक विशेषताओं को उद्घाटित करता है। व्याकरण के अनुशासन से च्युत प्रयोगों को वैयाकरण असाधु प्रयोग कहकर मुक्त हो जाता है जबकि भाषा—वैज्ञानिक साधु—असाधु सभी प्रयोगों को सकारण विवेचन करने का प्रयास करता है। भाषाविज्ञान का अध्ययन—क्षेत्र व्याकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। व्याकरण की तरह इसमें संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, प्रत्यय जैसे कुछ सीमित तथ्यों का ही विवेचन नहीं होता बल्कि ध्वनि, ध्वनि—प्रक्रिया, ध्वनि—परिवर्तन, वाक्य—रचना, अर्थ आदि का भी विवेचन किया जाता है। भाषाविज्ञान में भाषाओं का सम्यक् अनुशीलन करके नये नियमों का निर्माण किया जाता है और व्याकरण में कुछ निश्चित नियमों की कसौटी पर भाषा का विश्लेषण—विवेचन किया जाता है। व्याकरण की तरह भाषाविज्ञान की पद्धति एककालिक मात्र नहीं है बल्कि कालक्रमिक भी है। इसमें भाषा का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन भी सम्मिलित किया जाता है।

व्याकरण तथा भाषाविज्ञान में घनिष्ठ संबंध होते हुए भी इन दोनों में कतिपय उल्लेखनीय अंतर है। जिन्हें संक्षेप में निम्नलिखित रूप देखा जा सकता है —

NOTES

1. सर्वप्रथम, भाषा-विज्ञान की गणना विज्ञान में होती है, जबकि व्याकरण की कला के अंतर्गत। दोनों की अध्ययन-पद्धतियों में बहुत अधिक अंतर दृष्टिगत होता है। व्याकरण का उद्देश्य केवल किसी विशेष भाषा के व्यावहारिक उपयोग को दृष्टि में रखकर उसके साधुत्व तथा असाधुत्व का विवेचन करना होता है—किसी भाषा के व्याकरण-ज्ञान के लिए किसी दूसरी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत भाषा-विज्ञान की दृष्टि किसी विशेष भाषा के ज्ञान तक सीमित नहीं रहती। इसके अंतर्गत विभिन्न देश, काल, जीवित, मृत, अतीत-वर्तमान आदि सभी भाषाओं का विवेचन किया जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भाषा-विज्ञान का क्षेत्र व्याकरण की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है।
2. व्याकरण किसी भाषा के केवल सिद्धस्वरूप का ही प्रतिपादन करता है, इसके विपरीत भाषा-विज्ञान प्रयोग में आने वाली निर्मित भाषा के साथ-साथ बनती हुई या अर्धविकसित भाषा का भी उसी प्रकार अध्ययन करता है।
3. व्याकरण और भाषाविज्ञान का एक बहुत बड़ा अंतर दोनों की अध्ययन पद्धति में है। व्याकरण की अध्ययन प्रणाली वर्णनात्मक अथवा विवरणात्मक होती है किंतु भाषा विज्ञान की अध्ययन पद्धति व्याख्यात्मक तथा विश्लेषणात्मक होती है। उसमें नियमों तथा परिवर्तनों में कार्य कारण संबंधों को खोजने की चेष्टा रहती है।
4. भाषाविज्ञान भाषा के विकास पर विचार करके भाषाओं के पारिवारिक संबंधों तथा संगठनात्मक विशेषताओं को ध्यान में रखकर उनके तुलनात्मक व्याकरण का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार, भाषाविज्ञान, भाषाओं के विकास और उनके संगठन के लिये उत्तरदायी विभिन्न नियमों का अनुसंधान भी करता है।
5. व्याकरण तथा भाषाविज्ञान का एक अंतर यह भी है कि व्याकरण की दृष्टि औचित्य तथा नियमबद्धता पर अधिक रहती है। यह शुद्ध नियमबद्ध प्रयोगों की ही अपने अध्ययन का विषय बनाता है। इसके विपरीत भाषा-विज्ञान की दृष्टि वास्तविकता और प्रचलित प्रयोगों पर अधिक रहती है। वह लोक में प्रचलित ग्रामीण, अशुद्ध, व्याकरण की दृष्टि से उपयुक्त न माने जाते वाले भाषिक तत्त्वों, को भी उतना ही महत्त्व देता है जितना व्याकरणसम्मत प्रयोगों का।
6. वास्तव में भाषा विज्ञान व्याकरण के लिये अध्ययन सामग्री प्रदान करता है। अतएवं उसको व्याकरण का आधार भी कहा जा सकता है। व्याकरण भाषा-विज्ञान का एक प्रकार से अनुगामी है। इसीलिये भाषा-विज्ञान को व्याकरण का व्याकरण कहा गया है।

भाषाविज्ञान के अध्ययन की दिशाएँ

भाषाशास्त्र के अंतर्गत भाषा का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। भाषा का भी वैज्ञानिक विश्लेषण कई रूपों में किया जा सकता है। आधुनिकतम भाषाशास्त्र के अंतर्गत किसी भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण निम्नलिखित दिशाओं में किया जाता है —

1. वर्णनात्मक
2. समकालिक
3. ऐतिहासिक
4. तुलनात्मक
5. गठनात्मक

इन उपर्युक्त विश्लेषण पद्धतियों को मोटे तौर पर हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. समकालिक
2. ऐतिहासिक

इन दोनों के भेद-प्रभेदों को समझ लेना बहुत आवश्यक है क्योंकि इनको भलीभाँति समझे बिना अनेक अशुद्धियों की संभावनाएँ हैं।

‘समकालिक’ इस शब्द का प्रयोग अन्य सामाजिक शास्त्रों के संदर्भ में भी होता है। नृ-विज्ञान के संदर्भ में तो इसका तात्पर्य किसी विशेष समय के कार्यों अथवा समस्याओं से होता है, किन्तु इतिहास से इसका कोई संपर्क एवं संबंध नहीं होता है।

ऐतिहासिक (Diachronic) शब्द भी समकालिक की ही भांति अन्य शास्त्रों के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है। वहां इसका ‘अर्थ’ समय द्वारा उद्भूत परिवर्तन की समस्याओं का अध्ययन करना होता है।

भाषाशास्त्र के संदर्भ में भाषा का अध्ययन करते समय उसके समकालिक स्वरूप को वर्णनात्मक भाषाशास्त्र या व्याख्यात्मक भाषाशास्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है तथा उसके ऐतिहासिक संदर्भ के अध्ययन को ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के नाम से अभिहित करते हैं। ‘ऐतिहासिक’ भाषाशास्त्र—नामकरण सर्वथा शुद्ध एवं मान्य है क्योंकि कोई भी इतिहास समय से संबंधित परिवर्तनों का वर्णन करता है। किन्तु ‘वर्णनात्मक’ भाषाशास्त्र नामकरण अपेक्षाकृत कम मान्य है क्योंकि परिभाषित: भाषाशास्त्र के समस्त स्वरूप एवं विश्लेषण मूलतः वर्णनात्मक होते हैं। इसीलिए ‘वर्णनात्मक’ नामकरण से भ्रम की अनेक संभावनाएँ हैं। इसके लिए ‘समकालिक भाषाशास्त्र’ नामकरण अधिक उपयुक्त है। इसके संबंध में आगे विचार किया जाएगा।

समकालिक भाषाविज्ञान—

भाषाविज्ञान के इस स्वरूप के अंतर्गत जीवित बोलियों को अध्ययन किया जाता है। इसकी अध्ययन पद्धति पूर्णतया वर्णनात्मक (व्याख्यात्मक) होती है इसीलिये अनेक भाषाशास्त्री वर्णनात्मक को समकालिक के पर्याय के रूप में ग्रहण करने के पक्ष में हैं। भाषाशास्त्र के इस स्वरूप का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के आधार पर भाषा का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन संभव है। वस्तुस्थिति यह है कि जब तक हम किसी भाषा विशेष की विभिन्न अवस्थाओं से परिचित न हो जाये तब तक उसका ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया ही नहीं जा सकता।

आधुनिक युग में ‘वर्णनात्मक भाषाशास्त्र का अध्ययन वस्तुतः 19 वीं शताब्दी से प्रारंभ होता है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ‘भाषा’ की आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण इकाई ‘ध्वनिग्राम’ को मान्यता मिली। अमरीका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड की पुस्तक ‘लैंग्वेज’ (1932) के प्रकाशन से वर्णनात्मक भाषाशास्त्र अपनी यथार्थ विकास की दशा की ओर उन्मुख हुआ। जिसकी परिणति ‘हैरिस’ के महानग्रंथ ‘मेथड्स इन स्ट्रक्चरल लिग्युस्टिक्स’ में वर्णित भाषा-पद्धति में हुई।

पाश्चात्य देशों में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान अपेक्षाकृत बहुत नवीन है। किन्तु भारत वर्ष में इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात पाणिनि काल से ही प्रारंभ हो गया था। महर्षि पाणिनि की विख्यात कृति ‘अष्टाध्यायी’ इस प्रकार के अध्ययन की कालजयी रचना है।

आधुनिक युग में आज भी पाणिनि के समकक्ष का कोई भी विवरणात्मक भाषा—अध्ययन नहीं रखा जा सकता। उन्हीं की पद्धति का अनुसरण आज अमरीका के भाषाशास्त्री कर रहे हैं। महर्षि पाणिनि के अतिरिक्त भाषा के अध्ययन मार्ग को प्रशस्त करने वालों में कात्यायन तथा पंतजलि का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान —

किसी भाषा की विभिन्न अवस्थाओं का जब हम काल क्रमानुसार अध्ययन करते हैं तो अध्ययन का यह स्वरूप ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के अंतर्गत आता है। संसार में एकमात्र सत्य, परिवर्तन है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो कि सर्वदा एक रूपमय रहे। भाषा के विषय में भी कहा जा सकता है। काल क्रमानुसार एक स्थान की भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तन भाषा में निरंतर होता रहता है, भले ही उसको जानना कठिन हो। एक अवधि के पश्चात् यही अंतर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भाषा के इस परिवर्तन को ‘भाषा-विकास’ के नाम से अभिहित किया जाता है। इस विकास अवस्था का वर्णन प्रस्तुत करना ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के अंतर्गत आता है।

वस्तुतः किसी भाषा की ध्वनियों, रूपों, और अन्य भाषिक तत्त्वों का विकासात्मक अध्ययन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के दायरे में आता है। उदाहरण के लिए वैदिक भाषा, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी के भाषिक तत्त्वों का विकासात्मक अध्ययन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की परिधि में आएगा। इसी

NOTES

तुलनात्मक भाषाविज्ञान—

इस भाषाशास्त्र के अंतर्गत दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इसी आधार पर भाषा अध्ययन के इस शास्त्र को 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है। यह अध्ययन समकालिक एवं ऐतिहासिक भाषा सामग्री के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्र के अंतर्गत एक ही समय की कम से कम दो भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, अथवा एक ही भाषा के विभिन्न कालों की सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

वस्तुतः यह भाषाविज्ञान के अध्ययन के सबसे अधिक महत्वपूर्ण पद्धति है। इस पद्धति को इतना अधिक महत्त्व देने का श्रेय फ्रान्सिस बोप को है। उन्होंने भारत-यूरोपीय भाषाओं की तुलना करते हुए, संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, फारसी और जर्मन भाषाओं का विधिवत् तुलनात्मक अध्ययन किया था। तुलनात्मक पद्धति के अंतर्गत विभिन्न भाषाओं का अध्ययन, परस्पर ध्वनि, शब्द-समूह, रूप तथा वाक्य-रचना आदि के आधार पर किया जाता है। दो या अनेक भाषाओं के विभिन्न तत्त्वों के तुलनात्मक अध्ययन से भाषा या भाषाओं की प्रारंभिक अवस्था उसकी आंतरिक तथा पाठ्य गठन से संबंधित सिद्धांतों का निर्वारण किया जाता है। 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का संबंध भाषा के अतीत और वर्तमान के तथ्यों से है। इतिहास प्रस्तुत करता इस प्रकार तुलनात्मक पद्धति द्वारा एक ओर विभिन्न भाषाओं के मध्य साम्य स्थापित होता है, वहीं उनकी विभिन्नता का भी तात्त्विक बोध होता है। विश्व के प्रमुख भाषा-परिवार, ग्रिम-नियम आदि भाषा संबंधी तुलनात्मक अध्ययन की ही महत्वपूर्ण देन है। सच तो यह कि यही पद्धति भाषाविज्ञान का आधारभूत अंग तथा उसके साक्षात् रूप की द्योतक है। भाषाविज्ञान के अध्ययन की इन पद्धतियों के अतिरिक्त संरचनात्मक, वर्णनात्मक एककालिक अध्ययन पद्धतियों पर भी दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा।

संरचनात्मक भाषाविज्ञान—

'संरचनात्मक' शब्द के प्रयोग में भाषाविज्ञान जगत में एकरूपता नहीं है। एक तरफ तो कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि हर भाषा की अपनी विशेष प्रकार की संरचना होती है और हर भाषाविज्ञानी उसी को खोजने का यत्न करता है। इस दृष्टि से किसी भाषा की संरचना पर किसी भी रूप में किया गया कोई भी काम मूलतः संरचनात्मक भाषाविज्ञान का ही काम है, अर्थात् सभी भाषाशास्त्री एक प्रकार के संरचनावादी (स्ट्रक्चरलिस्ट) हैं, और भाषाविज्ञान का कोई भी नया या पुराना काम असंरचनात्मक नहीं है। सस्यूर, येल्लमस्लव, त्रुवेत्स्कॉय, बोआज, सपीर, ब्लूमफील्ड, फेर्थ, याकोव्सन, मार्टिने, पाइक, हैलिडे, लैव, चॉम्स्की आदि सभी प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों को संरचनात्मक भाषाशास्त्री माना गया है। यदि 'संरचना' का मूलार्थ लें तो भाषा के नियम, उसकी नियमितता या उसमें मिलानेवाली अभिरचना (पैटर्न) ही तत्त्वतः उसकी संरचना है और किसी भाषा के विश्लेषण में सभी भाषाशास्त्री किसी-न-किसी रूप में इसी की खोज करते हैं। इस तरह पहली बात अपने स्थान पर ठीक है। किन्तु भाषा-विश्लेषण के विभिन्न सांचों (मॉडल्ज) के विकास के साथ-साथ 'संरचनात्मक भाषाविज्ञान' का एक विशेष सीमित अर्थ में भी प्रयोग होने लगा है, और यह सीमित अर्थ है ब्लूमफील्ड के अनुयायियों का भाषाविज्ञान। तत्त्वतः इन्हीं लोगों ने सबसे पहले 'संरचना' (स्ट्रक्चर) शब्द का भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सबसे ज्यादा प्रयोग किया, जिसके आधार पर उन्हें 'स्ट्रक्चरलिस्ट' (संरचनावादी) कहा जाने लगा।

संरचनात्मक भाषाविज्ञान के मोटे रूप में दो रूप माने जाते हैं। एक अमेरिकी तथा दूसरा यूरोपीय। एक मतानुसार अमेरिकी संरचनात्मक भाषाविज्ञान ध्वनि, रूप, वाक्य के स्तर पर भाषा की संरचना का अलग-अलग अध्ययन करता है तथा इन तीनों को प्रायः अलग-अलग रखता है, तो यूरोपीय भाषाविज्ञान इन स्तरों को एक दूसरे से सुसंबद्ध करके भाषा का एक समग्र चित्र सामने लाने का यत्न करता है।

एककालिक, वर्णनात्मक तथा संरचनात्मक—

सरस्यूर से पहले भाषाविज्ञान मुख्यतः ऐतिहासिक था। सरस्यूर ने ही सर्वप्रथम भाषाविज्ञान के दो रूप बताए : एककालिक तथा कालक्रमिक। एककालिक भाषाविज्ञान का अर्थ है किसी भाषा का काल के किसी एक बिन्दु पर विश्लेषण। प्रश्न उठता है, क्या एककालिक तथा वर्णनात्मक भाषाविज्ञान एक ही है? हाँकिट एक स्थान पर कहते हैं 'कोई भाषा किसी एक काल में कैसे कार्य करती है—इस बात के अध्ययन को वर्णनात्मक या एककालिक भाषाविज्ञान कहते हैं। किन्तु तत्त्वतः दोनों एक नहीं है। उन्होंने स्वयं भी अन्यत्र कहा है, इन दोनों में अंतर है। हाँकिट के अनुसार वर्णनात्मक भाषाविज्ञान भाषा का वर्णन करता है, किन्तु वैयक्तिक, वर्गीय तथा स्थानीय अंतरों की ओर ध्यान नहीं देता। जब कि एककालिक भाषाविज्ञान उन अंतरों के अध्ययन को भी अपने में समेट लेता है। इस प्रकार एककालिक भाषाविज्ञान वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को तो अपने में समाहित कर ही लेता है, कुछ और प्रकार के अध्ययन भी उसमें आ जाते हैं। (1970, पृ. 14)।

इसका स्वरूप ऐतिहासिक और तुलनात्मक होता है, जैसे संस्कृत और हिन्दी की तुलना या प्राकृत और अपभ्रंश की तुलना। स्थानगत परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए दो पड़ोसी भाषाओं की तुलना की जाती है, जैसे—पंजाबी और हिन्दी, या मराठी और हिन्दी या गुजराती और मराठी की तुलना। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान एक ही परिवार की भाषाओं तक सीमित होता है। दो भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन होता है।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान—

इसका क्षेत्र ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान की अपेक्षा सीमित होता है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान न तो किसी भाषा के अतीत में जाता है और न ही उसकी किसी अन्य भाषा से तुलना करता है। यह तो केवल एक भाषा की एक काल बिन्दु की इकाइयों का वर्णन करता है। इसीलिए इसे 'एककालिक' भाषाविज्ञान भी कहते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का जन्म एक आन्दोलन के रूप में हुआ। 19वीं शताब्दी में विलियम जोन्स ने भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाओं की तुलना से भाषाविज्ञान की नींव डाली। उस समय इसे तुलनात्मक व्याकरण या तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहा जाता था। इस अध्ययन में ऐतिहासिकता के तत्व भी सम्मिलित थे, क्योंकि आधुनिक भाषाओं के साथ-साथ प्राचीन भारतीय और योरोपीय भाषाएं भी इस तुलना का आधार बनी थीं। अतः संस्कृत, ग्रीक, लेटिन आदि भाषाओं से लेकर वर्तमान भाषाओं तक के विकास क्रम को भी अध्ययन में सम्मिलित कर लिया गया था। यह क्रम लगभग चालीस-पचास साल तक चला। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय भाषा परिषद ने एककालिक अध्ययन का लक्ष्य स्वीकार किया।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान किसी भाषा की ध्वन्यात्मक और पदात्मक विशेषताओं का आकलन करता है। उसके आकृतिमूलक स्वरूप को रेखांकित करता है तथा वाक्यरचना, शब्दसमूह आदि को लेकर उसका 'वर्णन' करता है। अतः कई भाषाविदों ने इसे व्याकरण का ही एक रूप माना है। यह उचित भी है। यदि हम भाषिक नियमों का एककालिक अध्ययन करते हैं, तो उसमें कार्य-कारण के विश्लेषण की गुंजाइश ही नहीं होती। उदाहरणार्थ यदि हम 'जाना' क्रिया के रूपों की मीमांसा करें तो पाएंगे कि 'जाता है', 'जा रहा है', 'जाता था', 'जा रहा था' और 'जायेगा' के साथ 'गया' का मेल नहीं बैठता। यह रूप 'जाया' होना चाहिए था। यह विषमता क्यों उत्पन्न हुई? इस प्रश्न का उत्तर वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के पास नहीं है।

सार—संक्षेप

भाषाविज्ञान अपने वर्तमान स्वरूप में एक आधुनिक ज्ञान-शाखा है, जिसका प्रादुर्भाव अठारवीं शती के अंतिम दशकों हुआ। इसके जनक कलकत्ता उच्चन्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश सर बिलियम जोन्स माने जाते हैं। प्राचीन काल में पाश्चात्य देशों में भाषाविज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में उतना गहन अध्ययन नहीं हुआ, जितना भारत में। किन्तु आधुनिक भाषाविज्ञान के स्वरूप निर्माण में पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों का प्रमुख योगदान है।

स्व-प्रगति की जाँच करें

वस्तुतः भाषाविज्ञान किसी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से संबंधित है जो इसके नाम से ही ध्वनित होता है। भाषाविज्ञान अर्थात् 'भाषा' का 'विज्ञान'। भाषाविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में प्रमुखतः स्वन-प्रक्रिया, पद या रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान और अर्थविज्ञान आते हैं।

आज भाषाविज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक है, जिसके अध्ययन के मुख्य तीन दिशाएँ— 1. ऐतिहासिक, 2. तुलनात्मक और 3. वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के रूप में जानी जाती हैं।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. व्युत्पत्ति और रूप की दृष्टि से, 'भाषाविज्ञान' शब्द एक समासयुक्त और अन्वर्थ संज्ञा है जो 'भाषा' और 'विज्ञान' दो शब्दों से निर्मित है। इसका सामान्य अभिधाय है—भाषा का विज्ञान। 'व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखें तो 'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भास' धातु जिसका अर्थ व्यक्त वाक्य 'व्यक्तायां वाचि' अर्थात् प्रकट की गयी, कही गयी या उच्चरित की गयी वाणी है तथा 'विज्ञान' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु में 'ल्युट' (अन्) प्रत्यय लगाने पर बनता है' जिसका अभिधाय है—'विशेष ज्ञान'। अर्थ की दृष्टि से इसका सर्वोत्तम पर्यायी पाश्चात्य शब्द—'फिलालॉजी' (Philology) है जो स्वयं दो ग्रीक शब्दों चैपस, स्वहवे से निर्मित शब्द है तथा जिसमें चैपस 'शब्द' (World) का अर्थ द्योतक है तो स्वहवे या इससे बना स्वहल शब्द विज्ञान (Science) का अर्थद्योतक है। दृष्टव्य बता यह भी है कि भाषाविज्ञान (Philology) नामक विषय का उद्भव भी ग्रीक में ही हुआ माना जाता है। सारांश में, कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान वह विषय (शास्त्र या विज्ञान) है जिसमें भाषाविषयक विभिन्न पक्षों का अध्ययन व्यवस्थित अथवा वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है।

संभवतः इसी आधार पर प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कहा है—'भाषाविज्ञान का सीधा सा अर्थ है—भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है, विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषाविज्ञान कहलाएगा।'

2. प्राचीनकाल में पाश्चात्य देशों में भाषाविज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में उतना गहन अध्ययन नहीं हुआ, जितना भारत में। यूनान में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू और डायोनिमस थैक्स आदि के कई भाषावैज्ञानिक विषयों का गम्भीर विवेचन किया है जिनमें सुकरात की शब्द और अर्थ के अन्तःसम्बन्ध की स्थापना, प्लेटो का ध्वनियों का वर्गीकरण तथा अरस्तू का पदविचार उल्लेखनीय है।

किन्तु इस क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय कार्य थैक्स का है। थैक्स प्रथम योरोपीय व्याकरणकार हैं, जिन्होंने स्वरों और व्यंजनों का दो टूक अन्तर बताते हुए स्वरों को स्वतन्त्र रूप से उच्चरित ध्वनि और व्यंजनों को स्वराश्रित ध्वनि बताया। इसके बाद योरोप में अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कोई उल्लेखनीय व्याकरणकार नहीं हुआ।

आधुनिक भाषाविज्ञान के क्रमबद्ध अध्ययन की शुरुआत, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सर विलियम जोन्स से होती है। वे कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रमुख जज थे। उन्होंने संस्कृत सीखी और कलकत्ते में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर भारत, योरोप और ईरान की प्राचीन भाषाओं के एक स्रोत से उत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त की और तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। कोलबुक, श्लेगल ब्रदर्स, हम्बोलडट, रैस्क, ग्रिम और बॉप ने उनके काम को आगे बढ़ाया और तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में काफी काम किया। इन भाषावैज्ञानिकों में रैजमस रैस्क और याकोब ग्रिम का ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन विशेष ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसे 'ग्रिम नियम' के नाम से जाना जाता है। फ्रांज़ बॉप ने भी ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन किया, जो स्वरों की तुलना को लेकर था। उन्नीसवीं शताब्दी में भाषावैज्ञानिक अध्ययन में और गहराई आयी। इस काल के भाषाविदों में फ्रैंडरिक मैक्समूलर और विलियम हिवटनी विशेष उल्लेख के हकदार हैं। मैक्समूलर भारतीय वाङ्मय को संसार के सामने प्रतिष्ठित करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में अग्रणी माने जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ग्रासमैन, वर्नर, अस्कोली और येस्पर्सन ने भी भारतीय और योरोपीय भाषाओं की ध्वनियों के तुलनात्मक

अध्ययन में कुछ नये पृष्ठ जोड़े। ग्रासमैन का ध्वनि नियम, जो ग्रिम नियम के अपवादों का वैज्ञानिक निराकरण करता है, इस अध्ययन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

बीसवीं शताब्दी में भाषाविज्ञान के अध्ययन में एक नया मोड़ आया। इससे पूर्व विद्वानों का ध्यान विशेषकर ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन पर केन्द्रित था। फर्दिनां द सस्यूर ने भाषिक अध्ययन को वर्णनात्मक और एककालिक स्वरूप प्रदान किया। 1928 में हेग में अन्तर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान परिषद का प्रथम अधिवेशन हुआ और एककालिक अध्ययन के सिद्धान्त को विश्व स्तर पर स्वीकार किया गया। इसके फलस्वरूप विभिन्न देशों में भाषाविज्ञान के चार केन्द्र स्थापित हुए, जिन्हें लन्दन स्कूल, अमेरिकन स्कूल, प्राग स्कूल और कोपनहैगन स्कूल के नाम से जाना जाता है।

3. ज्ञान-विज्ञान की प्राचीन शाखाओं में व्याकरण का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। भारत में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में वैयाकरणों की लम्बी परम्परा रही है, जिनमें पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, भट्टोजिदीक्षित, भर्तृहरि वररुचि हेमचन्द्र, सूरि और मार्कण्डेय के नाम विशेष सम्मान के साथ लिए जाते हैं।

पाणिनि संस्कृत व्याकरण के महर्षि हैं। उनकी 'अष्टाध्यायी' सूत्र शैली में लिखा गया ऐसा परिपूर्ण ग्रन्थ है, जो ध्वनि, पद, कृदन्त, तद्धित, सन्धि, समास और लिगानुशासन आदि सभी विषयों का विवेचन करता है। उनकी सबसे बड़ी देन शब्दनिर्माण प्रक्रिया है, जिसके सहारे भारतीय भाषाएँ हजारों वर्षों से अपनी शब्दसम्पदा को समृद्ध बनाती आयी हैं। कात्यायन संस्कृत व्याकरण में वार्तिककार के नाम से जाने जाते हैं। उन्होंने लगभग 1500 वार्षिक लिखे, जो कहीं पाणिनि के सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हैं, तो कहीं छूटी हुई बात को पूरा करते हैं। पतंजलि सूत्रों के भाष्यकार हैं। उनका ग्रन्थ 'महाभाष्य' व्याकरण का प्रौढ़ ग्रन्थ है।

भट्टोजिदीक्षित ने संस्कृत व्याकरण के सिद्धान्तों को सरल शैली में प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों को विषय के अनुसार वैज्ञानिक क्रम दिया है। सूत्रों को स्पष्ट किया है और यथास्थान नियमों के उदाहरण दिये हैं। उनकी 'सिद्धान्तकौमुदी' संस्कृत व्याकरण का प्रवेश द्वार है। भर्तृहरि मौलिक व्याकरणकारों में अग्रणी हैं। उनका 'वाक्यपदीय' पदों और वाक्यों के आपेक्षिक महत्व की मीमांसा करता है। वे वाक्य को भाषा की एकमात्र सार्थक इकाई मानते हैं। जिस वाक्यवाद को आधुनिक विद्वान भाषा-चिन्तन की महान् उपलब्धि मानते हैं, उसका प्रतिपादन बरसों पहले 'वाक्यपदीय' में सम्पूर्णता के साथ विद्यमान है।

4. आधुनिक काल में हिन्दी के भाषाविदों ने भी इसे 'भाषाशास्त्र', 'भाषालोचन' और 'भाषिकी' आदि कई नामों से अनिहित किया है। परन्तु इनमें से कई नाम लोकप्रिय नहीं हो पाया। यों तो 'भाषाविज्ञान' नाम भी सर्वथा निर्दोष नहीं है और भाषा के अध्ययन को रसायनविज्ञान और भौतिक विज्ञान जैसे शुद्ध विज्ञानों की पंक्ति में बैठा देता है, जबकि भाषिक नियम उतने ठोस और निरपवाद नहीं होते। फिर भी 'भाषाविज्ञान' नाम इस ज्ञान शाखा की प्रकृति के अधिक निकट है।

भाषाविज्ञान भाषा के विभिन्न अवयवों और पहलुओं का विवेचन करने वाली वह विद्याशाखा है जिसमें उसकी संरचना, प्रकृति और विकास की विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया गया है, भाषा-विज्ञान का अध्ययन 'तुलना' से प्रारम्भ हुआ और वह 'इतिहास तथा विकासक्रम' से होता हुआ 'एककालिकता' और 'वर्णनात्मकता' तक पहुँचा। इन दिशाओं ने भाषाविज्ञान की परिभाषाओं को भी प्रभावित किया है। डॉ. भोलनाथ तिवारी लिखते हैं कि, "जिस विज्ञान के अन्तर्गत समकालीन, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक अध्ययन के सहारे भाषा सामान्य की उपत्पत्ति, गठन, प्रकृति और विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो उसे 'भाषाविज्ञान' कहते हैं।

NOTES

5. इतिहास अतीत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थितियों का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इतिहास की घटनाओं का भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भाषा के स्वरूपतामक परिवर्तन हेतु ऐतिहासिक घटनाएँ पर्याप्त जिम्मेदार होती हैं। राजनीतिक विप्लव, आक्रमण या अन्य कारणों से स्थानान्तरित होने वाली जाति सब दूसरी भाषा जाति के संपर्क में आती हैं तो भाषिक परिवर्तन की गति तेज हो जाती है। आभीर आदि जातियों ने भारत में आकर यहाँ की प्रचलित प्राकृतों को बदलकर अपभ्रंश में ढाल दिया। उनके विचारों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं तथा धार्मिक आस्था से संबंधित बहुत-सी शब्दावली का भाषा में प्रवेश हुआ। भारतीय भाषाओं में विदेशी शब्दों के समावेश का कारण ऐतिहासिक है। इतिहास से ही यह ज्ञात होता है कि सोने की चिड़िया समझा जाने वाला भारत सदैव विदेशियों की धन लोलुपता का शिकार होता रहा है। समय-समय पर उनके आक्रमण होते रहे हैं। कुछ विदेशी जातियों का यहाँ राजनीतिक आधिपत्य भी स्थापित हुआ। इन्हीं कारणों से भाषा में विदेशी तत्त्वों का समावेश हुआ।

अभ्यास-प्रश्न

1. भाषा की परिभाषाएँ देते हुए उसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. भाषाविज्ञान के स्वरूप का निर्धारण कीजिए।
3. भाषाविज्ञान की प्रमुख शाखाओं का उल्लेख करते हुए किसी एक का परिचय दीजिए।
4. भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रमुख दिशाओं का परिचय दीजिए।
5. भाषाविज्ञान की व्याप्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

स्वन विज्ञान : स्वरूप, अवधारणा एवं शाखाएँ

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- स्वनविज्ञान का स्वरूप और शाखाएँ
- वाग् अवयव और उनके कार्य
- स्वन का स्वरूप-अवधारणा
- स्वनिक गुण
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

स्वन प्रक्रिया, (स्वन एवं स्वनिम विज्ञान) भाषाविज्ञान का अविच्छिन्न अंग है। तथा आज के भाषाविज्ञानी किसी भाषा के विश्लेषण के पूर्व उसके स्वनों व स्वनियों का विशिष्ट अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इस इकाई के अंतर्गत निहित विषय सामग्री से आप—

NOTES

1. स्वनविज्ञान के स्वरूप और उसकी शाखाओं से परिचित हो सकेंगे।
2. वाग अवयव और उनके कार्यों की जानकारी ले सकेंगे।
3. स्वन की अवधारणा तथा स्वनों के वर्गीकरण के आधार की जानकारी पा सकेंगे।
4. स्वन-गुण तथा स्वनिक परिवर्तनों से सुपरिचित हो सकेंगे।

परिचय

स्वनविज्ञान (ध्वनि विज्ञान) का महत्त्व भाषा के समस्त प्रकार के अध्ययनों के लिए—चाहे वह नितान्त सैद्धांतिक हो अथवा प्रयोगभूत, निर्विवाद परमावश्यक रूप में स्वीकार कर लिया गया है। अब भाषाविज्ञानी अपना ध्यान अधिकाधिक जीवित बोलियों (ध्वनियों का श्रवण और ग्रहण) का वर्णन किया जाता है। इनमें किसी विशेष भाषा को नहीं लिया जाता है और न उसकी कार्यविधि की समीक्षा की जाती है। इसके विपरीत फोनोलॉजी में किसी एक (या अनेक) भाषा की ध्वनियों का विवेचन, विश्लेषण किया जाता है। उनमें ध्वनि-परिवर्तन आदि का विचार किया जाता है। फोनोलॉजी और फोनेटिक्स एक ही कार्य-विषय का दो विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन प्रस्तुत करते हैं। फोनेटिक्स सामान्य है। यह किसी भाषा-विशेष को अपनाये बिना ध्वनियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है, उनका वर्णन करता है और उनका वर्गीकरण करता है। फोनोलॉजी का संबंध विशेष से है। वह किसी एक या अनेक भाषा को लेता है। उसकी कार्यविधि और ध्वनि-परिवर्तन आदि का वर्णन करता है। अतः फोनोलॉजी को 'फंक्शनल फोनेटिक्स' (क्रियात्मक स्वानिकी) कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि मूलतः समानार्थक होने पर भी फोनोलॉजी और फोनेटिक्स शब्दों को समानार्थक के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता है। सामान्यतया फोनोलॉजी शब्द अधिक व्यापक है। इसमें फोनेटिक्स (स्वनिकी) और फोनीमिक्स (स्वनिमी) दोनों का संग्रह है। फोनोलॉजी में ध्वनि-संबंधी समस्त विज्ञानों का संग्रह हो जाता है। इसमें ध्वनियों का इतिहास, ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धांत भी सम्मिलित हैं। परंतु फोनेटिक्स (स्वानिकी) में ध्वनियों का इतिहास और ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धांत आदि का वर्णन निषिद्ध है। इसमें ध्वनियों का विवेचन, विश्लेषण और वर्गीकरण मुख्य रूप से समाविष्ट हैं। अतः प्रो. रोबिन्स का कथन उचित है कि फोनेटिक्स में किसी भाषा-विशेष का न लेते हुए ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-विश्लेषण, ध्वनि वर्गीकरण एवं ध्वनि-वर्णन का समावेश है। फोनोलॉजी में एक या अनेक भाषाओं को लेते हुए ध्वनियों का इतिहास, ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धांत और उनका प्रयोग आदि का भी समावेश होता है।

स्वनविज्ञान का स्वरूप और शाखाएँ

राविन्स के अनुसार—गूंगे, बहरे तथा कुछ जन्मजात जड़बुद्धि मानवों को छोड़कर शेष सभी सामान्य मानवों के बीच वाक् ही भाषाई आदान-प्रदान का माध्यम होती है। इस वाक् में वैज्ञानिक अध्ययन का ही नाम स्वन-विज्ञान कहलाता है। उपरोक्त विवेचन के उपरान्त स्पष्ट है कि—स्वनविज्ञान में भाषाध्वनियों के स्वरूप उच्चारण, संवहन, ग्रहण, ध्वनियों के वर्गीकरण तथा ध्वनि परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। भारतीय व्याकरण में ध्वनिविज्ञान का अध्ययन प्राचीनकाल से होता आया है। इसे 'शिक्षा' कहा जाता है। 'पाणिनीय शिक्षा' इस विषय का एक उल्लेखनीय ग्रंथ है। पाणिनि-शिक्षा के अनुसार वर्ण ध्वनि के पाँच उदाहरण किये गये हैं। ये हैं—(1) स्वर, (2) काल, (3) स्थान, (4) प्रयत्न, (5) अनुप्रदान।

- (क) स्वर-स्वर की उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित, तीन श्रेणियाँ कही गयी हैं। सामवेद में स्वरों के षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद, सात स्तर स्वीकार किये गये हैं।
- (ख) काल-ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत-काल के ये तीन विभाग माने गये हैं। उच्चारण-प्रक्रिया के संदर्भ में जहाँ एक मात्रा लगे ह्रस्व, दो मात्रा लगे दीर्घ तथा तीन मात्रा लगे वहाँ प्लुत होता है।
- (ग) स्थान-वर्ण ध्वनियों के उच्चारण स्थान की संख्या आठ है। ये हैं—(1) उरस, (2) कण्ठ, (3) शिरस, (4) जिह्वामूल, (5) दन्त, (6) नासिका, (7) ओष्ठ (उभय) (8) तालु।
- (घ) प्रयत्न-प्रयत्न की दृष्टि से वर्ण-ध्वनि दो भागों-आभ्यान्तर एवं बाह्य प्रयत्न में विभक्त है।

(ड) अनुप्रदान के अंतर्गत स्थान एवं प्रयत्न के अन्य सहायक उपादानों का समावेश किया गया है।

स्वन विज्ञान : स्वरूप,
अवधारणा एवं शाखाएँ

NOTES

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत में विविध वैयाकरणों द्वारा प्रणीत शिक्षा-ग्रंथों का विशाल वाङ्मय है। ये शिक्षा ग्रंथ श्लोकबद्ध अथवा गद्यरूप में उपलब्ध हैं। इनमें स्वनविज्ञान एवं स्वन प्रक्रिया, दोनों का सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन किया गया है। स्वनविज्ञान की दृष्टि से आज भी इनका गंभीर अध्ययन अपेक्षित है।

प्रातिशाख्य –

स्वनविज्ञान एवं स्वन-प्रक्रिया के अंतर्गत प्रातिशाख्यों के संबंध में भी विचार करना आवश्यक है। इन्हें 'पार्षद-सूत्र' भी कहते हैं। ये विभिन्न चरणों के व्याकरण हैं। इनमें मंत्रों के संहितापाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख है। इन्हें हम वैदिक व्याकरण के नाम से अभिहित कर सकते हैं, किंतु ये उस अर्थ में व्याकरण नहीं हैं जिस अर्थ में अष्टाध्यायी है, क्योंकि इनमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा पद के साधुत्व पर विचार नहीं किया गया है। किन्हीं-किन्हीं प्रातिशाख्यों में तो शिक्षा तथा छंद का भी समावेश है।

प्रातिशाख्य में प्राचीन स्वनविज्ञान संबंधी सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इनके अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषि कितने सूक्ष्मदर्शी एवं गहन विचारक थे।

जब संस्कृत का ज्ञान यूरोप में पहुँचा और वहाँ के विद्वानों को इसकी स्वन-प्रक्रिया का ज्ञान हुआ तो उन्हें अपनी भाषा के स्वनों को गंभीरता से अध्ययन करने की प्रेरणा मिली। इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक युग में स्वनविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि सामायिक वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण ज्यों-ज्यों समय तथा दूरी का प्रश्न घटता जा रहा है, त्यों-त्यों मनुष्य की प्रवृत्ति अंतर्राष्ट्रीय होती जा रही है। अब सुदूर देशों के साथ व्यापारिक एवं दौत्य संबंध स्थापित करना सभ्य एवं सशक्त राष्ट्रों के लिए आवश्यक हो गया है। इसके लिए सर्वप्रथम विदेशी भाषाओं को सीखने की आवश्यकता पड़ती है। मानव जाति के मध्य सामाजिक संपर्क स्थापित करने के लिए भाषा ही सर्वोत्कृष्ट साधन है। विदेशी भाषा को सीखने में मनुष्य के सामने सबसे पहली समस्या उच्चारण संबंधी आती है। किसी भाषा के व्याकरणिक रूपों और आवश्यक शब्दावली को जानने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि भाषा को सीखने वाला उस भाषा की ध्वनियों को उसी रूप में ग्रहण करे जिस रूप में उस भाषा के बोलने वाले उन्हें उच्चारित करते हैं। उन ध्वनियों के ज्ञान के अतिरिक्त उसे उन ध्वनियों के बोलने का इतना अभ्यास भी करना चाहिए ताकि उसके बोलने वाले उन्हें समझ सकें।

यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि किसी भाषा का अध्ययन करते समय हमारा संबंध उसके वाक् या उच्चारित ध्वनियों से ही होता है, उनके लिखित रूपों से नहीं।

वस्तुतः भाषा का अर्थ ही उस 'कथ्य' रूप से है जो भाषणावयवों की सहायता से मुख द्वारा बोली जाती है। आधुनिक युग में भाषा के ध्वनिमय रूप की धारणा इतनी सिद्ध एवं मान्य हो चुकी है कि कतिपय आधुनिक भाषाविद् 'लिखित भाषा' वाक्यांश को ही ठीक नहीं मानते।

यहां स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि विदेशी भाषा के उच्चारण से किस प्रकार परिचय प्राप्त करना चाहिए?

इस समस्या का आज से कुछ वर्ष पूर्व, जो केवल एक ही समाधान सम्भव समझा जाता था, यह था कि शिक्षार्थी को विदेशी भाषाभाषियों के सम्पर्क में काफी समय तक रहकर उनसे बातचीत करने का अधिकाधिक सौभाग्य प्राप्त करना चाहिए।

किन्तु इस रीति से भाषा सीखने में दो प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव हुआ। इनमें प्रथम कठिनाई यह थी कि सामान्य व्यक्ति केवल भाषा सीखने के लिए विदेश कैसे जा पहुँचे। दूसरी यह कि इस प्रकार से भाषा का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त व्यय-साध्य था।

इसी समय यह अनुभव हुआ कि विदेशी भाषा को सीखने का सरलतम उपाय यह है कि उसकी ध्वनियों का ठीक-ठीक रूप में ज्ञान प्राप्त किया जाए। इसके लिए स्वनविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई। लोगों ने यह भलीभाँति जान लिया कि स्वनवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा कम-से-कम समय में विदेशी भाषा सरलतया सीखी जा सकती है। यही कारण है कि आधुनिक भाषाविज्ञानी आज भाषा के अध्ययन में स्वनम-विज्ञान का समुचित उपयोग करता है तथा उसे जीवित भाषाओं एवं बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन की आधारभूत शाखा मानता है।

यहां, यह पुनः ध्यान रखना चाहिए कि स्वनविज्ञान का सम्बन्ध स्वनों से है। इस विज्ञान में मनुष्य के मुँह से निमृत् स्वनों का विवेचन, विश्लेषण, वर्णन एवं लिखित रूप का सम्बन्ध वर्णों से है। वर्ण एवं स्वन में अन्तर है, इस तत्व को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। बात यह है कि अनेक भाषाओं में एक ध्वनि के कई प्रतीक होते हैं। अंग्रेजी में 'क' स्वन के लिए, के,

NOTES

सी एवं क्यू तीन प्रतीक हैं। फारसी अथवा उर्दू की लिखावट में 'स्' स्वन 'से', 'स्वाद' तथा 'सीन' तीन प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस समस्या का समाधान स्वनलिपि द्वारा किया जाता है जिसमें एक स्वन को एक प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि स्वनविज्ञान, भाषाविज्ञान का अविच्छिन्न अंग है तथा आज के भाषाविज्ञानी किसी भाषा के विश्लेषण के पूर्व उसके स्वनों का विशिष्ट अध्ययन परमावश्यक मानते हैं।

स्वनविज्ञान की परिभाषा—

स्वनविज्ञान वह विज्ञान है जिसमें वागिन्द्रियों द्वारा उत्पादित स्वनों का सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक अध्ययन किया जाता है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने वाणी के चार स्तरों को स्वीकार किया है। ये हैं— 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' एवं 'वैखरी'। इनमें से आरम्भ के तीन स्तर तो अव्यक्त हैं, केवल वाणी का चौथा स्तर 'वैखरी' व्यक्त है। वास्तव में आधुनिक स्वनविज्ञान वैखरी से ही अपना अध्ययन आरम्भ करता है।

यह मानव-कंठ से निःसृत स्वनों की विशेषता का अध्ययन करता है तथा उन्हें परिभाषित करता है। यह उन स्वनों के अध्ययन में अपना ध्यान केन्द्रित करता है जो विश्व की भाषाओं में मिलते हैं। यह वागस्वनों पर तीन स्वतंत्र दृष्टिकोण से विचार करता है। यह वागिन्द्रियों का अध्ययन करता है जिनके द्वारा हम स्वनों का उच्चारण करते हैं। यह उन स्वन-तरंगों का भी अध्ययन करता है जो भौतिक रूप में, वायु के माध्यम से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचती हैं तथा यह उन तकनीकों का भी अध्ययन करता है जिनके द्वारा मनुष्य अपने श्रवण-रन्ध्र से स्वनों को प्राप्त करता है।

ऊपर के तथ्यों के आधार पर स्वनविज्ञान की तीन शाखाएं— उच्चारणात्मक, ध्वनिक (= भौतिक) एवं श्रवणात्मक हो गयी हैं। स्वनविज्ञानी इन तीनों शाखाओं में अपने को प्रशिक्षित करता है। इस प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप वह किसी भी भाषा के वागस्वनों के सूक्ष्म तत्वों को हृदयङ्गम करने में सक्षम हो जाता है। वह इन स्वनों को स्वयं उच्चरित करने के साथ-साथ इनका विशेष ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। वह अपनी वागिन्द्रियों को नियंत्रित करने में इतना दक्ष हो जाता है कि वह विविध भाषाओं के वागस्वनों का सहज रूप में उच्चारण कर सकता है। इसके लिए वह शरीर, विशेषतया सिर, कंठ, वक्ष आदि की रचना का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त वह भौतिकविज्ञान (फिजिक्स) का भी अध्ययन करता है, ताकि वह ऑसिलोग्राफ एवं स्पेक्टोग्राफ जैसे ध्वनि-यंत्रों का उपयोग कर सके। इस दृष्टि से स्वनविज्ञानी का कार्य बहुत टेक्निकल हो जाता है।

स्वनविज्ञान की जटिलता का अनुभव कर कतिपय विद्वान उसे पृथक् विज्ञान स्वीकार करने के पक्षधर हैं। उनके मतानुसार, भाषाविज्ञान जहां एक ओर भाषा का व्यवस्थित अध्ययन करता है, वहां दूसरी ओर स्वनविज्ञान स्वन-विषयक तत्वों के परिशीलन में व्यस्त रहता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि इस विचारधारा के भाषाविदों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। अधिकांश भाषाविद् स्वनविज्ञान को भाषाविज्ञान का अभिन्न अंग मानते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों को सशक्त बनाने के लिए स्वनविज्ञान की सहायता परमावश्यक है और यह कार्य स्वनविज्ञान को भाषाविज्ञान का अंग बनाने से ही सिद्ध हो सकता है।

भाषाविज्ञान के आरम्भिक युग में, स्वनविज्ञान को पृथक् विज्ञान मानने का कोई प्रश्न ही न था। उस युग में सबसे महत्वपूर्ण समस्या, भाषा को उसके उच्चारण के अनुसार सही रूप में लिखने की थी। इसके लिए किसी भाषा के अध्ययन के समय, उसमें उपलब्ध स्वर-व्यंजनों के उच्चारण-स्थान— कंठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि का ज्ञान आवश्यक था। इसके उपरान्त विविध रूपों में स्वर-व्यंजन का वर्गीकरण सम्पन्न होता था। इस प्रकार उस युग में स्वनविज्ञान का अध्ययन भाषाविज्ञान के रूप में ही होता था।

वागिन्द्रियों द्वारा उत्पादित स्वन निम्नलिखित दो प्रकार के होते हैं—

- (1) वागस्वन
- (2) वागितर स्वन

उच्चारणात्मक शाखा के अन्तर्गत स्वनों को उत्पन्न करने वाले वागयंत्र का अध्ययन सम्पन्न होता है।

भौतिक के अन्तर्गत वागस्वनों के भौतिक गुणों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में विविध स्वन-यंत्रों से सहायता ली जाती है। यंत्रों के द्वारा भाषा में उपलब्ध सुर, अनुतान, दीर्घता, नासिक्यापन, घोषत्व एवं प्राणत्व आदि का सहज एवं वैज्ञानिक अध्ययन सम्पन्न होता है। इधर भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) की उन्नति के साथ-साथ, स्वनों के अध्ययन की इस शाखा को 'प्रायोगिक स्वन-विज्ञान' अथवा यांत्रिक स्वन-विज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है।

श्रोत्रिक शाखा— इस शाखा का अध्ययन अभी आरम्भिक अवस्था में है। जैसा कि चित्र में प्रदर्शित किया गया है, जब वाग्वस्वनों की तरंगें मनुष्य के कर्ण—कुहर में प्रवेश करती हैं, तब श्रोत तंत्रिकाओं में कम्पन होता है और इसके बाद ही मनुष्य का मष्तिष्क संवाद—ग्रहण करता है। संवाद—ग्रहण की यह प्रक्रिया काफी जटिल है। यही कारण है कि स्वन—विज्ञान की इस शाखा का अभी अधिक विकास नहीं हो सका है।

स्वन—यन्त्र—

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत आज अनेक ऐसे यंत्रों का निर्माण हो चुका है जिनके द्वारा स्वनों के विविध गुणों की माप की जा सकती है। जिन सूक्ष्म स्वनों को हम श्रवण द्वारा ग्रहण नहीं कर पाते उन्हें भी ये यंत्र अति सरल रूप में हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष कर देते हैं।

इन स्वन—यंत्रों में आसिलोग्राफ, टेप रिकार्डर, स्पैक्टोग्राफ, फारमेटग्राफिक मशीन, पैटर्न प्लेबैक उल्लेखनीय हैं। इनके पूर्व भाषाविज्ञानी पैलेटोग्राफ तथा कायमोग्राफ का प्रयोग करते थे। इनका संक्षिप्त विवरण यहां दिया जाता है।

स्वनयन्त्र (द्वितीय महायुद्ध के पूर्व)—

पैलेटोग्राफ— यह वास्तव में धातु से बना हुआ कृत्रिम तालु (पैलेट) है जिसे दन्तचिकित्सक स्वन के परीक्षण करने वाले व्यक्ति के तालु के आकार का बना देते हैं। यह बहुत हल्का और पतला होता है तथा इसे फ्रेंच चाक या पाउडर से रंग देते हैं। परीक्षण करते समय इसे स्वभाविक ढंग से दांतों में जमा लिया जाता है। इसके बाद परीक्षा किए जाने वाले स्वन को बोला जाता है। इस प्रकार बोलने से जिह्वा के स्पर्शवाले भाग का पाउडर पुछ जाता है। उसी समय पैलेट को बाहर निकालकर उसका फोटो ले लिया जाता है, जिससे मुख—विवर के अगले भाग में जिह्वा के आन्तरिक क्रिया—कलाप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यूरोप के कतिपय स्वनविज्ञानी कृत्रिम तालु का व्यवहार न करके कठोर तालु पर रंगीन गोंद लगाकर भी जिह्वा के कार्य—कलाप की परीक्षा करते हैं।

काइमोग्राफ—स्वनों को उच्चरित करते समय, मनुष्य के नासारन्ध्र, मुखरन्ध्र तथा स्वरतंत्रियों में जो कम्पन होता है उसे इस तंत्र के द्वारा नापा जा सकता है। अघोष तथा घोष स्वनों के उच्चारण में जो कम्पन—भेद होता है, उसे स्पष्ट करने के लिए काइमोग्राफ का उपयोग किया जाता है। यह उल्लेखनीय बात है कि पैलेटोग्राफ के द्वारा कोमल तालु प्रदेश में उत्पन्न स्वनों की परीक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि कृत्रिम पैलेट केवल कठोर तालु प्रदेश को ही आच्छादित रखता है। इन स्वनों की परीक्षा काइमोग्राफ की सहायता से की जा सकती है। काइमोग्राफ के चित्रों से स्वनों की अनुनासिकता, महाप्राणता तथा दीर्घता आदि भी नापी जा सकती है।

आसिलोग्राफ—काइमोग्राफ श्रेणी के अन्य अनेक यंत्रों का उपयोग आज यूरोप के विभिन्न अंचलों में, स्वनों के परीक्षण के लिए किया जा रहा है। आसिलो—ग्राफ वस्तुतः इन्हीं यंत्रों में से एक है। इसके द्वारा स्वनों के कम्पन के चित्र लिए जा सकते हैं, इनकी दीर्घता नापी जा सकती है तथा दो स्वनों के बीच की सीमा भी निर्धारित की जा सकती है।

इंक राइटर—काइमोग्राफ की श्रेणी का यह एक अन्य यंत्र है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहां काइमोग्राफ के द्वारा धूम्राच्छादित कागज पर सुई के द्वारा चित्र बनते हैं वहां इंक राइटर के द्वारा सादे कागज पर स्याही से चित्र बनते हैं। इस यंत्र का व्यवहार काइमोग्राफ की अपेक्षा सस्ता और सहज है।

मिंगोग्राफ—इस यंत्र का आविष्कार स्वीडेन के एक भाषाविज्ञानी ने किया है। यह आकार में छोटा है किन्तु स्वन—परीक्षण के लिए यह काइमोग्राफ से अधिक उपयोगी है।

क्रोनोग्राफ—मिंगोग्राफ की भांति ही यह भी एक छोटा—सा यंत्र है जिसका स्पेन के भाषाविद् स्वन—परीक्षण के लिए उपयोग करते हैं। यूरोप में, स्वन—परीक्षण के लिए अनेक छोटे—मोटे यंत्रों का उपयोग हो रहा है किन्तु अमेरिका में स्वन—विश्लेषण के लिए जिन यंत्रों का उपयोग हो रहा है, वे इनकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। ऐसे यंत्रों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

टेपरिकार्डर—यह ग्रामोफोन की भांति एक बॉक्सनुमा यंत्र है जिसके द्वारा फीते पर स्वनां का रिकार्ड किया जाता है। इसे चालू करने के लिए बिजली के तार द्वारा इसे प्लक से जोड़ दिया जाता है ताकि इसमें बिजली की लहरें आने लगे। इसी समय इसमें लगे हुए माइक पर बोला जाता है और फीते पर स्वन (=ध्वनियाँ) रिकार्ड होती जाती हैं।

इधर हाल में अमेरिका में एक नये प्रकार का टेपरिकार्डर बना है जिसका आकार लम्बा होता है। उसे गले में लगा लेते हैं और उसके फीते पर स्वन (=ध्वनियाँ) रिकार्ड होती चली जाती हैं।

NOTES

अमेरिका के भाषाविद् बोलचाल की भाषा के किसी भी प्रकार के विश्लेषण या अध्ययन में टेपेरिकार्डर का व्यवहार करते हैं यहां तक कि अपनी बोली का विश्लेषण करने के लिए भी वे टेपेरिकार्डर की सहायता लेते हैं। अपने मुंह से उच्चरित स्वरों को सुनने के बदले, टेपेरिकार्डर द्वारा गृहीत स्वरों को बार-बार सुनने से स्वन-विश्लेषण में अधिक सहायता मिलती है।

स्वन-यंत्र (ध्वनि-यंत्र, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आविष्कृत)— इधर द्वितीय महायुद्ध के बाद, स्वन-यंत्रों के निर्माण में, अमेरिका में जो प्रगति हुई है उसका ज्ञान भाषाविज्ञान के छात्रों के लिए परमावश्यक है। इन स्वन-यंत्रों ने भाषा-विश्लेषण के कार्य को बहुत सरल बना दिया है। ये यंत्र ऐसे हैं कि भाषण-प्रवाह को विखंडित करके, स्वर एवं व्यंजन के भेद को इन यंत्रों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इनमें से कतिपय यंत्रों का परिचय नीचे दिया जाता है—

स्पेक्टोग्राफ—यह एक क्रान्तिकारी यंत्र है, जिसका उपयोग आज अमेरिका के स्वनविज्ञानी कर रहे हैं। जब इस यंत्र में स्वन, प्रविष्ट होता है तो इलेक्ट्रॉन की सहायता से उसका चित्र आ जाता है जिसे 'स्पेक्टोग्राम' कहते हैं। इस स्पेक्टोग्राम में स्वन की क्षिप्रता, सघनता एवं कालावधि आदि सभी आ जाते हैं। इससे स्वनविज्ञानी को स्वन का स्थायी चित्र प्राप्त हो जाता है जिसका वह जब चाहे विश्लेषण कर सकता है।

पैटर्न प्लेबैक—ऊपर यह कहा जा चुका है कि स्पेक्टोग्राफ के द्वारा स्वरों को स्पेक्टोग्राम में परिणत करके उन्हें दृश्यमान बनाया जा सकता है तथा इसके बाद उनका विश्लेषण किया जा सकता है। परन्तु इधर अमेरिका के दो विद्वानों ने एक ऐसे विशेष स्वन-यंत्र का निर्माण किया है जिसके द्वारा दृश्यमान स्वन-चित्रों को पुनः स्वन-चित्र दिया जा सकता है। इसका नामकरण उन्होंने पैटर्न प्लेबैक किया है।

स्पीच स्टेचर—यह एक प्रकार का वागविस्तारक यंत्र है और इससे विदेशी भाषाओं के स्वरों को स्पष्टरूप से ग्रहण करने में अत्यधिक सहायता मिलती है। बात यह है कि बोलते समय मनुष्य अति शीघ्रता से अपने हृदगत भावों को प्रकट करता जाता है। जब किसी व्यक्ति को नवीन भाषा सीखनी होती है तो वाग्धारा में से सार्थक स्वरों को स्पष्टरूप से ग्रहण करना उसके लिए सम्भव नहीं हो पाता। परन्तु इस यंत्र की सहायता से उच्चरित स्वरों को धीरे-धीरे एवं सहजरूप में सुना जा सकता है। इस यंत्र की सहायता से स्वनविज्ञान में अकुशल व्यक्ति भी स्वरों का परीक्षण एवं वर्गीकरण कर सकता है। किसी नवीन भाषा के स्वनियों के निर्धारण में तो इस यंत्र से अत्यधिक सहायता मिलती है।

औच्चारणिक शाखा—इस शाखा के अन्तर्गत स्वरों की उत्पादन-प्रक्रिया पर विचार किया जाता है। अन्य शाखाओं की अपेक्षा स्वनविज्ञान की यह शाखा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और संसार के भाषाविज्ञानियों ने इसका गहरा अध्ययन किया है। इसका परिणाम यह है कि इस शाखा के सम्बन्ध में सबसे अधिक सामग्री भी उपलब्ध है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि वाग्स्वरों के उत्पादन के लिए, वायु परमावश्यक तत्व है। यह वायु श्वसन-क्रिया से उत्पन्न होती है। श्वसन-क्रिया, वास्तव में, फुफुसों (=दोनों फेफड़ों) के प्रसरण एवं संकुचन से प्रादुर्भूत होती है। प्रसरण-क्रिया से वायु फुफुसों के भीतर जाती है। इसे अन्तःकरण कहते हैं। जो वायु फुफुसों से बाहर निकलती है उसे बहिःश्वसन कहते हैं। अन्तःश्वसन एवं बहिःश्वसन की सम्मिलित क्रिया को ही श्वसन क्रिया के नाम से अभिहित किया जाता है।

श्वसन—क्रिया के समय वायु का वागिन्द्रिय या वाग्यंत्र के विभिन्न अंगों पर घात होता है तब वह स्वरों में परिवर्तित हो जाती है। वायु के आघात एवं उसके परिणामस्वरूप स्वरों के उत्पादन के ज्ञान के लिए, वाग्यंत्र का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

वाग्यंत्र अथवा मुखविवर के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। इसका मुख्य कार्य भोज्य-पदार्थों को ग्रहण करना है। दांतों का काम खाने वाली वस्तुओं को कुचलना तथा जिह्वा का कार्य उनका रस लेना है। इसी प्रकार कंठ एवं नासिका-विवरों का कार्य श्वस-क्रिया सम्पन्न करना है। किन्तु मनुष्य वाग्यंत्र तथा इसके विभिन्न भागों से स्वरों के उच्चारण का काम लेता है। वास्तव में यह वाग्यंत्र अथवा मुख-विवर का गौण कार्य है।

स्वनविज्ञान की शाखाएँ —

स्वनविज्ञान के अंतर्गत स्वरों (ध्वनियों) के विवेचन में मुख्य रूप से उनका उत्पादन, संचरण या संवहन और ग्रहण विशेष रूप से आता है। इन्हीं के आधार पर स्वन विज्ञान की तीन शाखाएँ हो जाती हैं—

1. औच्चारणिक (Articulatory)
2. भौतिक या संवाहनिक (Acoustic)
3. श्रौत्रिक (Auditory)

1. औच्चारणिक स्वन विज्ञान –

स्वन विज्ञान की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाखा औच्चारणिक है। इसमें मानवीय स्वनों के उत्पादन और पारस्परिक विभेद का अध्ययन किया जाता है। स्वन का उत्पादन वागवयवों द्वारा होता है, जिनका संबंध शरीर विज्ञान से है।

2. सांवाहनिक स्वन विज्ञान –

उच्चरित स्वन तरंगों के माध्यम से श्रोता के कानों तक पहुँचते हैं। जिस पद्धति से इन ध्वनि तरंगों का अध्ययन किया जाता है, उसे सांवाहनिक स्वन विज्ञान कहते हैं। संवाहन की प्रक्रिया सभी ध्वनियों में समान है, चाहे वे मानव मुख से निःसृत हो या बाह्य तत्त्वों से। अतः इस विज्ञान का संबंध भौतिक विज्ञान से है जिसमें ध्वनि की तीव्रता और आवृत्ति का मापन होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान में संयंत्रों से इसका अध्ययन किया जा सकता है।

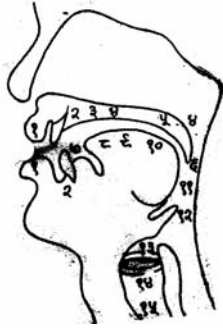
3. श्रौत्रिक स्वन विज्ञान–

वक्ता के मुख से उच्चारित स्वन तरंगों के रूप में श्रोता के कानों तक पहुँचते हैं। कर्णन्द्रिय की शारीरिक संरचना के माध्यम से तरंग मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। इसके अंतर्गत कानों की संरचना का ज्ञान किया जाता है। मूल रूप से इसका संबंध भी स्वन विज्ञान से ही है।

उपरोक्त तीन में से दूसरी एवं तीसरी शाखाओं पर बहुत अधिक कार्य नहीं हुआ। यद्यपि स्वनों के गहन अध्ययन के अंतर्गत कतिपय प्रायोगिक उपकरणों का आविष्कार कई दशकों पूर्व कर लिया गया था तथा वैज्ञानिक इस दिशा में आज भी प्रयत्नशील हैं तथापि स्वनविज्ञान के अंतर्गत मुख्य रूप से औच्चारणिक शाखा में भाषावैज्ञानिकों का ध्यान केन्द्रित रहा है क्योंकि किसी भाषा का विवेचन उसके स्वनों एवं स्वनिमों का निर्धारण कर ही किया जा सकता है।

वाग् अवयव और उनके कार्य

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वन विज्ञान की अन्य शाखाओं की अपेक्षा यह शाखा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और संसार के भाषाशास्त्रियों ने इसका गहरा अध्ययन भी किया है। इसी का परिणाम है कि इस शाखा के संबद्ध में सबसे अधिक सामग्री भी उपलब्ध है। इस पर सम्यक रूप से विचार करने के पहले यह आवश्यक है कि वाग् अवयव या वागेन्द्रिय के विषय में जानकारी प्राप्त कर ली जाय। वस्तुतः वाग्ध्वनियों के उच्चारण में शरीर के जिन अवयवों का उपयोग होता है उनके समूह को वागिन्द्रिय अथवा वाग्यंत्र या स्वनयंत्र के नाम से जाना जाता है।



- | | | | |
|--------------------------|---|-------------------|--------------|
| 1. ओंठ | 2. दाँत | 3. वत्स्य | 4. कठोरतालु |
| 5. कोमल तालु | 6. लिजिहवा या कौवा | 7. जिह्वानोक | 8. जिह्वाग्र |
| 9. जिह्वा मध्य | 10. जिह्वा पश्च 11. उपालिजिह्वा | 12. स्वरयंत्रावरण | |
| 13. स्वन यंत्र की स्थिति | 14. कोमल तालु का नासिकाविवरोन्मुखी पक्ष | 15. स्वनयंत्र | |

वाग्ध्वनियों के उत्पादन में मानव मुँह के जिन अवयवों का उपयोग होता है उनके समूह को ध्वनि-यंत्र कहते हैं। इन्हीं ध्वनियंत्रों या वाग्अवयवों के कार्य निम्नलिखित अनुसार है—

(1) ओंठ-ओंठ दो होते हैं –

- अ. ऊपर का ओंठ। ब. नीचे का ओंठ।

ध्वनि उत्पादन में नीचे का ओंठ ही अधिक कार्य करता है। ध्वनियों के उत्पादन में ओंठों की कई स्थितियाँ हो सकती हैं। दोनों ओंठ पूर्णतया उन्मुक्त रह सकते हैं, दोनों ओंठ संपूर्ण रूप से बंद होकर ओष्ठ्य व्यंजनों और दाँतों के स्पर्श से

NOTES

दन्त्योष्ठ्य स्पर्श-व्यंजनों की सृष्टि कर सकते हैं तथा दोनों एक दूसरे के अथवा दाँतों के बहुत निकट आकर ओष्ठ्य अथवा दन्त्योष्ठ्य संघर्षों व्यंजनों को उत्पन्न कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त स्वरों के उच्चारण में ये वृत्ताकार या अवृत्ताकार की दृष्टि से विभिन्न स्थितियाँ ग्रहण कर सकते हैं। हिंदी की पर्वग ध्वनियाँ इसके अंतर्गत आती हैं।

(2) दाँत –

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ध्वनि-उत्पादन में दोनों ओठों में से नीचे का ओठ ही अधिक कार्य करता है, किन्तु दाँतों की ऊपर तथा नीचे की पंक्तियों में से ऊपरी पंक्ति के सामने वाले दाँत ही विशेष कार्य करते हैं। ये दाँत नीचे के ओठ और जिह्वा के नोक के साथ मिलकर ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

(3) वर्त्य –

ऊपर के दाँतों के मूल से कठोर तालु के आरंभ तक का भाग वर्त्य-भाग कहलाता है। वस्तुतः यह उच्चारण स्थान है, उच्चारण सहायक अवयव नहीं, क्योंकि जिह्वा के विभिन्न भाग इसके स्पर्श से तथा इसके समीप अथवा इसकी ओर अभिमुख होकर ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

(4) कठोरतालु –

वर्त्य के अंतिम भाग से कोमलतालु के आरंभ तक का भाग कठोरतालु कहलाता है। वर्त्य की भांति यह भी उच्चारण स्थान है, उच्चारण सहायक अवयव नहीं। तालव्य कही जाने वाली सभी ध्वनियों का प्रदेश यही है।

(5) कोमलतालु–

जहाँ कठोरतालु का अन्त होता है अर्थात् जहाँ अस्थिमय अंश का अन्त है और जिस भाग से कोमल मांसखण्ड भाग का आरंभ होता है वही भाग कोमलतालु कहलाता है। कोमलतालु ध्वनियंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वस्तुतः उच्चारण-स्थान तथा उच्चारण सहायक अवयव, दोनों है।

जब मुख-विवर से वायु भीतर की ओर ली जाती है, तो कोमलतालु ऊपर उठ जाता है किन्तु जब वायु नासिका-विवर से निकलती है अथवा भीतर की ओर ली जाती है तब कोमलतालु नीचे की ओर झुक जाता है। परंतु जब वायु मुख-विवर से निकाली जाती है तब यह पुनः ऊपर की ओर उठ जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोमलतालु मुखविवर तथा नासिका विवर के बीच किवाड़ का सा कार्य करता है।

श्वास प्रक्रिया एवं भाषण प्रक्रिया के समय इसकी निम्नलिखित स्थितियाँ होती हैं–

(1) श्वास-प्रक्रिया के समय–

श्वास प्रक्रिया के समय यह बिलकुल ढीला निस्पन्द अर्थात् नीचे की ओर पड़ा रहता है जिसके परिणामस्वरूप सारी श्वास इसके पीछे से होकर नासिका मार्ग से ही आती जाती है।

(2) भाषण प्रक्रिया के समय–

इस प्रक्रिया में यह निम्नलिखित दो स्थितियाँ धारण करता है –

(अ) नासिक्य व्यंजनों एवं अनुनासिक स्वरों को छोड़कर अन्य समस्त ध्वनियों के उच्चारण के समय यह ऊपर उठकर नासिका-विवर को बिलकुल बंद कर देता है जिसके फलस्वरूप समस्त वायु मुख-विवर से ही निकलने लगती है, नासिका-विवर में नहीं जाने पाती। यह मुख-विवर में आकर विभिन्न उच्चारण-स्थान एवं उच्चारण-प्रयत्नों की विभिन्न स्थितियों के कारण विभिन्न ध्वनियों के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

(ब) नासिक्य व्यंजनों एवं अनुनासिक स्वरों के उच्चारण के समय यह मध्यम अवस्था में रहता है, जिससे कुछ वायु नासिका-विवर से भी निकल जाती है।

इस प्रकार कोमलतालु का कार्य नासिका-विवर के मार्ग को अनुनासिक स्वरों एवं नासिक्य व्यंजनों के लिये विवृत करना एवं निरनुनासिक ध्वनियों के लिये संवृत करना है।

(6) अलिजिह्वा या कौवा–

अलिजिह्वा या कौवा कोमलतालु का अंतिम भाग है। यह एक छोटे से लटकते हुए मासपिण्ड के रूप में दिखलाई पड़ता है। यह कोमलतालु से संलग्न अलिजिह्वा, ऊपर-नीचे होता रहता है। यह अरबी एवं फ्रेंच आदि भाषाओं की कुछ ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होता है।

ध्वनि-निर्माण में जिह्वा का स्थान –

उच्चारण अवयवों में जिह्वा का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। स्वरों के निर्माण तथा अधिकांश व्यंजनों के उत्पादन में जिह्वा सर्वाधिक कार्य करती है।

(7) जिह्वा-नोक –

जिह्वा के अग्रबिन्दु को जिह्वा नोक कहते हैं। जिह्वा का यह भाग ध्वनि-उत्पादन में सबसे अधिक सहायक होता है। जिह्वा का यह भाग ऊपरी दंत पंक्ति के सामने वाले दाँतों का स्पर्श करके दन्त्य-ध्वनियों (त्, थ, द, ध, ण), वर्त्स को स्पर्श करके वर्त्स्य ध्वनि (न्), सामने के दाँत या वर्त्स्य के समीपवर्ती होकर दन्त्य या वर्त्स्य संघर्षी ध्वनि (स्), फेफड़ों से आगत वायु द्वारा विताड़ित होकर तथा एकाधिक बार जोर से हिलकर वर्त्स्य लुंठित ध्वनि (र), दाँत अथवा वर्त्स के मध्यबिन्दु का स्पर्श करके यदि जिह्वा के एक या दोनों पार्श्व खुले रहे तो पार्श्विक ध्वनि (ल्) एवं पीछे की ओर मुड़कर मूर्धा भाग को स्पर्श करके मूर्धन्य ध्वनियों (ट, ठ, ड, ढ) के उच्चारण में सहायक होती है।

(8) जिह्वाग्र–

जिह्वा का वह भाग है जो कठोरतालु के विपरीत स्थित रहता है। जिह्ववय की सहायता से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को मुख्यतः तालव्य कहा जाता है। इस भाग का उपेयाग ध्वनि उत्पादन में मुख्यतः निम्न प्रकार से किया जाता है—

(अ) अग्रस्वरों के उच्चारण में यह भाग विभिन्न मात्रा में कठोरतालु की ओर उठता है।

(ब) कठोरतालु से मिलकर तालव्य स्पर्श ध्वनियों की सृष्टि करता है।

(9) जिह्वापश्च–

जिह्वापश्च जिह्वा का वह भाग है जो कोमलतालु के विपरीत स्थित रहता है। जिस प्रकार जिह्वाग्र कठोर तालु की ओर विभिन्न मात्रा में उठकर अग्रस्वरों की सृष्टि करता है उसी प्रकार जिह्वापश्च कोमलतालु की ओर उठकर पश्चस्वरों की सृष्टि कराता है। जिह्वा का यह भाग कोमलतालु तथा अलिजिह्वा के साथ मिलकर (क्, ख, ग, घ) कण्ठ्य ध्वनियों की सृष्टि करता है। इसके अतिरिक्त कोमलतालु तथा अलिजिह्वा या कौवा के समीपवर्ती होकर वायुमार्ग को, एवं पीछे हटकर गलबिल मार्ग को संकीर्ण कर संघर्षी ध्वनियों के उत्पादन में भी सहायक होता है।

(10) उपालिजिह्वा या गलबिल –

नासिकाविवर और स्वरयंत्रावरण के बीच और जिह्वामूल के पीछे जो खली स्थान होता है उसे उपालिजिह्वा या गलबिल कहा जाता है।

(11) स्वरयंत्रावरण –

स्वरयंत्रावरण जिह्वामूल के नीचे पेड़ के पत्ते के समान उठा हुआ एक मांसल भाग होता है। यद्यपि यह भाग ध्वनि-उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार की सहायता नहीं करता किन्तु स्वरयंत्र की रक्षा करने के कारण परोक्षरूप से यह ध्वनि-प्रक्रिया को अक्षुण्ण रखता है।

यह भाग भोजन करते समय भोजन या पानी को श्वासनली में जाने से रोककर उसे भोजन नली में प्रवेश कराने में सहायक होता है।

(12) स्वरतंत्रियाँ–

अँगरेजी 'वोकलकार्ड्स' का अनुवाद कुछ लोगों ने स्वररज्जु किया है किन्तु जैसा ब्लाक एवं ट्रेगर ने लिखा है, इसका नाम अँगरेजी में भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें रज्जु जैसी कोई वस्तु नहीं होती। अँगरेजी में यह शब्द प्रचलित हो जाने के कारण मान्य हो गया है, किन्तु हिंदी में इसे स्वरतंत्रियाँ कहना ही अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि यह श्वासनली के अन्त में स्थित, कण्ठ में आगे से पीछे को फैला हुआ दो महीन तंत्रियों से निर्मित लचीली झिल्लियों का एक जोड़ा है। ये तंत्रियाँ ही स्वरतंत्रियाँ कहलाती हैं।

स्वरतंत्रि की झिल्लियाँ मुख्य रूप से चार अवस्थायें प्रहण करती हैं—

(अ) श्वासप्रक्रिया एवं अघोष ध्वनियों के उच्चारण के समय इसके दोनों भाग शिथिल एवं निस्पन्द पड़े रहते हैं और झिल्लियों के बीच के भाग, काकल से श्वास निकलती रहती है। अघोष ध्वनियों के उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों में कोई कम्पन नहीं होता है।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

1. स्वनविज्ञान की कितनी शाखाएँ हैं ? संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. पैलेटोग्राफ एवं काइमोग्राफ का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विकसित स्वनयन्त्रों का परिचय दीजिये।

NOTES

- (ब) घोष ध्वनियों के उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों के दोनों भाग बिलकुल समीप आकर एक दूसरे से रगड़ खाते हैं और स्वरतंत्रियों में कम्पन उत्पन्न करते हैं। ये कम्पन संगीतात्मक होते हैं और इसके योग से उच्चरित ध्वनियाँ घोष होती हैं।
- (स) उपलिजिह्वीयया काकल्यस्पर्श ध्वनियों के उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों के दोनों भाग परस्पर टकराकर झटके के साथ अलग हो जाते हैं। इस अवस्था में श्वास रगड़ के साथ बाहर निकलती है।
- (द) फुस्फुसाहट वाली ध्वनियों के उच्चारण के समय कोई स्वरतंत्रीय कम्पन नहीं होता है। ये ध्वनियाँ अघोष रहती हैं। इनके उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों के दोनों भाग परस्पर मिल जाते हैं परंतु नीचे की ओर थोड़ा सा भाग श्वास के आने जाने के लिए छुटा रहता है। इस खुले भाग से रगड़कर निकलने वाली वायु के द्वारा एक प्रकार की फुस्फुसाहटकी सृष्टि होती है।

(13) श्वासनलिका—

मानव का जीवन उसकी श्वासप्रक्रिया पर निर्भर करता है। श्वास लेने तथा निकालने के लिए हमारे सीने में दो फेफड़े हैं जो धौंकनी का काम देते हैं। इन फेफड़ों से कण्ठ तक एक नली है जिसके द्वारा फेफड़ों से निर्गत होने वाली वायु मुखविवर या नासिका विवर द्वारा निकलती है या भीतर की ओर जाती है। इसी नली को श्वासनलिका कहते हैं।

(14) नासिकाविवर —

जब अलिजिह्वा एवं कोमलतालु शिथिल पड़े रहते हैं तब श्वासनलिका से आने वाली समस्त वायु इसी नासिकाविवर से निकलती है। इसका पूर्ण विवेचन कोमलतालु प्रसंग में किया जा चुका है।

स्वन का स्वरूप—अवधारणा

स्वन 'ध्वनि' का पर्यायवाची शब्द है। सामान्य रूप में ध्वनि का बहुत व्यापक अर्थों में प्रयोग होता है, जिसमें वस्तुओं, पदार्थों, वाद्ययंत्रों, पशुओं, कीट पतंगों द्वारा उत्पादित ध्वनियाँ भी आ जाती हैं। परन्तु स्वनविज्ञान में मानव—मुह निःसृत वाक् ध्वनियों को ही स्थान मिलता है, जो स्वनविज्ञान में विवेच्य होती हैं। स्वनविज्ञान में स्वन या वाक्स्वन केवल उच्चरित ध्वनि है, जिसके संयोग से रूप, शब्द, पद, वाक्य और प्रोक्ति का स्वरूप निर्मित होता है।

डैनिपल जोन्स ने स्वन को निम्नलिखित अनुसार परिभाषित किया है—

“स्वन मनुष्य के विकल्प परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रवणन्द्रिय द्वारा अविकल रूप से ग्रहीत शब्द लहरी है।”

इस परिभाषा के अनुसार वाक् स्वन में तीन विशेषताएँ हैं जो सामान्य ध्वनि से विलग करती हैं।

पहली विशेषता यह कि वाक् स्वन उच्चारण अनयवों द्वारा उत्पादित ध्वनि है। दूसरी यह कि वाक्स्वन का उच्चारण सुनिश्चित स्थान और प्रयत्न के प्रयोग से होता है। और तीसरी विशेषता यह कि वाक्स्वन का ग्रहण अविकल हो अर्थात् श्रवण में किसी प्रकार का अवरोध न हो।

अतः स्वन के संबंध में कहा जा सकता है कि—वाक्स्वन भाषा की वह लघुतम इकाई है, जिसका उच्चारण सुनिश्चित स्थान और प्रयत्न के माध्यम से होता है।

स्वनों का वर्गीकरण—

श्वास के निकलते समय रुकावट होने या न होने के आधार पर मानव ध्वनियों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

- (1) स्वर। (2) व्यंजन।

(1) स्वर—

वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में निर्गत श्वास में कहीं अवरुद्धता न हो, स्वर कहलाती हैं। स्वरों के वैभिन्न का कारण मुख—विवर की विभिन्न मुद्राओं—जिह्वा के पृथक—पृथक भागों का विभिन्न मात्रा में ऊपर उठने पर—निर्भर होता है।

समस्त स्वर प्रायः संघोष होते हैं किन्तु कुछ भाषाओं में ऐसे भी स्वर पाये जाते हैं जिन्हें संघोष ध्वनियों के अंतर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। ऐसे स्वरों को फुस्फुहासट वाले स्वर कहते हैं। वास्तव में फुस्फुहासट वाले स्वर प्रकृत स्वर नहीं हैं।

(2) व्यंजन -

वे ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण में निर्गत श्वास में कहीं न कहीं अवरुद्धता हो, व्यंजन कहलाती हैं।

हिंदी में दो व्यंजन ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनमें बहुत कम अवरुद्धता होती है। ये ध्वनियाँ अर्द्धस्वर (य, व्) या अर्द्धव्यंजन कहलाती हैं।

स्वर एवं व्यंजनों की भिन्नता मुखरता में भी निहित है। स्वरों की मुखरता व्यंजनों की अपेक्षा अधिक होती है। इसी मुखरता के कारण स्वर ध्वनियाँ आक्षरिक होती हैं। किन्तु इस नियम के भी अपवाद हैं क्योंकि संसार की कई भाषाओं में कुछ व्यंजन भी अक्षर संरचना करते हैं।

स्वरों का वर्गीकरण -

स्वरों का वर्गीकरण मुख्य तीन आधारों पर किया जा सकता है -

1. जिह्वा के भागों की दृष्टि से।
2. जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से।
3. ओठों की आकृति की दृष्टि से।

जिह्वा के भागों की दृष्टि से -

(1) स्वरों का प्रथम वर्गीकरण जिह्वा के भाग की दृष्टि से किया जाता है। इस दृष्टि से तीन वर्ग होते हैं-

1. जिह्वा के अग्रभाग द्वारा निर्मित अग्रस्वर। जैसे-(ई, इ, ए, ऐ)
2. जिह्वा के पश्चभाग द्वारा निर्मित पश्चस्वर। जैसे (ऊ, उ, ओ, औ, आ)
3. जिह्वा के मध्य भाग से निर्मित केन्द्रीयस्वर। जैसे-(अ)

जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से-

(2) यह वर्गीकरण स्वर-सीमा के भीतर जिह्वा की ऊँचाई की मात्रा पर किया जाता है। स्वरों को इस आधार पर मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जाता है। किन्तु इस दृष्टि से इससे भी अधिक भागों में स्वरों को विभाजित करने में कोई सैद्धांतिक रोक नहीं है। ब्लाक एवं ट्रेगर ने स्वरों को सात भागों में विभाजित किया है। इसको आगे एक तालिका के द्वारा प्रदर्शित किया जाएगा। यहाँ पर स्वरों को केवल चार ही भागों में विभाजित करके उनका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

- | | | | |
|-----------|--------------|--------------|----------|
| 1. सम्वृत | 2. अर्धसंवृत | 3. अर्धविवृत | 4. विवृत |
|-----------|--------------|--------------|----------|

1. सम्वृत- जब जिह्वा और स्वर-सीमा के मध्य कम से कम स्थान खाली रहता है तब स्वरों को संवृत स्वर कहते हैं। जैसे-

(अग्रसंवृत-ई, इ तथा पश्चसंवृत-ऊ, उ)

2. अर्धसम्वृत-जब जिह्वा और स्वर-सीमा के मध्य संवृत की अपेक्षा तनिक अधिक स्थान खाली रहता है तब स्वरों को अर्धसंवृत कहते हैं। जैसे -

(अग्र अर्धसम्वृत-ए तथा पश्च अर्धसम्वृत-ओ)

3. अर्धविवृत-जब जिह्वा और स्वर-सीमा के मध्य विवृत की अपेक्षा तनिक कम स्थान खाली रहता है तब स्वरों को अर्धविवृत कहते हैं। जैसे-

(अग्र अर्धविवृत-ऐ तथा पश्च अर्धविवृत औ)

4. विवृत-जब जिह्वा तथा स्वर-सीमा के मध्य अधिक से अधिक स्थान खाली रहता है तब स्वरों को विवृत कहते हैं। जैसे -

(पश्च विवृत-आ)

(अग्र विवृत का हिंदी में अभाव है)

NOTES

3. ओठों की आकृति की दृष्टि से—

स्वरों के दो वर्ग किए जाते हैं। स्वरों के उच्चारण में जब ओंठ गोलाकार हों तब स्वरों को वृत्ताकार कहा जाता है। इसके विपरीत जब ओंठ गोलाकार न हों तब उन्हें अवृत्ताकार कहा जाता है। किसी भी स्वर को वृत्ताकार या अवृत्ताकार करके बोला जा सकता है।

स्वरों के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार को निम्नलिखित तालिकाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

मानस्वर—

आवश्यकता—जब किसी व्यक्ति को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य कोई विदेशी भाषा सीखनी पड़ती है तो उसके लिए उस भाषा के स्वरों के उच्चारण स्थान का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। जहां इस प्रकार की भाषा अध्यापकों से सीखी जाती है वहां उच्चारण सीखने में इसलिए कठिनाई नहीं होती कि अध्येता, अध्यापक से शुद्ध उच्चारण को श्रवण द्वारा ग्रहण कर धीरे-धीरे सीख लेता है। विदेशी भाषा के स्वरों का उच्चारण सीखते समय अध्येता यह स्पष्टरूप से समझ जाता है कि उसकी मातृभाषा में इनका उच्चारण—स्थान क्या है तथा जिस भाषा को वह सीख रहा है उसमें इनका उच्चारण—स्थान कहां है? इस प्रक्रिया द्वारा ही विदेशी भाषा का शुद्ध उच्चारण सीखा जा सकता है। किन्तु आज के व्यस्त जीवन में, लोगों में, विदेशी भाषा अध्यापकों की अपेक्षा स्वयं शिक्षकों से अधिक सीखनी पड़ती है और इस प्रकार इनका ज्ञान कानों से अधिक चक्षुओं के माध्यम से ही प्राप्त करना पड़ता है।

इस दशा में विभिन्न भाषाओं के स्वरों के उच्चारण—स्थान का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई—न—कोई वैज्ञानिक पद्धति आवश्यक है। इसी पद्धति के परिणामस्वरूप मानस्वर अस्तित्व में आये हैं। इनके आविष्कर्ता लन्दन विश्वविद्यालय के प्रो. डेनियल जोन्स तथा उनके सहयोगी हैं। अनेक प्रयोगों के पश्चात् ही इनका स्थान निश्चित किया गया है। इनकी संख्याएं आठ हैं।

वस्तुतः ये अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि किसी विशिष्ट भाषा अथवा भाषाओं के स्वर नहीं हैं अपितु ये अमूर्त स्वन हैं तथा विभिन्न भाषाओं के स्वरों के स्थान निर्धारित करने में ये मापदण्ड का काम करते हैं।

मानस्वर निर्धारित करने की विधि— मानस्वर 'अ' के उच्चारण में जिह्वा प्रायः शायित अवस्था में रहती है, किन्तु इसका अग्रभाग किंचित उठा रहता है। इस अवस्था के बाद, जब जिह्वा के अग्रभाग को ऊपर उठाकर कठोर तालु के खास स्थान तक ले जाते हैं, जहां तक किसी प्रकार का संघर्ष अथवा अवरोध नहीं होता तो मानस्वर 'ई' का स्थान होता है। इसी प्रकार मानस्वर 'आ' के उच्चारण में जिह्वा प्रायः प्रकृतावस्था में रहती है किन्तु उसका पिछला भाग किंचित उठा रहता है। इस अवस्था के बाद जब जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर उठाकर कोमल तालु के उस उच्च स्थान तक ले जाते हैं जहां किसी प्रकार का संघर्ष अथवा अवरोध नहीं होता तो यह मानस्वर 'ऊ' का स्थान होता है।

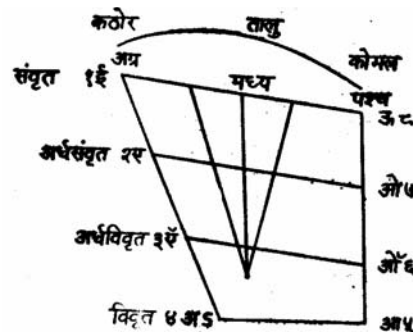
जिह्वा के अग्रभाग 'ई' तथा 'अ' बिन्दुओं एवं पश्चभाग के 'ऊ' तथा 'आ' बिन्दुओं को मिलाकर जो रूप बनता है उसे अर्ध विवृत एवं अर्धसम्भृत रूप में बांटने से चार मानस्वर और बनते हैं। ये इस प्रकार हैं—

जिह्वा के अग्रभाग के आधार पर—

- अर्धसम्भृत अग्रस्वर — 'ए'
- अर्थ विवृत अग्रस्वर — 'ऐ'

जिह्वा के पश्चभाग के आधार पर—

- अर्धसम्भृत अग्रस्वर — 'ओ'
- अर्थ विवृत अग्रस्वर — 'औ'



कुछ स्वर ऐसे भी हैं जिसका उच्चारण जिह्वा के मध्यभाग के कोमक तालु की ओर स्वर-सीमा तक विभिन्न मात्रा में ऊपर उठने के आधार पर होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये केन्द्रीय या मध्य स्वर कहलाते हैं।

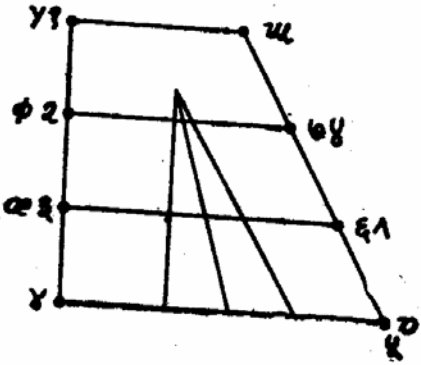
मानस्वरों को प्रायः निम्नलिखित चतुष्कोण में दिखाया जाता है, यद्यपि भाषाविज्ञान की पुस्तकों में, परम्परा से, इसे त्रिकोण कहा जाता है।

गौण मानस्वर-

ऊपर आठ मानस्वरों का उल्लेख हो चुका है। इन्हीं मानस्वरों के समान अन्य स्वर भी उल्लेखनीय हैं। इन्हें भाषाविज्ञानियों ने गौण मानस्वर के नाम से अभिहित किया है।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, ओठों की आकृति की दृष्टि से स्वरों को दो वर्गों- वृत्ताकार तथा अवृत्ताकार- में विभाजित किया जा सकता है। प्रायः संसार की भाषाओं में अग्रस्वर अवृत्ताकार तथा पश्चस्वर वृत्ताकार रूप में ही उच्चरित होते हैं। किन्तु अनेक भाषाओं में अग्रस्वरों को वृत्ताकार तथा पश्चस्वरों को अवृत्ताकार रूप में उच्चरित किया जाता है। इन स्वरों को भाषाविज्ञानी 'गौण मानस्वर' कहते हैं। वस्तुतः ये गौण मानस्वर एक दूसरे के आरोप से बनते हैं, अर्थात् जब बग्न मानस्वरों के उच्चारण में ओठों की स्थिति पर पश्चमानस्वरों के उच्चारण में ओठों की स्थिति का आरोप किया जाता है तब 'अग्र गौण मानस्वर' बनते हैं। इस प्रकार जब पश्चमानस्वरों के उच्चारण में ओठों की स्थिति पर अग्र मानस्वरों के उच्चारण में ओठों की स्थिति का आरोप किया जाता है तब 'पश्च गौणमानस्वर बनते हैं।'

सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रकार आठ गौण मानस्वर बनने चाहिए, किन्तु भाषा-विज्ञानी सात ही 'गौण मानस्वरों का उल्लेख करते हैं, क्योंकि संसार की किसी भी भाषा में, अर्धवृत्त अग्रस्वर पर पश्चस्वर की ओठों की स्थिति का आरोप किए हुए रूप में कोई भी स्वर प्राप्त नहीं है। इसीलिए भाषाविज्ञानियों सात ही गौण मानस्वरों के लिपि-चिह्नों को माना है। गौण मानस्वरों को मानस्वरों की भांति ही, नीचे, चतुष्कोण में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके साथ ही उन लिपि-चिह्नों को भी दिया जा रहा है जिसे प्रायः सभी भाषाविज्ञानी स्वीकार करते हैं।



व्यंजन स्वरों का वर्गीकरण -

वर्गीकरण के आधार-व्यंजनों का वर्गीकरण मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन आधारों पर किया जा सकता है -

- (1) घोषत्व के आधार पर।
- (2) उच्चारणप्रयत्न के आधार पर।
- (3) उच्चारणस्थान के आधार पर।

उपर्युक्त तीन आधारों के अतिरिक्त एक चौथा आधार भी है जिसे 'प्राणत्व' का आधार कहते हैं। यद्यपि पाश्चात्य भाषाविज्ञानी इसे महत्त्व नहीं देते किन्तु संस्कृत एवं उससे उद्भूत अन्य भारतीय भाषाओं के संदर्भ में 'प्राणत्व' का महत्त्व है। तथा भारतीय प्राचीन वैयाकरणों से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाशास्त्री 'प्राणत्व' को आधार मानकर व्यंजनों का वर्गीकरण करते हैं।

घोषत्व के आधार पर -

इस आधार पर व्यंजनों को, अघोष तथा घोष या सघोष, दो वर्गों में रखा जा सकता है।

- (1) अघोष-जिन व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कंपन नहीं होता है वे अघोष कहलाती हैं।

(2) सघोष या घोष-अघोष ध्वनियों के विपरीत जिन व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है घोष या सघोष कहलाती है।

उच्चारणप्रयत्न के आधार पर –

विभिन्न व्यंजनों के उच्चारण में ध्वनियंत्र के विभिन्न अवयवों को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। इस प्रकार से इनके अवरोध प्रकृति के आधार पर समस्त व्यंजनों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(1) पूर्णतः अवरोधी-जब निर्गत श्वास का पूर्ण अवरोध होता है तब ध्वनियाँ पूर्णतः अवरोधी कहलाती हैं। इन अवरोधी ध्वनियों को भी उच्चारण प्रयत्न के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

(क) स्पर्श, (ख) स्पर्श संघर्षी

(क) स्पर्श-जब निर्गत श्वास एक स्फोट के साथ बाहर निकलती है तब इन स्फोट ध्वनियों को स्पर्श ध्वनियाँ कहते हैं। इन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास, एक क्षणमात्र के लिए, पूर्ण अवरोध के साथ, कहीं न कहीं अवश्य रुकती है। हिंदी वर्गीय व्यंजन स्पर्श होते हैं।

(ख) स्पर्श संघर्षी-इन ध्वनियों के उच्चारण में स्पर्श व्यंजनों की भाँति ही निर्गत श्वास एक क्षण के लिए पूर्णतया अवरुद्ध होती है किन्तु इनके निष्कासन के समय वायु संघर्षण के साथ निकलती है।

(2) आंशिक अवरोधी-

जिन व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में निर्गत वायु का पूर्ण रूप से अवरोध नहीं होता है वे आंशिक अवरोधी कहलाती हैं। इन्हें मुख्यरूप से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है-

क) संघर्षी।	ख) पार्श्विक।	ग) लुण्ठित।
घ) नासिक्य।	ड.) उत्क्षिप्त।	च) अर्धस्वर।

(क) संघर्षी-

संघर्षी व्यंजनों के उच्चारण में निर्गत वायु का पूर्णरूप से अवरोध नहीं होता है। इन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास निकलने का मार्ग थोड़ा सा खुला रहता है, फलतः वायु रगड़ खाकर बाहर निकलती है।

(ख) पार्श्विक-

पार्श्विक व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा की नोक ऊपरी मसूड़े से लगी रहती है; इसके परिणामस्वरूप जिह्वा का एक पार्श्व या दोनों पार्श्व खुले रहते हैं और निर्गत वायु इन्हीं पार्श्वों से बाहर निकलती है। इस अवस्था में उच्चरित ध्वनि पार्श्विक कहलाती है।

(घ) नासिक्य-

नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में, वायु-प्रवाह, कोमलतालु के नीचे झुक जाने के कारण नासिकाविवर से निकल जाता है।

(ड) उत्क्षिप्त-

इन ध्वनियों का उच्चारण, जिह्वा की नोक को उलटकर, निचले भाग से कठोरतालु को झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर, किया जाता है।

(च) अर्धस्वर-

इनके उच्चारण में जिह्वा संवृत-स्थान से विवृत स्थान की ओर जाती है। इन्हें स्वर तथा व्यंजन की मध्यवर्ती ध्वनि कहा जाता है।

उच्चारण स्थान की दृष्टि से-

इस वर्गीकरण के आधार पर अवरोध स्थान है। दूसरे शब्दों में निर्गत वायु जिस स्थान पर अवरुद्ध होती है उसके अनुसार ही ध्वनियों को वर्गीकृत किया जाता है। इसके निम्नलिखित वर्ग हो सकते हैं-

1. काकल्य।
2. अलिजिह्वीय।
3. कोमल तालव्य।

NOTES

4. तालव्य।
5. मूर्धन्य।
6. वत्स्य।
7. दन्त्य।

8. ओष्ठ्य — $\begin{cases} 1. दन्त्याष्ठ्य \\ 2. द्वयोष्ठ्य \end{cases}$

1. काकल्य—इन ध्वनियों के उच्चारण में, स्वरयंत्र से निर्गत होने वाली वायु, मुख पर संघर्षण करती हुई निकलती है। इसमें मुखद्वार खुला रहता है।
2. अलिजिहवीय—इन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा के पिछले भाग का अलिजिह्वा के पार्श्व प्रदेश से संस्पर्श होता है।
3. कोमल तालव्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा का पिछला भाग कोमलतालु पर निर्गत वायु को अवरुद्ध करके निष्कासित करता है, तब उच्चरित ध्वनियाँ कोमलतालव्य या कण्ठ्य कहलाती हैं।
4. तालव्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग कठोर तालु को स्पर्श करके श्वास को अवरुद्ध करता है, तब उच्चरित ध्वनि तालव्य कही जाती है।
5. मूर्धन्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक उलटकर मूर्धा का संस्पर्श कर श्वास को अवरुद्ध कर देती है तब उच्चरित ध्वनि मूर्धन्य कहलाती है।
6. वत्स्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक, दन्त पंक्तियों के ऊपरी हिस्से, मसूड़े से संबद्ध होकर वायु को अवरुद्ध करती है, तब उच्चरित ध्वनि वत्स्य कहलाती है।
7. दन्त्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक ऊपरी दन्त पंक्ति के सामने वाले दाँत से संबद्ध होकर वायु को अवरुद्ध करती है तब उच्चरित ध्वनि दन्त्य कहलाती है।
8. दन्तोष्ठ्य—(1) जब ध्वनियों के उच्चारण में नीचे का ओठ ऊपरी दन्तपंक्ति के सामने वाले दाँत से संपर्क स्थापित करके वायु को अवरुद्ध करा है, तब उच्चरित ध्वनि दन्तोष्ठ्य कहलाती है।
9. द्वयोष्ठ्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में निचला ओठ ऊपरी ओठ से संपर्क स्थापित करके वायु को अवरुद्ध करता है, तब उच्चरित ध्वनि द्वयोष्ठ्य कहलाती है।

प्राणत्व के आधार पर —

1. अल्पप्राण—जिन व्यंजनों के उच्चारण में अल्प मात्रा में वायु लगती है, वे अल्पप्राण हैं। हिंदी में प्रथम व तृतीय वर्ग, पंचम तथा य, र ल व अल्प प्राण है।
2. महाप्राण—जिन व्यंजनों के उच्चारण में वायु का अधिक प्रयोग होता है, वे महाप्राण कहलाते हैं। हिंदी में द्वितीय व चतुर्थ वर्ग एवं ह महाप्राण कहलाते हैं।

स्वनिक गुण

भाषाविज्ञान के अंतर्गत स्वनों के रूप में मूलतः स्वर और व्यंजन का अध्ययन होता है किन्तु भाषा को मूर्त रूप देने में कतिपय अन्य तत्त्वों का योगदान भी महत्वपूर्ण होता है। ऐसे तत्त्वों को स्वन गुण कहा जाता है। स्वन गुण एक ही प्रकार के शब्दों में केवल उच्चारण भेद से अर्थभेद उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिए स्वन गुण का भाषा में विशेष महत्व होता है। सामान्यतः स्वन गुण उन्हें कहते हैं जो स्थान और प्रयत्न के अतिरिक्त ध्वनियों के उच्चारण को प्रभावित करते हैं। ये स्वयं स्वन नहीं होते किन्तु अर्थ भेदक होते हैं। अतः इनकी गणना स्वनियों में की जाती है। स्वन गुण के अलावा इन्हें अभिखंडीय अभिलक्षण भी कहा जाता है। प्रमुख स्वन गुण हैं—

1. दीर्घता
2. बलाघात
3. सुर
4. अनुतान
5. संगम

1. **दीर्घता**—दीर्घता का संबंध मात्रा से है। किसी स्वर के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने ह्रस्व, दीर्घ और प्लूत मात्रा के तीन रूप माने हैं। इनमें एक मात्रा वाले स्वन को ह्रस्व, दो मात्रा वाले स्वन को दीर्घ तथा उससे अधिक मात्रा वाले स्वन को प्लूत कहा जाता है। यथा—

NOTES

- 2. आघात—**स्वनों का उच्चारण करते समय सभी स्वनों पर बराबर बल नहीं पड़ता किसी पर अधिक बल पड़ता है किसी पर कम। जिन ध्वनियों के उच्चारण में अधिक बल का प्रयोग होता है उन्हें बलाघात युक्त कहा जाता है। जिन ध्वनियों पर बलाघात होता है वे पार्श्ववर्ती ध्वनियों से अधिक मुखर सुनाई पड़ती हैं। बलाघात की दो प्रक्रिया होती है, जब बल तान—या स्वर कके माध्यम से होता है तो इसे स्वराघात कहते हैं और जब श्वास वायु के प्रयोग से होता है तो उसे बलाघात कहते हैं। बलाघात अक्षर शब्द और वाक्य तीनों पर होता है। अतः इसके अक्षर बलाघात, शब्द बलाघात और वाक्य बलाघात भेद होते हैं। बलाघात भी अर्थभेदक होते हैं।
- 3. सुर—**स्वनों का उच्चारण करते समय जब घोष ध्वनियों का उच्चारण होता है तो स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है। सुर का संबंध स्वनों की कम्पन वृत्ति से है। कम्पन की यह गति अभ्यास से घटाई—बढ़ाई जा सकती है। कुछ भाषाओं में सुर का महत्त्व अर्थभेदकता की दृष्टि से होता है। चीनी भाषा सुरात्मक है। इसी प्रकार वैदिक भाषा भी सुर प्रधान है। वेदों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित सुर के तीन भेद किए गए हैं। स्वन विज्ञान में इन्हें आरोही, अवरोही और समरेखा द्वारा इंगित किया जाता है।
- 4. अनुतान—**शब्द या वाक्य में सुरों के आरोह—अवरोह के क्रम को सुर लहर कहते हैं। इसे ही अनुतान (Intonation) भी कहा जाता है। सुर लहर घोष और अघोष दोनों ध्वनियों से सम्बद्ध है।
- 5. संगम (Juncture)—**बोलते समय एक स्वन के पश्चात् जब दूसरा स्वन उच्चरित होता है तो कभी—कभी थोड़ा विराम आता है उसे ही संगम कहते हैं।

स्वनिक परिवर्तन —

पूर्वतर भाषा के लिखित आलेख, भाषण एवं भाषाओं के बीच समानता—असमानता तथा स्थानीय बोलियों की विविधता इन सभी से प्रकट होता है कि समय के साथ भाषाओं में परिवर्तन होता है। वस्तुतः परिवर्तन भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। संभवतः ध्वनियों इससे सबसे अधिक प्रभावित होती हैं। हिंदी एवं उसकी बोलियों के हजारों तद्भव शब्द इसी स्वन (ध्वनि) परिवर्तन के परिणाम हैं। मस्तक से माथा, कूष्माण्ड से कुम्हड़ा, दुर्लभ से दूल्हा, गर्दभ से गधा, सुवर्ण से सोना जैसे शब्द स्वन परिवर्तन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

स्वन परिवर्तन प्रारंभ में उच्चरित भाषा में दिखाई पड़ता है, जिसे समकालीन वैयाकरण उसे अशुद्ध की संज्ञा देता है। किन्तु शताब्दियों बाद ये परिवर्तन इतने व्यापक स्तर (ध्वनि, रूप, वाक्य आदि) में होते हैं कि उनसे एक नई भाषा का रूप दिखाई पड़ता है। संस्कृत से प्राकृतों, अपभ्रंशों एवं उनसे आधुनिक आर्यभाषाओं का प्रकाश में आना स्वनिक परिवर्तन का ही व्यापक प्रभाव है। इतना ही नहीं ग्रीक, लैटिन, पुरानी जर्मन भाषाओं से निकली आधुनिक यूरोपीय भाषाओं की भी यही कहानी है। यहाँ तक कि जब हम दूसरी भाषाओं के शब्द लेते हैं तो उनमें भी हम अपनी भाषा के अनुरूप स्वन परिवर्तन कर लेते हैं। लैन्टर्न झ लालटेन, लांगक्लाथ झ लंकलाठ, लार्ड झ लाठ आदि शब्दों में स्वनिक परिवर्तन देखा जा सकता है।

स्वन परिवर्तन के कारण—

ऊपर जिस स्वनिक परिवर्तन के संबंध में चर्चा की गई है, उसके अनेक कारण होते हैं। इनमें कुछ आंतरिक और कुछ बाह्य कारण होते हैं।

आंतरिक कारण —

- 1. अनुकरण की अपूर्णता—**भाषा समाज सापेक्ष होती है। अर्थात् भाषा व्यक्ति, परिवार और समाज से प्राप्त की जाती है। भाषा को प्राप्त करने वाला व्यक्ति जन्म से कुछ दिनों बाद ही माँ, परिवार जनों एवं समाज के लोगों से संपर्कित होकर भाषा—ध्वनियों एवं रूपों को ग्रहण करने लगता है। इस ग्रहण की प्रक्रिया को ही अनुसरण कहते हैं। यह अनुकरण कभी भी शत प्रतिशत नहीं होता अर्थात् अनुकरण अपूर्ण होता है जिससे अनुकरणकर्ता की बोली में विकार या विकास हो जाता है। यह विकार अधिकतम स्वनों में होता है। हस्त से हाथ, मस्तक से माथा, अंगुलिका से उँगली जैसे हजारों शब्दों में यह ध्वनि विकार देखा जा सकता है।
- 2. प्रयत्नलाघव—**प्रयत्न लाघव मनुष्य के स्वभाव का अंग है। वह कठिन कार्यों से बचने का प्रयत्न करता है। इसीलिए वह भाषा में भी क्लिष्ट ध्वनियों की जगह सरल ध्वनियों को अपनाता है। सत्य से सच कर्म से करम, मर्म

से मरम, धर्म से धरम चर्म से चाम आदि शब्दों का विकास इसी प्रवृत्ति की देन है। हिंदी की बोलियों में श, ष ए वनियों के स्थान में केवल स ध्वनि का पाया जाना भी प्रयत्नलाघव ही है।

स्वन विज्ञान : स्वरूप,
अवधारणा एवं शाखाएँ

NOTES

- अज्ञान—** भाषा का हस्तान्तरण उच्चारण और श्रवण की प्रक्रिया है। व्यक्ति किसी शब्द को जिस रूप में सुनता है, उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करता। उसके अपने भाषिक संस्कार उसका रूप रंग बदल देते हैं। इसीलिए एक देहाती के लिए स्टेसन के लिए टेशन, सिगनल के लिए सिंगल, लैंटर्न के लिए लालटेन, लांगक्लाथ के लिए लंकलाठ, कूष्माण्ड के लिए कौंहड़ा जैसे शब्द बन गए।
- वाक्यंत्र की विभिन्नता—** किसी भी दो व्यक्तियों का वाक्-यंत्र ठीक-ठीक एक ही प्रकार का नहीं होता, इसी कारण किसी भी एक ध्वनि का उच्चारण दो व्यक्ति ठीक एक तरह से नहीं कर सकते। एक से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में कुछ अंतर अवश्य पड़ेगा। ये छोटे-छोटे अंतर कुछ दिनों में जब अधिक हो जाते हैं, तो स्पष्ट हो जाते हैं।
- भ्रामक या लौकिक व्युत्पत्ति —** भ्रामक व्युत्पत्ति का संबंध भी अशिक्षा से है, पर साथ ही इसमें दो मिलते-जुलते शब्दों का होना भी आवश्यक है। भ्रामक व्युत्पत्ति में होता है कि लोग किसी अपरिचित शब्द के संसर्ग में जब आते हैं और यदि मिलता-जुलता कोई शब्द उनकी भाषा में पहले से रहता है तो उसे परिचित शब्द के स्थान पर उस परिचित शब्द का उच्चारण करने लगते हैं और इस प्रकार ध्वनि परिवर्तन हो जाता है।
- बोलने में शीघ्रता—** बोलने में शीघ्रता के कारण भी परिवर्तन हो जाता है—जब ही कब ही अब ही तथा तब ही के जभी, कभी, अभी और तभी इसी के उदाहरण हैं।
- भावुकता—** भावुकता के कारण भी शब्दों में पर्याप्त ध्वनि परिवर्तन देखा गया है। विशेषतः लोक प्रचलित व्यक्तिवाचक नाम तो अधिकांशतः इसी ध्वनि परिवर्तन के परिणाम हैं। संबंधसूचक संज्ञायें 'अम्मा', 'चाची', 'बेटी' प्यारपूर्ण, भावुकता में ही 'अम्मी', 'चच्ची' या 'चचिया' तथा 'बिट्टो' या 'बिट्टी' आदि हो गयी हैं।
- विभाषा का प्रभाव —** एक राष्ट्र, जाति या संघ दूसरे के संपर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि विनिमय भी होता है। एक-दूसरे की विशेष ध्वनियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। कुछ लोगों का विचार है कि भारोपीय भाषा में 'ट' वर्ग नहीं था। द्रविड़ों के प्रभाव से भारत में आने पर आर्यों के ध्वनि-समूह में उनका प्रवेश हो गया।

वाह्य कारण —

- भौगोलिक—** कुछ लोगों के अनुसार यदि कोई जाति किसी स्थान से हटकर अधिक ठण्डे स्थान पर बस जाती है तो उनमें विवृत्त ध्वनियों का विकास नहीं होता और जो विवृत्त रहती है, उनका भी संवृत की ओर झुकाव होने लगता है। गर्म देश में जाने पर ठीक इससे उलटा स्वन परिवर्तन होता है।
- सामाजिक और राजनैतिक—** सामाजिक अवस्था के अनुसार भी ध्वनियों में परिवर्तन होता है। यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी संवृत की ओर झुकाव रहता है। इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है, अधिकतर शब्दों के कुछ ही भाग पर बल दिया जाता है। जिससे कुछ ध्वनियों का लोप संभव होता है। इसके विरुद्ध यदि समाज में सुख-शांति रही तो विद्या का प्रचार रहेगा और इसके कारण लोग अधिक शुद्ध बोलने का प्रयास करेंगे। इसी स्थिति में सांस्कृतिक पुनरूत्थान भी होते हैं और इनका भी अपवाद स्वरूप कभी-कभी ध्वनि पर प्रभाव पड़ता है।
- ऐतिहासिक—** विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ध्वनियों के विविध परिवर्तनों को प्रभावित करती हैं। ध्वनियाँ विभिन्न कालों में, विभिन्न परिस्थितियों जैसे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि के प्रभाव से बदलती रहती हैं। इस प्रकार एक भाषा जब अन्य भाषाओं के संपर्क में आती है तब उसकी ध्वनियों पर उन भाषाओं की ध्वनियों का प्रभाव पड़ता है फलस्वरूप उनमें परिवर्तन आ जाता है।

स्वन परिवर्तन की दिशाएँ —

स्वन परिवर्तन कुछ सुनिश्चित दिशाओं में होता है। प्रमुख दिशाएँ निम्नलिखित हैं—

- आगम—किसी शब्द में, उच्चारण की सुविधा के लिए, बाहरी स्वन का आ जाना 'आगम' कहलाता है। यह आदि, मध्य इस्कूल, इस्टेशन, तथा अंत्यत स्थितियों में हो सकता है।
स्वरागम—भक्त (भगत), धर्म (धरम)

स्व-प्रगति की जाँच करें—

- स्वन विज्ञान की तीनों शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
- विभिन्न द्वारा अवयवों के नाम बताइए तथा ध्वनि उत्पादन में ओंठ कार्य समझाइए।
- मानव ध्वनियों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

NOTES

2. लोप-शब्द में विद्यमान किसी ध्वनि का लुप्त हो जाना 'लोप' कहलाता है। यह आगम से उल्टी प्रक्रिया है। यह भी अंत्य, मध्य तथा आदि स्थितियों में हो सकता है।
स्वर लोप-आस (आशा), सिल (शिला)
व्यंजन लोप-थान (स्थान), थल (स्थल)
3. विपर्यय- शब्द में प्रयुक्त ध्वनियों का आगे-पीछे हो जाना 'विपर्यय' कहलाता है। इसके दो प्रमुख भेद हैं-स्वर विपर्यय और व्यंजन विपर्यय। जैसे-
अ. स्वर विपर्यय-कछु (कुछ) (ब्रज भाषा),
आ. व्यंजन विपर्यय-तगमा (तमगा)
4. समीकरण-असमान ध्वनियों का समान हो जाना 'समीकरण' कहलाता है। इसके भी दो प्रमुख भेद हैं-स्वर समीकरण और व्यंजन समीकरण। जैसे -
अ. स्वर समीकरण-हुकुम (हुकम) बघेली
आ. व्यंजन समीकरण-धम्म (धर्म), चक्का (चक्र)
5. विषमीकरण-यह समीकरण से उल्टा परिवर्तन है। इसमें समान ध्वनियाँ असमान हो जाती हैं। इसके भी दो भेद हैं-स्वर विषमीकरण और व्यंजन विषमीकरण। जैसे-
अ. स्वर विषमीकरण भित्ति-भीत
आ. व्यंजन विषमीकरण-काग (काक)
6. ह्रस्वीकरण-शब्द में स्थित किसी दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाना 'ह्रस्वीकरण' कहलाता है, जैसे-अचरज (आश्चर्य), बदाम (बादाम) (उच्चरित भाषा में)।
7. दीर्घीकरण-किसी ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना 'दीर्घीकरण' कहलाता है, जैसे-काँटा (कंटक), जीभ (जिह्वा), हाथ (हस्त) आदि।
8. घोषीकरण-किसी अघोष व्यंजन का घोष हो जाना 'घोषीकरण' कहलाता है, जैसे-सदी (शती), मगर (मकर), साग(शाक), कंगन (कंकण), काग (काक)
9. अघोषीकरण-घोष व्यंजन का अघोष हो जाना 'अघोषीकरण' कहलाता है, जैसे-मदत (मदद),
10. अल्प प्राणीकरण-महाप्राण व्यंजनों का अल्पप्राण हो जाना 'अल्पप्राणीकरण' कहा जाता है, जैसे-हाथ (हात)
11. महाप्राणीकरण-जब शब्द से स्थित कोई अल्पप्राण व्यंजन महाप्राण हो जाता है, तो उसे 'महाप्राणीकरण' कहते हैं जैसे-हस्त झहाथ, मस्तक झमाथा।

सार-संक्षेप

आधुनिक युग में स्वनविज्ञान का महत्व किसी भाषा के समस्त प्रकार के अध्ययनों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यद्यपि एतद् संबंधी अध्ययन के बीच भारत के संदर्भ में वैदिक काल से ही देखे जा सकते हैं। किंतु इस प्रकार के विवेचन का सुस्पष्ट रूप महर्षि पाणिनि के 'अण्टाध्यायी' में दिखाई पड़ता है। उनके उपरान्त प्रातिसाख्यों के पार्षद सूत्रों में स्वनविज्ञान एवं स्वन प्रक्रिया संबंधी विचार गुफित है। वस्तुतः जब संस्कृत का ज्ञान यूरोप पहुँचा और वहाँ के विद्वानों को इसकी स्वन-प्रक्रिया का ज्ञान हुआ तो उन्हें अपनी भाषा के स्वनों को गंभीरता से अध्ययन करने की प्रेरणा मिली, और यहीं से उन्ननीसवीं सदी में यूरोप के विद्वानों ने स्वनविज्ञान के गहन अध्ययन में प्रवृत्त हुए।

स्वनविज्ञान की परिभाषा- 'स्वनविज्ञान वह विज्ञान है जिसमें वागेन्द्रियों द्वारा उत्पादित स्वनों का सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक अध्ययन किया जाता है।

स्वनविज्ञान की शाखाएँ-(1) उच्चारणात्मक (2) सांवाहनिक या भौतिक (3) श्रवणात्मक या श्रौत्रिक

वागेन्द्रिय या वाग अवयव-वाग ध्वनियों के उच्चारण में शरीर के जिन अवयवों का उपयोग होता है उनके समूह को वागेन्द्रिय अथवा वागयंत्र या स्वनयंत्र के नाम से जाना जाता है। स्वनों के उच्चारण में मूल रूप में मुख के अवयव ही उपयोग में आते हैं जिनमें ओठ, दाँत, वत्स्य, तालु, जिह्वा, कौवा, नासिका विवर आदि प्रमुख हैं।

स्वनों के प्रकार या वर्गीकरण—स्वर तथा व्यंजन

स्वनों का वर्गीकरण—जिह्वा के भागों, जिह्वा की ऊँचाई तथा ओठों की आकृति की दृष्टि से होता है। जबकि व्यंजनों के वर्गीकरण के आधार —

(1) घोषत्व (2) उच्चारण प्रयत्न (3) उच्चारण स्थान तथा (4) प्रारम्भ हैं।

स्वन गुण—दीर्घता, बलाघात, सुर, अनुतान, संगम को स्वन गुणों के रूप में जाना जाता है।

स्वन परिवर्तन—भाषा सतत् परिवर्तनशील होती है। इनमें प्रमुख रूप में स्वन—परिवर्तन अत्यंत प्रभावकारी होते हैं—

इनके परिवर्तन के प्रमुख कारण —

अनुकरण की अपूर्णता, प्रयत्नलाघव, अज्ञान, वाग्यंत्र की भिन्नता, भ्रामक व्युत्पत्ति, बोलने की शीघ्रता, भावुकता, विभाषा का प्रभाव, भौगोलिक, सामाजिक, ऐतिहासिक प्रभाव आदि प्रमुख हैं।

ये परिवर्तन जिन दिशाओं में होते हैं—ये प्रमुखतः—आगम, लोप, समीकरण, विषमीकरण विपर्यय, ह्रस्वीकरण, दीर्घीकरण, धोषी एवं अधोषीकरण तथा अल्प व महाप्राणीकरण हैं।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. स्वनविज्ञान की तीन शाखाएँ— उच्चारणात्मक, ध्वनिक (= भौतिक) एवं श्रवणात्मक हो गयी है। स्वनविज्ञानी इन तीनों शाखाओं में अपने को प्रशिक्षित करता है। इस प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप वह किसी भी भाषा के वाग्स्वनों के सूख्म तत्वों को हृदयङ्गम करने में सक्षम हो जाता है। वह इन स्वनों को स्वयं उच्चरित करने के साथ-साथ इनका विशेष ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। वह अपनी वागिन्द्रियों को नियंत्रित करने में इतना दक्ष हो जाता है कि वह विविध भाषाओं के वाग्स्वनों का सहज रूप में उच्चारण कर सकता है। इसके लिए वह शरीर, विशेषतया सिर, कंठ, वक्ष आदि की रचना का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त वह भौतिकविज्ञान (फिजिक्स) का भी अध्ययन करता है, ताकि वह ऑसिलोग्राफ एवं स्पैक्टोग्राफ जैसे ध्वनि-यंत्रों का उपयोग कर सके। इस दृष्टि से स्वनविज्ञानी का कार्य बहुत टेक्निकल हो जाता है।

स्वनविज्ञान की जटिलता का अनुभव कर कतिपय विद्वान उसे पृथक् विज्ञान स्वीकार करने के पक्षधर हैं। उनके मतानुसार, भाषाविज्ञान जहाँ एक ओर भाषा का व्यवस्थित अध्ययन करता है, वहाँ दूसरी ओर स्वनविज्ञान स्वन-विषयक तत्वों के परिशीलन में व्यस्त रहता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस विचारधारा के भाषाविदों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। अधिकांश भाषाविद् स्वनविज्ञान को भाषाविज्ञान का अभिन्न अंग मानते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों को सशक्त बनाने के लिए स्वनविज्ञान की सहायता परमावश्यक है और यह कार्य स्वनविज्ञान को भाषाविज्ञान का अंग बनाने से ही सिद्ध हो सकता है।

2. **पैलेटोग्राफ**— यह वास्तव में धातु से बना हवा कृत्रिम तालु (पैलेट) है जिसे दन्तचिकित्सक स्वन के परीक्षण करने वाले व्यक्ति के तालु के आकार का बना देते हैं। यह बहुत हल्का और पतला होता है तथा इसे फ्रेंच चाक या पाउडर से रंग देते हैं। परीक्षण करते समय इसे स्वभाविक ढंग से दांतों में जमा लिया जाता है। इसके बाद परीक्षा किए जाने वाले स्वन को बोला जाता है। इस प्रकार बोलने से जिह्वा के स्पर्शवाले भाग का पाउडर पुछ जाता है। उसी समय पैलेट को बाहर निकालकर उसका फोटो ले लिया जाता है, जिससे मुख-विवर के अगले भाग में जिह्वा के आन्तरिक क्रिया-कलाप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यूरप के कतिपय स्वनविज्ञानी कृत्रिम तालु का व्यवहार न करके कठोर तालु पर रंगीन गोंद लगाकर भी जिह्वा के कार्य-कलाप की परीक्षा करते हैं।

काइमोग्राफ—स्वनों को उच्चरित करते समय, मनुष्य के नासारन्ध्र, मुखरन्ध्र तथा स्वरतंत्रियों में जो कम्पन होता है उसे इस तंत्र के द्वारा नापा जा सकता है। अधोष तथा घोष स्वनों के उच्चारण में जो कम्पन-भेद होता है, उसे स्पष्ट करने के लिए काइमोग्राफ का उपयोग किया जाता है। यह उल्लेखनीय बात है कि पैलेटोग्राफ के द्वारा कोमल तालु प्रदेश में उत्पन्न स्वनों की परीक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि कृत्रिम पैलेट केवल कठोर तालु प्रदेश को ही आच्छादित रखता है। इन स्वनों की परीक्षा काइमोग्राफ की सहायता से की जा सकती है। काइमोग्राफ के चित्रों से स्वनों की अनुनासिकता, महाप्राणता तथा दीर्घता आदि भी नापी जा सकती है।

NOTES

3. इधर द्वितीय महायुद्ध के बाद, स्वन-यंत्रों के निर्माण में, अमेरिका में जो प्रगति हुई है उसका ज्ञान भाषाविज्ञान के छात्रों के लिए परमावश्यक है। इन स्वन-यंत्रों ने भाषा-विश्लेषण के कार्य को बहुत सरल बना दिया है। ये यंत्र ऐसे हैं कि भाषण-प्रवाह को विखंडित करके, स्वर एवं व्यंजन के भेद को इन यंत्रों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इनमें से कतिपय यंत्रों का परिचय नीचे दिया जाता है—

स्पेक्टोग्राफ—यह एक क्रान्तिकारी यंत्र है, जिसका उपयोग आज अमेरिका के स्वनविज्ञानी कर रहे हैं। जब इस यंत्र में स्वन, प्रविष्ट होता है तो इलेक्ट्रॉन की सहायता से उसका चित्र आ जाता है जिसे 'स्पेक्टोग्राम' कहते हैं। इस स्पेक्टोग्राम में स्वन की क्षिप्रता, सघनता एवं कालावधि आदि सभी आ जाते हैं। इससे स्वनविज्ञानी को स्वन का स्थायी चित्र प्राप्त हो जाता है जिसका वह जब चाहे विश्लेषण कर सकता है।

पैटर्न प्लेबैक—ऊपर यह कहा जा चुका है कि स्पेक्टोग्राफ के द्वारा स्वनों को स्पेक्टोग्राम में परिणत करके उन्हें दृश्यमान बनाया जा सकता है तथा इसके बाद उनका विश्लेषण किया जा सकता है। परन्तु इधर अमेरिका के दो विद्वानों ने एक ऐसे विशेष स्वन-यंत्र का निर्माण किया है जिसके द्वारा दृश्यमान स्वन-चित्रों को पुनः स्वन-चित्र दिया जा सकता है। इसका नामकरण उन्होंने पैटर्न प्लेबैक किया है।

स्पीच स्टेचर—यह एक प्रकार का वागविस्तारक यंत्र है और इससे विदेशी भाषाओं के स्वनों को स्पष्टरूप से ग्रहण करने में अत्यधिक सहायता मिलती है। बात यह है कि बोलते समय मनुष्य अति शीघ्रता से अपने हृदगत भावों को प्रकट करता जाता है। जब किसी व्यक्ति को नवीन भाषा सीखनी होती है तो वाग्धारा में से सार्थक स्वनों को स्पष्टरूप से ग्रहण करना उसके लिए सम्भव नहीं हो पाता। परन्तु इस यंत्र की सहायता से उच्चरित स्वनों को धीरे-धीरे एवं सहजरूप में सुना जा सकता है।

4. स्वनविज्ञान के अंतर्गत स्वनों (ध्वनियों) के विवेचन में मुख्य रूप से उनका उत्पादन, संचरण या संवहन और ग्रहण विशेष रूप से आता है। इन्हीं के आधार पर स्वन विज्ञान की तीन शाखाएँ हो जाती हैं—

1. औच्चारणिक (Articulatory)
2. भौतिक या संवाहनिक (Acoustic)
3. श्रोत्रिक (Auditory)

1. औच्चारणिक स्वन विज्ञान — स्वन विज्ञान की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाखा औच्चारणिक है। इसमें मानवीय स्वनों के उत्पादन और पारस्परिक विभेद का अध्ययन किया जाता है। स्वन का उत्पादन वागवयवों द्वारा होता है, जिनका संबंध शरीर विज्ञान से है।
2. सांवाहनिक स्वन विज्ञान — उच्चरित स्वन तरंगों के माध्यम से श्रोता के कानों तक पहुँचते हैं। जिस पद्धति से इन ध्वनि तरंगों का अध्ययन किया जाता है, उसे सांवाहनिक स्वन विज्ञान कहते हैं। संवहन की प्रक्रिया सभी ध्वनियों में समान है, चाहे वे मानव मुख से निःसृत हो या बाह्य तत्त्वों से। अतः इस विज्ञान का संबंध भौतिक विज्ञान से है जिसमें ध्वनि की तीव्रता और आवृत्ति का मापन होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान में संयंत्रों से इसका अध्ययन किया जा सकता है।
3. श्रोत्रिक स्वर विज्ञान— वक्ता के मुख से उच्चारित स्वन तरंगों के रूप में श्रोता के कानों तक पहुँचते हैं। कर्णेन्द्रिय की शारीरिक संरचना के माध्यम से तरंग मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। इसके अंतर्गत कानों की संरचना का ज्ञान किया जाता है। मूल रूप से इसका संबंध भी स्वन विज्ञान से ही है।

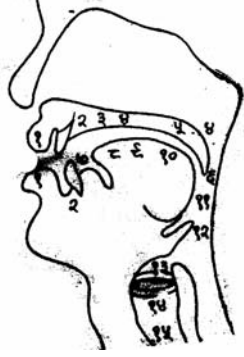
उपरोक्त तीन में से दूसरी एवं तीसरी शाखाओं पर बहुत अधिक कार्य नहीं हुआ। यद्यपि स्वनों के गहन अध्ययन के अंतर्गत कतिपय प्रायोगिक उपकरणों का आविष्कार कई दशकों पूर्व कर लिया गया था तथा वैज्ञानिक इस दिशा में आज भी प्रयत्नशील हैं तथापि स्वनविज्ञान के अंतर्गत मुख्य रूप से औच्चारणिक शाखा में भाषावैज्ञानिकों का ध्यान केन्द्रित रहा है क्योंकि किसी भाषा का विवेचन उसके स्वनों एवं स्वनियों का निर्धारण कर ही किया जा सकता है।

5. **वाग् अवयव और उनके कार्य**— जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वन विज्ञान की अन्य शाखाओं की अपेक्षा यह शाखा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और संसार के भाषाशास्त्रियों ने इसका गहरा अध्ययन भी किया है। इसी का परिणाम है कि इस शाखा के संबद्ध में सबसे अधिक सामग्री भी उपलब्ध है। इस पर

सम्यक रूप से विचार करने के पहले यह आवश्यक है कि वाग् अवयव या वागेन्द्रिय के विषय में जानकारी प्राप्त कर ली जाय। वस्तुतः वाग्ध्वनियों के उच्चारण में शरीर के जिन अवयवों का उपयोग होता है उनके समूह को वागेन्द्रिय अथवा वाग्यंत्र या स्वनयंत्र के नाम से जाना जाता है।

स्वन विज्ञान : स्वरूप,
अवधारणा एवं शाखाएँ

NOTES



- | | | | |
|-------------------------|--|---------------|------------------|
| 1. ओंठ | 2. दाँत | 3. वत्स्य | 4. कठोरतालु |
| 5. कोमल तालु | 6. लिजिहवा या कौवा | 7. जिह्वानोक | 8 जिह्वाग्र |
| 9. जिह्वा मध्य | 10 जिह्वा पश्च | 11 उपालिजिहवा | 12 स्वरयंत्रावरण |
| 13 स्वर यंत्र की स्थिति | 14 कोमल तालु का नासिकाविवरोन्मुखी पक्ष | 15 स्वरयंत्र | |

वाग्ध्वनियों के उत्पादन में मानव मुँह के जिन अवयवों का उपयोग होता है उनके समूह को ध्वनि-यंत्र कहते हैं। इन्हीं ध्वनियंत्रों या वाग्अवयवों के कार्य निम्नलिखित अनुसार है—

(1) ओंठ-ओंठ दो होते हैं –

अ. ऊपर का ओठ।

ब. नीचे का ओठ।

ध्वनि उत्पादन में नीचे का ओंठ ही अधिक कार्य करता है। ध्वनियों के उत्पादन में ओंठों की कई स्थितियाँ हो सकती हैं। दोनों ओंठ पूर्णतया उन्मुक्त रह सकते हैं, दोनों ओंठ संपूर्ण रूप से बंद होकर ओष्ठ्य व्यंजनों और दाँतों के स्पर्श से दन्त्योष्ठ्य स्पर्श-व्यंजनों की सृष्टि कर सकते हैं तथा दोनों एक दूसरे के अथवा दाँतों के बहुत निकट आकर ओष्ठ्य अथवा दन्त्योष्ठ्य संघर्ष व्यंजनों को उत्पन्न कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त स्वरों के उच्चारण में ये वृत्ताकार या अवृत्ताकार की दृष्टि से विभिन्न स्थितियाँ ग्रहण कर सकते हैं। हिंदी की पवर्ग ध्वनियाँ इसके अंतर्गत आती हैं।

6. श्वास के निकलते समय रूकावट होने या न होने के आधार पर मानव ध्वनियों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) स्वर। (2) व्यंजन।

- (1) स्वर— वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में निर्गत श्वास में कहीं अवरुद्धता न हो, स्वर कहलाती हैं। स्वरों के वैभिन्न का कारण मुख-विवर की विभिन्न मुद्राओं—जिह्वा के पृथक-पृथक भागों का विभिन्न मात्रा में ऊपर उठने पर—निर्भर होता है।

समस्त स्वर प्रायः संघोष होते हैं किन्तु कुछ भाषाओं में ऐसे भी स्वर पाये जाते हैं जिन्हें सघोष ध्वनियों के अंतर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। ऐसे स्वरों को फुस्फुहासट वाले स्वर कहते हैं। वास्तव में फुस्फुहासट वाले स्वर प्रकृत स्वर नहीं हैं।

- (2) व्यंजन — वे ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण में निर्गत श्वास में कहीं न कहीं अवरुद्धता हो, व्यंजन कहलाती हैं।

NOTES

हिंदी में दो व्यंजन ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनें बहुत कम अवरूद्धता होती है। ये ध्वनियाँ अर्द्धस्वर (य, व्) या अर्द्धव्यंजन कहलाती हैं।

स्वर एवं व्यंजनों की भिन्नता मुखरता में भी निहित है। स्वरों की मुखरता व्यंजनों की अपेक्षा अधिक होती है। इसी मुखरता के कारण स्वर ध्वनियाँ आक्षरिक होती है। किन्तु इस नियम के भी अपवाद हैं क्योंकि संसार की कई भाषाओं में कुछ व्यंजन भी अक्षर संरचना करते हैं।

अभ्यास—प्रश्न

1. व्यंजन स्वरों के वर्गीकरण के आधार क्या हैं? उदाहरण देकर समझाइए।
2. स्वनविज्ञान के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
3. वाग् अवयव किसे कहते हैं? उनके कार्य क्या हैं?
4. स्वनगुण किसे कहते हैं? उनके महत्व का विवेचन कीजिए।
5. स्वनिक परिवर्तन के कारणों का वर्णन कीजिए।

स्वनिम विज्ञान : अवधारणा, भेद एवं विश्लेषण

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- स्वनिम विज्ञान की अवधारणा
- स्वनिम की अवधारणा
- स्वनिमों के भेद
- स्वनिम विश्लेषण
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

इस इकाई की विषय वस्तु के माध्यम से अध्येता छात्र को भाषा की महत्वपूर्ण अर्थ भेदक इकाई से परिचित कराना है। इस प्रकार छात्र—

1. स्वनिम के स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकगा।
2. स्वनिम की अवधारणा से परिचित हो सकेगा।
3. स्वनिमिक विश्लेषण से सुपरिचित होगा।

परिचय

स्वन विज्ञान के अंतर्गत स्वनों के सैद्धांतिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाता है। जबकि स्वनिय विज्ञान के अंतर्गत स्वनों के प्रायोगिक पक्ष पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है। वस्तुतः स्वन विज्ञान का कार्य जिस बिन्दु में आकर विराम लेता है, उसी बिन्दु से स्वनिम विज्ञान का कार्य आरंभ होता है। दूसरे शब्दों में स्वन विज्ञान कच्चा माल इकत्र करता है तथा उससे स्वनिम विज्ञान पक्का माल तैयार करता है। स्वन विज्ञान किसी भाषा के सभी स्वन रूपी भाषिक तत्वों को स्वनिम विज्ञान की ओर अग्रसारित करता है तथा स्वनिम विज्ञान इन सभी स्वनों में से संबंधित भाषा के विश्लेषण के संदर्भ में उपयोगी स्वनों को स्वीकार करता है।

स्वनिम विज्ञान की अवधारणा

मनुष्य के वागेन्द्रिय द्वारा उत्पादित श्रौतगुणों से युक्त ध्वनि को वाग्ध्वनि कहते हैं। इन वाग्ध्वनियों से ही मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। यदि हम इन वाग्ध्वनियों का विश्लेषण करें तो इनमें अनेक सूक्ष्म ध्वनि तत्त्व(स्वन) मिलेंगे। जब कोई वक्ता किसी ध्वनि विशेष का कई बार उच्चारण करता है तो उसके प्रत्येक बार के उच्चारण में यत्किंचित अंतर अवश्य आ जाता है। यद्यपि साधारणतया यह अंतर सहज ग्राह्य नहीं है, किन्तु आधुनिक आविष्कार ने ऐसे ध्वनियंत्रों को उपलब्ध कर दिया है जिनकी सहायता से किसी भी ध्वनि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों—प्रभेदों को जाना जा सकता है। इनमें से सभी स्वन महत्वपूर्ण नहीं होते हैं। इसीलिए स्वनशास्त्री मानव मुख्य से निसृत अनेक स्वनों को साम्य एवं वैषम्य के आधार पर कतिपय समूहों में वर्गीकृत करता है। जिसके प्रत्येक सदस्य को 'स्वन प्रकार' अथवा ध्वनि की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं।

स्वन—विज्ञान के अन्तर्गत स्वनों के सैद्धान्तिक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जब हम किसी भाषा की स्वन व्यवस्था का अध्ययन करते हैं तो उसमें स्वनों की आपरिमित संख्या उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ— यदि हम हिन्दी के पल, 'पल्ला, पलक, पकवान, लपक, धपक, नाप चाप शब्दों में प—स्वन का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि सभी शब्दों में प के उच्चारण के किंचित् अन्तर है, किन्तु इनके व्याकरणिक अन्तरों पर ध्यान न देते हुए हम 'प' को एक वर्ण रूप में ही स्वीकार कर लेते हैं। यही बात हिन्दी के अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी है। विश्व की प्राचीन भाषाओं— संस्कृत, अरबी, ग्रीक आदि— की लिखावट के लिए जब वर्णों की उद्भावना की गयी होगी तो इस रूप में अनावश्यक स्वनों का परित्याग कर तथा परमावश्यक स्वनों को ग्रहण कर वर्ण—व्यवस्था का निर्माण किया गया होगा। इस व्यवस्था का आधार भी भेदक स्वन रहे होंगे जिनके सम्बन्ध में हमें आज निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। इन प्राचीन भाषाओं में इन वर्णों के आधार पर ही "वर्णिम विज्ञान" रूपिम विज्ञान तथा व्याकरण के अन्य घटकों का निर्माण हुआ है।

वास्तविक स्थिति यह है कि इस वर्णिम विज्ञान का श्रेय विश्व की उन प्राचीन जातियों को है जिन्होंने सभ्यता एवं संस्कृति के प्रकाश को सर्वप्रथम विश्व में विकीर्ण किया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चीन में, वर्णिम विज्ञान की उद्भावना न हो सकी। अतएव वहाँ वर्णों के स्थान पर विविध प्रतीकों का प्रयोग हुआ। यही प्रतीक जापान एवं कोरिया में प्रयुक्त हुए। परम्परानुसार, भारत में वर्णों के उद्भावक भगवान् शंकर माने जाते हैं। उन्होंने नृत्य के अनन्तर अपने ढक्का (डमरू) को चौदह बार बजाया जिससे पाणिनि के चौदह सूत्र निर्मित हुए। इन्हीं सूत्रों के अन्तर्गत लौकिक संस्कृत के सभी वर्णों का समावेश हुआ और आगे चलकर इन्हीं के आधार पर संस्कृत व्याकरण के भवन का निर्माण हुआ।

प्राचीनकाल के विज्ञानियों का वर्णन ही आज के भाषा के स्वनिम है। स्वनिम विज्ञान के अन्तर्गत इन्हीं के सम्बन्ध में सम्यक् विचार किया जायेगा।

यूरोप तथा अमेरिका में भाषा-विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन का समारम्भ स्वनों के सूक्ष्म अध्ययन से हुआ था। आज से कई वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद् (आई.पी.ए.) ने रोमन लिपि में अनेक नये चिन्ह लगाकर एक अभिनव लिपि का निर्माण किया था। इसका मुख्य उद्देश्य एक ऐसी लिपि का निर्माण था जिसमें विश्व की समस्त भाषाएँ एवं बोलियाँ लिखी जा सकें। इसमें मानव वाग्यतंत्र से उच्चारित सभी स्वनों (ध्वनियों) के लिए चिन्ह बनाये गये। विश्लेषण के पश्चात् सन् 1920 ई. के आस-पास यह स्पष्ट हो गया कि स्वनिमविज्ञानी अपने उद्देश्य में असफल रहे। इसका कारण यह था कि विश्व की विविध भाषाओं में मानव वाग्-यन्त्र के उच्चारण-स्थानों-कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त आदि से उच्चारित सुर एवं तान युक्त अनेक ऐसे सूक्ष्म स्वन उपलब्ध हुए जिन्हें पृथक् कर, उनके लिये नये चिन्हों का निर्माण असम्भव हो गया। प्रसिद्ध स्वनिमविज्ञानी हेनरी स्वीट्ज़ेन विश्व की अनेक भाषाओं से एक सौ बीस प्रकार के केवल व्यंजन स्वनों को खोजकर वास्तव में अद्भूत कार्य किया था किन्तु सम्भावित स्वनों की खोज में स्वीट्ज़ेन भी असफल रहे। उधर भाषाओं एवं बोलियों के अध्ययन का क्रम ज्यों-ज्यों अग्रसर होता गया त्यों-त्यों अनेक नूतन स्वन उपलब्ध होते गये और इस प्रकार स्वनिमविज्ञानियों के अध्ययन का आयाम अत्यन्त विस्तृत होता गया।

कालान्तर में कतिपय स्वनिमविज्ञानी इस अध्ययन से निराश हो गये और उन्हें यह अनुभव हुआ कि इस प्रकार स्वनों के अध्ययन, वर्गीकरण एवं अंकन (प्रतिलेखन) में वे पूर्णतया कभी भी सफल न हो सकेंगे। किन्तु इस प्रकार की निराशा का कोई कारण न था। बात यह है कि शीघ्र ही भाषाविज्ञानियों ने इस तथ्य का अनुभव किया कि भाषा-विज्ञान का मुख्य उद्देश्य भाषा की संरचना का अध्ययन करना था। इस सम्बन्ध में यूरोप तथा अमेरिका के भाषा विज्ञानी स्वतंत्र चिन्तन के द्वारा सन् 1920 ई. में इस परिणाम पर पहुँचे कि किसी भाषा की स्वनात्मक व्यवस्था में सबसे अधिक महत्वपूर्ण उसकी कार्यकारी स्वनिमों (फोनीमा) की प्राप्ति तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की खोज है न कि किसी वाग्-स्वन का सूक्ष्मतम अध्ययन।

इस अध्ययन का श्रेय प्राहा विचारधारा के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी प्रिन्स त्रुवेस्क्वाय तथा अमेरिका के एडवर्ड सापिर एवं ब्लूमफील्ड को है। इन विद्वानों को यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि विश्व की कोई भी भाषा की संरचना के अध्ययन में पूर्णरूप से सहायक होते हैं ये भेदक तथा भाषा के अल्पतम अर्थवान इकाई का निर्माण करते हैं। ये स्वनिम कहलाते हैं। किसी भाषा के स्वनिमों को खोज लेना सापेक्षिक दृष्टि से सरल है। इसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ सम्भावित स्वनों की संख्या अपरिमित है वहाँ दूसरी ओर इन स्वनिमों की संख्या भाषा में सीमित है। यह संख्या पन्द्रह और पचास के बीच में है।

स्वनिमों की इस खोज से स्वनिमविज्ञानियों को ऐसा लगा कि स्वनिमविज्ञान के अध्ययन का महत्व कम हो गया किन्तु यह उनकी भ्रान्त धारणा थी। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि स्वनों से ही भेदक इकाई को प्राप्त करके स्वनिम का भवन खड़ा किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध स्वनिमविज्ञानी पाइक न ठीक ही कहा है— “स्वनिमविज्ञान कच्चा माल तैयार करता है, स्वनिमविज्ञान उसे पकाता है।

स्वनिम तथा स्वनिमिक प्रतिलेखन— स्वनिम प्रतिलेखन को सूक्ष्म प्रतिलेखन (लिप्यकन) के नाम से भी अभिहित किया जाता है, क्योंकि यह विविध चिन्हों से युक्त किसी भाषा के सूक्ष्म स्वनों के लेखन में सक्षम होता है। इसके विपरीत स्वनिमिक प्रतिलेखन को स्थूल प्रतिलेखन कहा जाता है।

स्वनिम की अवधारणा

भाषा विज्ञान के अध्येताओं के लिए स्वनिम (फोनीम) की खोज तथा उपलब्धि का इतिहास ज्ञानवर्द्धक है।

स्वनिम शब्द का अस्तित्व उन्नीसवीं शताब्दी में मिलता है, किन्तु वहाँ इसका प्रयोग स्वनिम इकाई के रूप में हुआ है इसके बीज, इसी शताब्दी के अन्त में, पोलैण्ड के भाषा विज्ञानी जे. बाउडिन की कृति की कृति में वर्तमान है किन्तु इसके बाद कई वर्षों तक, इसके विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

NOTES

सन् 1920 ई. के आरम्भ में अमेरिका के भाषाविज्ञानियों की कृतियों में महत्वपूर्ण एवं महत्वहीन स्वनिम ईकाइयों के अन्तर पर तो प्रकाश डाला गया है, किन्तु यहाँ भी स्वनिम के सम्प्रत्यय (कन्सेप्ट) का अभाव है। इस युग की भाषा वैज्ञानिक कृतियों के अध्ययन से, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होता कि ये विद्वान् स्वनिम के सम्प्रत्यय से परिचित भी थे। एडवर्ड सापिर की कृतियों में स्वनिमिक व्यतिरेक का उल्लेख मिलता है। किन्तु वहाँ नियमबद्ध रूप से इसका निरूपण नहीं किया गया है।

स्वनिम के सम्बन्ध में व्यवस्थित तथा सैद्धान्तिक रूप में विचार, सर्वप्रथम, प्राहा विचारधारा (स्कूल) के विद्वानों की कृतियों में मिलते हैं। इनमें मुख्य रूप से रूसी विद्वान् त्रुबेसकाय का नाम उल्लेखनीय है। आपने अपनी कृति 'स्वन-व्यवस्था विषयक नियम' में स्वनिम के सम्बन्ध में विचार किया है तथा इनके बाद की कृतियों में इसका अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राहा विचारधारा के भाषा विज्ञानियों की दृष्टि में स्वनिम एक अभूर्त कार्यकारी संप्रत्यय है। यह लघुतम व्यवच्छेदक अर्थवान् इकाई है जो किसी भाषा की स्वन-व्यवस्था के अन्तर्गत संरचनात्मक सम्बन्ध द्योतित करती है। इसमें अर्थ व्यवच्छेदकता मुख्य तत्व है जो स्वनात्मक विरोधों के द्वारा दो शब्दों के अर्थ के पार्थक्य को स्पष्ट है। उदाहरणार्थ हिन्दी के कल तथा खल शब्दों में अर्थ का पार्थक्य का स्पष्ट है। यहाँ क तथा ख दो पृथक् स्वनिम है। किसी भाषा की स्वनिम की प्राप्ति के लिये उस भाषा के दो अल्पतम युग्मों को लेना पड़ता है।

स्वनिम की ऊपर की व्याख्या, उस व्याख्या से सर्वथा भिन्न थी जो उन भाषा-विज्ञानियों के द्वारा सुझाव के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। कतिपय विद्वानों का यह स्पष्ट मत था कि स्वनिम की उपलब्धि के सूक्ष्म प्रतिलेखन से मुक्ति मिल जाती है और इसकी सहायता से स्थूल प्रतिलेखन द्वारा जो सामग्री तैयार होती है और उससे स्वनिमिक विश्लेषण सरल हो जाता है।

स्वनिम के सम्बन्ध में सबसे प्रभावशाली मत उन भाषा-विज्ञानियों का है जो प्राहा विचारधारा के विपरीत इसे अमूर्त नहीं अपितु मूर्त या भौतिक रूप में मानते थे। इनके अनुसार स्वनिम स्वनों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है।

उदाहरणार्थ – हिन्दी 'प्' – स्वनिम अपने वर्ग के उन सभी उपस्वनों का प्रतिनिधित्व करती है जो हिन्दी भाषा में उपलब्ध हैं। लियोनार्ड ब्लूम फील्ड स्वनिम को भेदक स्वन रूपों (साउण्ड फीचर) की लघुतम इकाई मानते हैं। आपके अनुसारी स्वनिम स्वनरूपों का समूह अथवा बंडल है। ब्लूमफील्ड के अनुसार स्वनिम वास्तव में मूर्त तत्व है प्राहा विचारधारा की भाँति अमूर्त नहीं। प्रत्येक स्वनिम में उसके उपस्वनों का भौतिक गुण वर्तमान रहता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वनिम के सम्बन्ध में मोटे तौर पर, दो सर्वथा विपरीत विचारधाराएँ हैं। इनमें से एक विचारधारा के अनुसार स्वनिम अमूर्त भेदक तत्व है किन्तु दूसरी विचारधारा के अनुसार यह मूर्त भेदक तत्व।

सन् 1930 ई. में इन दोनों विपरीत विचारधाराओं के अनेक पक्षधर थें। उस युग में कतिपय ऐसे भाषा-विज्ञानी भी थे जो इन दोनों अन्तों के बीच की विचारधारा के पोषण में संलग्न थे। ये मध्यममार्गी थे। इन सभी दृष्टिकोणों एवं विचारों पर प्रकाश डालना आज अनावश्यक है क्योंकि यह अतीत युग की बात हो चुकी है।

स्वनिम सम्बन्धी विचारधारा आगे किस रूप में विकसित हो इसका ज्ञान आज आवश्यक है। क्योंकि स्वनात्मक सिद्धान्तों से इसका प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है। विकास की इस प्रक्रिया का इतिहास की हमें प्राहा विचारधारा के भाषा-विज्ञानियों की कृतियों में ही उपलब्ध है। इसका श्रेय विशेष रूप से प्राहा विचारधारा के वयोवृद्ध भाषा-विज्ञानी रोमन याकोबसन को है। आप यूरोप छोड़कर अमेरिका के स्ट्रेडफोर्ड विश्वविद्यालय में आये और यहाँ आपने अपने भाषा-विषयक अनुसंधान कार्य को अग्रसर किया।

अपनी खोजों के परिणामस्वरूप याकोबसन ने स्वनिम के सम्बन्ध में एक नूतन तथ्य की ओर भाषा-विज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया। आपके मतानुसार यद्यपि स्वनिम एक अमूर्त तत्व है। किन्तु भौतिक धरातल पर किसी भाषा में, यह प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त की जाती है। इस तथ्य की स्वीकृति से स्वनिम के सम्प्रत्यय में एक अभिनव तत्व का समावेश हुआ और विचार की दृष्टि से, याकोबसन,

ब्लूमफील्ड तथा अन्य अमरीकी भाषा-विज्ञानियों के निकट आ गये। इस प्रकार स्वनिम की प्राप्ति की प्रक्रिया, विविध प्रकार के स्वरूपों से स्वीकृत हुई तथा इसे भेदक रूपों में समूह के रूप में परिभाषित किया गया। ये वे रूप थे जो आधारसामग्री में एक-दूसरे के स्पष्ट विरोधी रूप में उपलब्ध थे दूसरे शब्दों में ये न्यूनतम व्यवच्छेदक अर्थवान इकाई थे।

इस विवेचन के उपरान्त स्वनिम के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मनुष्य अपने भाषिक व्यवहार में असंख्य ध्वनियों का प्रयोग करता है। किन्तु व्याकरणिक दृष्टि से किसी भाषा में ध्वनियों की संख्या पचास-पचपन से अधिक नहीं होती। उदाहरणार्थ कलम, कागज, किताब कुर्सी कृपा केशव कैलाश कोयल कौआ कंधा आदि शब्दों में हम जितनी बार भी क ध्वनि का प्रयोग करते हैं उसका उच्चारण थोड़ा बहुत बदल जाता है। कलम के क का उच्चारण कोमल तालु के पश्च भाग से होता है, जबकि किताब का अग्रभाग से। कलम, कुर्सी, केशव आदि शब्दों में क पूर्णतया मौखिक ध्वनि है। जबकि कंधा में उच्चारण अनुस्वार के संयोग के कारण किंचित् नासिक्य हो गया है। केवल इतना ही नहीं अकेले कलम शब्द का क राम मोहन और श्याम के उच्चारण में असमान होता है। खल, खाली खील खुरपा खेल, खोटा और खण्ड आदि शब्दों के उच्चारण में ख की भी वैसी ही स्थिति है। गगन, गाय, गीता, गुलाब, गेहूँ गोत्र और गंगा में भिन्न-भिन्न ध्वन्यात्मक सन्दर्भों में उच्चरित क ध्वनियाँ परस्पर भिन्न होते हुए भी काफी मिलती-जुलती हैं। इन ध्वनियों को एक परिवार कहा जा सकता है। ध्वनियों के इस प्रकार के परिवार को ही 'स्वनिम' या 'ध्वनिग्राम' कहते हैं।

स्वनिम की परिभाषा-

व्यावहारिक उपादेयता को ध्यान में रखकर विभिन्न भाषा शास्त्रियों ने स्वनिम की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। नीचे चुनी हुयी परिभाषाएँ दी जाती हैं-

1. डैनियल जोन्स - 'किसी भाषा में ध्वनिग्राम (स्वनिम) संबंधित गुण में ध्वनियों का परिवार होता है जिसका कोई सदस्य किसी शब्द में इस प्रकार आता है कि उसी प्रकार के ध्वन्यात्मक संदर्भ में कोई दूसरा सदस्य नहीं आता है।

A. phoneme is a family of sounds in a given language which are related in character and are used in such a way that no one member ever occurs in a word in the same phonetic context as any other member (D. Jones.....) Outline of English phonetics..... The phonem pp. 10)

2. ब्लूमफील्ड - ध्वनिग्राम व्यवच्छेदक ध्वनि स्वरूप की लघुतम इकाई है।

A minimum unit of distinctive sound feature..... (Bloom Field - Language)

3. ब्लाक तथा ट्रैगर- ध्वनिग्राम, स्वनिम ध्वन्यात्म दृष्टि से, समान ध्वनियों का समूह है जो किसी भाषा विशेष के उसी प्रकार के अन्य समस्त समूहों से व्यतिरिकी एवं अन्यापवर्जी होता है।

A. Phoneme is a class of phonetically similar sounds contrasting and mutually exclusive with all similar classes in the language. (Book and Trager- An Outline of Linguistic Analysis, pp 40)

सरल शब्दों में हम स्वनिम की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं :-

"स्वनिम किसी भाषा की मिलती-जुलती ध्वनियों का वह परिवार है जिसके सदस्य एक-दूसरे के पूरक होते हैं किन्तु वह परिवार इस प्रकार के अन्य परिवारों से अन्यापवर्जी (एक्सक्लूसिव) होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्वनिम के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं :-

1. स्वनिम का सम्बन्ध एक भाषा से होता है। प्रत्येक भाषा के अपने स्वनिम होते हैं, जिनका अन्य भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे हिन्दी का कोमल तालव्य क और अरबी का काकल्य क पृथक-पृथक स्वनिम हैं। दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। अग्रेजी का वर्त्स्य ट और हिन्दी का मूर्द्धन्य ट भी भिन्न-भिन्न स्वनिम है।

जब कोई भाषा विदेशी शब्दावली को ग्रहण करती है तो उसके स्वनिमों को अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार अपने स्वनिमों में ढाल लेती है। अरबी फारसी के हजारों शब्द हिन्दी में आये और हिन्दी की ही प्रकृति में ढल गये। किताब, कानून, खत्म, खास, गबन गौर आदि शब्दों में प्रयुक्त क ख ग आज प्रायः हिन्दी स्वनिम बन गये हैं। कुछ शुद्धतावादी लोगों का

स्व-प्रगति की जाँच करें-

1. स्वनिम विज्ञान की अवधारणा पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।
2. यूरोप तथा अमेरिका में भाषा विज्ञान का अध्ययन किस प्रकार प्रारम्भ हुआ ?
3. स्वनिम या ध्वनिग्राम किसे कहते हैं ?

NOTES

आग्रह है कि इन्हें स्त्रोत भाषा की प्रकृति के अनुसार काकल्य बोलना चाहिए और लिखते समय भिन्नता सूचक नुकता भी लगाना चाहिए।

अंग्रेजी के ऑफिस, टैक्टर, बैंक आदि शब्दों में भी अब ओं और ॐ स्वरों को हमने ओं और ऐ मे बदल लिया है। अब इन शब्दों को हिन्दी में आफिस, ट्रैक्टर, और बैंक लिखा जाता है इतना ही नहीं अस्पताल, कनस्तर, लालटेन आदि शब्दों की तो शकल-सूरत ही भारतीय बन गयी। अब प्रायः सभी गृहीत शब्दों में हिन्दी स्वनिमों का प्रयोग होता है।

2. स्वनिम परिवार के सदस्यों को सहस्वन या संस्वन (सहध्वनि या संध्वनि) कहा जाता है। स्वनिम विज्ञान में इनके लिए विशिष्ट चिन्हों का प्रयोग किया जाता है। स्वनिम को दो खड़ी रेखाओं के बीच लिखते हैं तथा सहस्वन को बड़े कोष्ठ [] में। जैसे – [क] [M¹] [M¹], आदि।
3. किसी स्वनिम के सहस्वन परिपूकर वितरण में आते हैं। जिस ध्वन्यात्मक सन्दर्भ में क₁ का प्रयोग होता है, उसमें क₂ या क₃ का नहीं हो सकता। प्रत्येक सहस्वन का क्षेत्र निश्चित है। अतः किसी प्रकार के अतिक्रमण की गुंजाइश नहीं। इस बात को ड-ढ के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

AMA के दो महत्त्वपूर्ण सहस्वन हैं [M¹] और [M²] इनमें से [M¹], स्पर्श है और [M²] उक्षिप्त। भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए उक्षिप्त ड को ङ लिखा जाता है। इन दोनों के प्रयोग का क्षेत्र सुनिश्चित है। [M¹] का प्रयोग इन स्थितियों में होता है :-

1. शब्द के आदि में, जैसे – डाक, डाकू, डाली, डींग, डूबना, आदि।
2. शब्द के मध्य में अनुस्वार के बाद – जैसे खंडन, प्रचंड, प्रकांड, पिंड, कुंडल, टंडक आदि।
3. शब्द के मध्य में अनुस्वार से पहले – जैसे अड्डा, गड्डी आदि।
4. शब्द के मध्य में द्वित्व की स्थिति में – जैसे अड्डा, गड्डी आदि।

[M²] के प्रयोग की स्थितियाँ निम्नलिखित हैं :-

1. शब्द के मध्य में (अनुस्वार से पूर्व, अनुस्वार के बाद और द्वित्व की स्थितियों को छोड़कर) जैसे – सड़क, पकड़ना आदि।
2. शब्द के अन्त में (अनुस्वार के बाद की स्थिति को छोड़कर) जैसे – जड़ झाड़, पतझड़ आदि। इसे इस प्रकार दिखाया जा सकता है –

।ड। – [M¹] [M²]

।ड। के सहस्वनों का विवरण भी बिल्कुल ।ड। की तरह ही है। जैसे – [<] का प्रयोग शब्द के आदि में होता है – जैसे ढक्कन, ढोलक तथा [<²] का शब्द के मध्य तथा अन्त में – जैसे चढ़ाई, पढ़ना दृढ़ प्रगाढ़ आदि।

[उल्लेखनीय है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों में ड ङ उक्षिप्त नहीं थे और पीड़ा, क्रीड़ा दृढ़ प्रगाढ़ आदि शब्दों में ये व्यंजन सामान्य स्पर्श थे किन्तु अब हिन्दी में तत्सम शब्द भी तद्भव शब्दों की तरह उपर्युक्त वितरण के अर्न्तगत आते हैं। और क्रमशः पीड़ा, क्रीड़ा दृढ़ और प्रगाढ़ बोले और लिखे जाते हैं]

हिन्दी क वर्ग के स्वनिमों को इस प्रकार लिखा जायेगा –

।क। – [d¹] [d²] [d³] [d⁴] [d⁵]

।ख। – [[k¹½] [k²] [k³] [k⁴] [k⁵]

।ग। – [x¹] [x²] [x³] [x⁴] [x⁵]

।घ। – [ʔk¹] [ʔk²] [ʔk³] [ʔk⁴] [ʔk⁵]

4. किसी भाषा के भिन्न-भिन्न स्वनिम व्यतिरेकी वितरण में आते हैं, अर्थात् जहाँ एक स्वनिम का प्रयोग होता है, वहाँ उसी अर्थ में दूसरे का प्रयोग नहीं हो सकता। वे अन्यापवर्जी होते हैं। इस सिद्धान्त को समझने के लिए न्यूनतम विरोधी युग्मों के उदाहरण दिये जाते हैं।

कील-खील— इन दोनों शब्दों में क और ख को छोड़कर सब ध्वनियाँ समान हैं। वे समान क्रम में भी आयी हैं। क और ख भी न्यूनतम विरोधी व्यंजन है। दोनों का उच्चारण स्थान कोमल तालु है, दोनों अघोष हैं, स्पर्श है। अन्तर केवल प्राणत्व का है। क अल्पप्राण है, ख महाप्राण। इतनी-सी भिन्नता के कारण दोनों शब्दों के अर्थ में भिन्नता आ गयी है। 'कील' का अर्थ 'लोहे का नुकीला टुकड़ा' है तथा खील का अर्थ 'लाजा' अर्थात् भुना हुआ धान्य।

काली-गाली— इन शब्दों में भी क और ग को छोड़कर सब ध्वनियाँ समान हैं और समान क्रम में आयी है। क और ग में भी उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता है। अन्तर केवल इतना है कि क अघोष है और ग घोष। बस इस भिन्नता ने ही दोनों शब्दों के अर्थ में अन्तर ला दिया है। 'काली' का अर्थ कृष्ण वर्ण की वस्तु है और 'गाली' का अर्थ अपशब्द।

चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग की ध्वनियाँ के भी न्यूनतम विरोधी युग्म बनाये जा सकते हैं, जैसे

- | | | |
|----------------|-------------------|--------------|
| 1. चल-छल | चल-जल, | जड़ी-झड़ी |
| 2. टालना-डालना | टेर-ढेर, | डेला-ढेला। |
| 3. ताल-दाल | ताली-थाली, तन-थन, | तन-धन |
| 4. पल-फल | पल-बल, | बला-भला आदि। |

इन युग्मों से स्पष्ट होता है कि हिन्दी में प्रत्येक वर्ग में कम से कम चार व्यंजन हैं। अघोष-अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, घोष अल्पप्राण और घोष महाप्राण। ये परस्पर व्यतिरेकी वितरण में आते हैं। यदि कोई व्यक्ति प्यासा है और 'पानी' की जगह 'बानी' चिल्ला रहा है तो उसका अभिप्राय कौन समझेगा?

5. स्वनिमों के निर्धारण में परिपूरक वितरण और व्यतिरेकी वितरण का उपर्युक्त सूत्र बच्चों या अन्य भाषाभषियों पर लागू नहीं होता। यदि कोई अंग्रेज अपने भारतीय नौकर से कहे 'काना लाओ', तो नौकर क और ख की मित्रता को नजरअन्दाज कर मालिक के लिए खाना ही लायेगा किसी एक आँख वाले आदमी को नहीं पकड़ लायेगा। ऐसी स्थितियों में क-ख का अन्तर अर्थभेदक नहीं होगा। अंग्रेज मालिक के क और ख की अभिन्नता का भाषा वैज्ञानिक कारण है। अंग्रेजी में क और ख दो स्वनिम नहीं हैं। केवल एक ही 'क' है जो हमारे अल्पप्राण क की तुलना में किंचित् महाप्राण है और ख की तुलना में थोड़ा-सा अल्पप्राण। इसीलिए अंग्रेजी में 'बिकौज' या बिखौज' हमारे 'कान' और 'खान' की तरह अलग-अलग शब्द नहीं हैं।

एक अन्य उदाहरण देखिए। अंग्रेजी में त और द ध्वनियाँ नहीं हैं। इनकी निकटतम ध्वनियाँ 'ट' और 'ड' हैं। इसलिए एक अंग्रेज 'तोताराम' को 'टोटाराम' और 'दावत' को 'डावट' कहे तो अर्थबोध का कोई संकट उपस्थित नहीं होगा। इसी प्रकार बंगला में अ का उच्चारण वर्तुल 'ओ' जैसा किया जाता है। इसलिए कोई बंगला भाषी 'जय' को 'जोय' कहे तो सम्प्रेषण में कोई विशेष बाधा उत्पन्न नहीं होती। यही मुक्त वितरण है।

बच्चों की भाषा के संदर्भ में भी मुक्त वितरण की स्थिति देखी जाती है। यदि कोई बच्चा अपने काठ के घोड़े को बाँधने के लिए 'लस्सी' माँगता है तो माँ उसे रस्सी ही देती है, लस्सी नहीं। माँ भलीभाँति जानती है कि ल और भले ही भिन्न स्वनिम हैं, उसके बच्चे के लिए ल अभी र है। वह चार को चाल बोलता है और घर को घल। अतः माँ के लिए र -ल अर्थभेदक नहीं। वस्तुतः भाषिक व्यवहार मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यदि स्वनिमिक स्खलन वक्ता और श्रोता के बीच बाधक नहीं होता तो उसे 'मुक्त वितरण' समझना चाहिए।

अतः वितरणों के सम्बन्ध में तीन सूत्र स्मरणीय हैं—

1. एक स्वनिम के सहस्वप परस्पर परि पूरक वितरण में आते हैं।
2. दो स्वनिम एक-दूसरे के पूरक नहीं हो सकत। वे व्यतिरेकी वितरण में आते हैं और अन्यापवर्जी होते हैं।

स्वनिम और संस्वन

स्वनिम या ध्वनिग्राम जाति है और संस्वन व्यक्ति। स्वनिम को दो तिरछी लकीरों // के अन्दर लिखा जाता है। हिन्दी टाइप में तिरछी लकीरों की सुविधा न होने से इसे दो सीधों लकीरों के बीच में भी लिखा जाता है। जैसे -क् ख् ग् स्वनिम को |क्|, |ख्|, |ग्| लिखेंगे।

संस्वन (Allophone, एलोफोन) को संध्वनि भी कहते हैं। Allo (एलो) का अर्थ है- एक या अन्य। यह ग्रीक शब्दा Allos (एलोस) का संक्षिप्त रूप है। ग्रीक में इसका अर्थ है- अन्य। Phone का अर्थ है- स्वन या ध्वनि। अतः एलोफोन का अर्थ हुआ - पृथक्-पृथक् या एक-एक ध्वनियाँ। एक स्वनिम में अर्थात् एक जाति में अनेक संस्वन या संध्वनियाँ होंगी, उनको अलग-अलग संस्वन माना जाएगा। संस्वनों को दो कोष्ठों [] के बीच में लिखा जाता है। ये जितने प्रकार के होंगे, उनको उतने प्रकार का माना जाएगा और इसके लिए उसके आगे 1, 2, 3 आदि अंक दिए जाते हैं। जैसे- क कि कु क्त क्ल क्व पृथक् संस्वन हैं। इनकी पृथक्ता सूचित करने के लिए इन्हें दो कोष्ठों के मध्य लिखा जाएगा - [d~1][d~2][d~3][d~4][d~5][d~6]। कला, किमपि, कुल, शकल, क्लम, क्वचित् में 6 प्रकार के क् हैं। इनके उच्चारण में भी कुछ अन्तर है। प्रत्येक उच्चारणभेद के आधार पर क् के 6 संस्वन हुए। भेद करने के लिए प्रत्येक क् संस्वन के आगे संख्या लिखी गई है।

ध्वन्यात्मक (फोनेटिक) भेद के आधार पर संस्वन (एलोफोन) भिन्न-भिन्न होंगे, परन्तु स्वनिम (फोनीम) एक ही रहेगा। इसी आधार पर एक स्वनिम के अनेक संस्वन होते हैं।

स्वनिम और संस्वन का निर्धारण-

सामग्री-संकलन के बाद छांटने के समय कुछ ध्वनियाँ समान मिलती हैं और कुछ के विभिन्न रूप मिलते हैं। इनमें से किसको स्वनिम माना जाए और किसको संस्वन। यह एक उलझाने वाली समस्या है। इसका सामान्यतया हल यह है कि सम्बद्ध ध्वनियों का वितरण किया जाता है और प्रयोग के आधार पर परीक्षण किया जाता है कि उस भाषा में संदिग्ध दोनों में से कौन-सी ध्वनि अधिक प्रयोग में आती है या एक ध्वनि का जो भेद सबसे अधिक होती है, उसे उसका संस्वन (एलोफोन) माना जाएगा। जैसे- संस्कृत या हिन्दी में वर्ग के पंचम वर्ण ङ् ज्ञ् ण् न् म् में किसको स्वनिम माना जाए और फिर संस्वन। वितरण एवं प्रयोग से ज्ञात होता है, यथा-

ङ्-ध्वनि - वाङ्मय, पङ्ख, अङ्ग, गङ्गा, लिङ्ग, लिङ्, लुङ्।

ञ्-ध्वनि - पञ्च-पंच, धनञ्जय-धनंजय, रञ्जन-रंजन।

ण्-ध्वनि - काण, काणा, द्रोण, पणि, भाण, भण्डार, प्राण।

न्-ध्वनि - कान, नासिका, नाक, नील, अन्त, तन्त्र।

म्-ध्वनि - काम, मान, मीन, कम्प, लम्ब, रम्भा।

उक्त वितरण से ज्ञात होता है कि ण्, न्, म् की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है। कान-काण-काम के अर्थभेद से स्पष्ट है कि इन्हें स्वतन्त्र स्वनिम माना जाए। वाङ्मय आदि शब्द ङ् की स्वतन्त्र सत्ता बताते हैं, अतः ङ् भी स्वनिम माना जाता है। ज्ञ् के विषय में सन्देह है।

स्वनिमों का वर्गीकरण -

किस ध्वनि (संस्वन या संध्वनि) को किस स्वनिम में रखा जाएगा, इसके लिए सामान्यतया तीन नियामक तत्व हैं- 1. वितरण (Distribution) 2. समानता (Similarity) 3. कार्य की एकरूपता (Identity of function)। ये तीनों गुण जिन ध्वनियों में मिलते हैं, वे एक वर्ग में आएगी।

1. वितरण से अभिप्राय है कि किन परिस्थितियों में वे विभिन्न ध्वनियाँ आती हैं। जिन परिस्थितियों में एक ध्वनि आती है, उन्हीं परिस्थितियों में दूसरी ध्वनि नहीं आती है। दूसरी ध्वनि के उन परिस्थितियों में आने से अर्थ भेद होगा। जैसे- कान, पान, मान, यान।

NOTES

2. समानता से अभिप्राय है स्थान और प्रयत्न की समानता। स्थान और प्रयत्न की विषमता होने पर विभिन्न स्वनिम माने जाएंगे।
3. कार्य की एकरूपता से अभिप्राय यह है कि यदि कार्य में अन्तर है तो पूरक वितरण और समानता होने पर उसे पृथक् स्वनिम माना जाएगा।

NOTES

स्वनिमों के भेद

ध्वन्यात्मक दृष्टि से ध्वनिग्राम को 'खण्ड' तथा 'खण्डेतर', दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

खण्ड स्वनिम –

वास्तव में खण्डध्वनिग्राम वे हैं जिनका पृथक् इकाई के रूप में विश्लेषण किया जा सकता है। इनका उच्चारण अन्य गुणों को बिना भी किया जा सकता। मुख्य रूप से इन्हें 'स्वर' तथा व्यंजन दो वर्गों में पृथक् किया जा सकता है।

खण्डेतर स्वनिम –

जैसा कि पहले कहा गया है कि खण्ड स्वनिम विभाज्य हैं और इसमें स्वर तथा व्यंजन आते हैं। वितरण की विधि से इनका विश्लेषण किया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ स्वनिम ऐसे हैं, जो खण्ड स्वनिमों पर निर्भर हैं। इन्हें खण्ड स्वनिमों से पृथक् उच्चरित नहीं किया जा सकता है, अतः इन्हें खण्डेतर, अविभाज्य या अव्यक्त कहा जाता है। ये पाँच हैं— मात्रा, सुर, बलाघात, संगम, अनुनासिकता।

1. **मात्रा**—इसको दीर्घता भी कहते हैं। स्वर और व्यंजन दोनों में मात्रा या दीर्घता के कारण अन्तर होता है। स्वरों के मात्राभेद को हरस्व, दीर्घ और प्लुत नाम से कहा जाता है। हरस्व (1 मात्रा), दीर्घ (2 मात्रा), प्लुत (3 मात्रा या इससे अधिक)। इसी कारण अ, आ, अऽ में भेद है। कम, काम, रामऽ। व्यंजनों में भी दीर्घता होती है। संयुक्त व्यंजन दुगुना समय लेते हैं और उससे अर्थभेद भी होता है। जैसे—बचा—बच्चा, सजा—सज्जा, पका—पक्का, गदा—गद्दा।
2. **सुर या सुर—लहर**—यह शब्द और वाक्य दोनों स्तरों पर प्राप्त होता है। स्वरतंत्रियों पर कितना तनाव आता है, इस आधार पर इसका भेद किया जाता है। वैदिक साहित्य में स्वर के तीन भेद किए गए हैं— उदात्त (उच्च), स्वरित (मध्यम) और अनुदात्त (निम्न)। ग्लौसन ने सुर के चार भेद किए हैं— अत्युच्च, उच्च, मध्य, निम्न। सामवेद में स्वर—संकेत संख्या द्वारा ही प्रचलित था। 1 (उदात्त), 2 (स्वरित), 3 (अनुदात्त)। यह अधिक सुविधाजनक है। लौकिक संस्कृत और हिन्दी में सुर का प्रयोग सामान्यतया शब्दों में नहीं होता है, वाक्यों में इसका प्रयोग मिलता है। तदनुसार अर्थभेद भी होता है।
3. **बलाघात**—संस्कृत और हिन्दी में बलाघात पाया जाता है। बलाघात फेफड़ों से आने वाले वायु—प्रवाह की तीव्रता पर निर्भर होता है। अधिक या कम तीव्रता के आधार पर इसके चार भेद किए जाते हैं। 1 तीव्र, 2 मन्द्र, 3 संश्लिष्ट, 4 हीन।
जैसे— मैं कानपुर जा रहा हूँ।
(मैं ही कानपुर जा रहा हूँ)
(मैं ही जा रहा हूँ कानपुर)
(मैं कानपुर ही जा रहा हूँ)
4. **संगम**—शब्दों और वाक्यों में कुछ ध्वनियाँ इस प्रकार संयुक्त रूप में मिलती हैं कि पदच्छेद या यति के द्वारा उनके विभिन्न अर्थ निकलते हैं।
5. **अनुनासिकता**—संस्कृत और हिन्दी में अनुनासिकता के आधार पर अर्थभेद पाया जाता है। इनके न्यूनतम विरोधी युग्म भी मिलते हैं। जैसे— गोद—गोंद, काटा—कांटा, दाव—दांव, है—हैं, हो—हों आदि।

NOTES

ऊपर ध्वनियों के वितरण के संबंध में विचार किया गया है। अब इन ध्वनियों से स्वनिम का निर्धारण करने के लिये जिन उपायों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। उन्हें जान लेना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि ध्वनि – ग्रामीय पद्धति पर कार्य करने वाले भाषाशास्त्रीयों को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

किसी भाषा की स्वनिम प्रणाली का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जब कोई भाषाशास्त्री कार्य प्रारंभ करता है तो उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि यह सूचक के साथ काम करें। वास्तव में सूचक वही व्यक्ति हो सकता है जिसका मातृभाषा वही हो जिस पर कि भाषाशास्त्री कार्य कर रहा है। इस संबंध में भाषाशास्त्री का सर्वप्रथम एवं प्रमुख कर्तव्य यह होता है कि वह सूचक के मुख से निःसृत सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनियों को यथातथ्य रूप में अंकित करें। ध्वनिरूपों के अंकन के लिये भाषाशास्त्री प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिपरिषद् अथवा पाइक द्वारा निर्मित लिपि का प्रयोग करते हैं किन्तु अन्य लिपियों (यथा नगरी) में भी आवश्यक संशोधन करके उसे पूर्ण ध्वन्यात्मक बनाया जा सकता है। ध्वन्यात्मक रूपों को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भाषाशास्त्री के लिये प्रत्येक ध्वनि के वितरणीय परिवेश का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसके उपरान्त उसे निम्नलिखित चार आधारों पर किसी भाषा के ध्वनिग्रामों अथवा उसकी ध्वनिग्रामीय प्रणाली का अध्ययन करना चाहिए—

क. वितरण का सिद्धान्त।

ख. ध्वन्यात्मक समानता का सिद्धान्त।

ग. पद्धति या प्रणाली का ढाँचा।

घ. मितव्ययिता का सिद्धान्त।

1. **वितरण का सिद्धान्त** – किसी भाषा के स्वनिमों और सहस्वनों के अध्ययन के लिए सबसे विश्वसनीय आधार वितरण का सिद्धान्त है। स्वनिम विज्ञान का नियम है कि जो ध्वनियाँ परिपूरक वितरण में आती हैं उन्हें एक ही स्वनिम के सहस्वन मानना चाहिए। इसके विपरीत जो व्यतिरेकी वितरण में आये उन्हें स्वतंत्र स्वनिम।

परिपूरक वितरण का स्वरूप सहअस्तित्व की भावना से मिलता—जुलता है। जिस प्रकार परिवार में माता, पिता, बहू बच्चे एक—दूसरे के अविरोधी होते और सबके कर्तव्य और अधिकार सुस्पष्ट होते हैं। उसी तरह सहस्वन भी परस्पर अविरोधी होते हैं और उनका क्षेत्र सुनिश्चित होता है। जैसे ड और ङ हिन्दी के [ड]। स्वनिम के सहस्वन हैं। पिछले पृष्ठों में दोनों की स्थितियाँ स्पष्ट की गयी हैं, जिनके अनुसाद शब्द के आदि में स्पर्श खड़, आता है उक्लिप्त खड़, नहीं। फिर भी यदि कोई वक्ता 'डाली' को डाली कहे तो श्रोता को वक्ता की गलती का अहसास तो होगा, परन्तु अर्थग्रहण में कोई बाधा नहीं आयेगी। यों भी उच्चारण की दृष्टि से ड शब्द के आदि में 'सहज' नहीं लगेगा।

दूसरी ओर शब्द के मध्य और अन्त में [ड] का उच्चारण असहज और कठिन लगेगा। ड बोलना सरल होगा। सडक, पडोस, खडिया, पेड बोलने की बजाय सड़क, पड़ोस, खड़िया और पेड़ बोलना कहीं सरल है—यह स्वयं उच्चारण करके अनुभव किया जा सकता है।

इसके विपरीत दो स्वनिम कभी एक दूसरे के पूरक नहीं होते। वे तो परस्पर व्यतिरेकी होते हैं और या तो तू रहेगा या मैं, की असहयोग की स्थिति में विश्वास करते हैं। इसलिए एक ध्वन्यात्मक सन्दर्भ में एक का ही प्रयोग होता है। यदि उसकी जगह दूसरे का प्रयोग किया जाये तो (मुक्त विवरण को छोड़कर) अर्थ संप्रेषण नहीं होगा बल्कि कभी—कभी तो बिल्कुल भिन्न अर्थ की प्रतीति होगी जैसे— 'वह बहुत रोता है और वह बहुत सोता है' यहाँ केवल एक स्वनिम बदलने से सारे वाक्य का अर्थ परिवर्तित हो गया है।

2. **ध्वन्यात्मक समानता का सिद्धान्त** – ध्वनिविज्ञान में स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और ब्राह्म प्रयत्न के आधार पर स्वरों और व्यंजनों का स्वरूप—निर्धारण किया जाता है। यह स्वनिमों के निर्धारण की सबसे विश्वसनीय कसौटी है। इसके अनुसार समान उच्चारण स्थान और समान प्रयत्नों से उच्चरित दो ध्वनियों को एक ही स्वनिम के सहस्वन माना जा सकता है। किन्तु जब स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और ब्राह्म प्रयत्नों में से कोई बदल जाता है तो भिन्न स्वनिम का उच्चारण होता

है। 'काम', 'दुकूल', और 'शंकित' में प्रयुक्त क¹, क² और क³ के उच्चारण में भले ही अन्तर हो, परन्तु ये तीनों कोमल तालव्य हैं, अघोष हैं, अल्पप्राण हैं, स्पर्श हैं। अतः तीनों केवल सहस्वन हैं, भिन्न स्वनिम नहीं। भाषावैज्ञानिक शब्दावली में स्थान और प्रयत्नों की अभिन्नता उन्हें एक स्वनिम के सहस्वन सिद्ध करती है।

इसके विपरीत 'काली', 'खाली', और 'गाली' में प्रयुक्त क, ख और ग भिन्न-भिन्न स्वनिम हैं क्योंकि तीनों कोमल तालव्य होते हुए भी बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से असमान हैं। क अघोष अल्पप्राण है, तो ख अघोष महाप्राण और ग घोष अल्पप्राण।

कुछ विशेष संन्दर्भों में इस नियम के अपवाद भी देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी के उ और ङ एक ही स्वनिम के सहस्वन हैं, जबकि दोनों में ध्वन्यात्मक एकरूपता नहीं है। उ स्पर्श है और ङ उच्छ्वित। अतः आभ्यन्तर प्रयत्न की भिन्नता के कारण इन्हें स्वतंत्र स्वनिम माना जाना चाहिए। वस्तुतः यह अपवाद नहीं, अपवादाभास मात्र है। इस प्रकार की प्रयत्न भिन्नता अन्यत्र भी देखी जाती है। जैसे हिन्दी का चवर्ग स्पर्श-संघर्षी वर्ग है। किन्तु 'चुप', 'चोट' आदि शब्दों में पश्च स्वरों के संयोग वाला च उतना संघर्षी नहीं होता जितना अग्र स्वरों के संयोग वाला 'चिकना', 'चीत्कार' आदि शब्दों का च। अतः ध्वन्यात्मक एकरूपता को स्वनिम निर्धारण की निर्दोष कसौटी माना जा सकता है।

3. **ढाँचे का सिद्धान्त** — प्रत्येक भाषा का एक ध्वन्यात्मक ढाँचा होता है। उस भाषा के स्वनिमों का निर्धारण उस ढाँचे के आधार पर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ— हिन्दी व्यंजनों में प्रत्येक उच्चारण स्थान से सम्बन्धित एक वर्ग है, कोमल तालव्य—कवर्ग तालव्य चवर्ग, मूर्द्धन्य टवर्ग, दन्त्य तवर्ग और ओष्ठ्य पवर्ग। इसके बाद चार अन्तःस्थ आते हैं और फिर उष्म श ष स और अन्त में ह। इस ढाँचे के अनुसार हिन्दी व्यंजनों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

हिन्दी व्यंजन

स्पर्श—	क	ख	ग	घ	(ङ)
	च	छ	ज	झ	(ञ)
	ट	ठ	ड	ढ	(ण)
	त	थ	द	ध	न
	प	फ	ब	भ	म
अन्तःस्थ—	य	र	ल	व	
उष्म—	श	ष	स		
महाप्राण—	ह				

ढाँचे का यह सिद्धान्त किसी अपरिचित भाषा के स्वनिमों के निर्धारण के लिए एक कसौटी बन सकता है। जैसे कोई विदेशी हिन्दी के व्यंजनों का अध्ययन करे और उसकी संगृहीत ध्वनियों में कही ढ स्वन न आया हो तो यह ढाँचा उसे सतर्क कर देगा कि जब प्रत्येक वर्ग में घोष महाप्राण है तो यह ध्वनि भी होनी चाहिए। वह संग्रह की दुबारा कोशिश करेगा। फिर भी ढाँचे का सिद्धान्त वितरण या ध्वन्यात्मक समानता के सिद्धान्तों पर तरह पूर्ण विश्वसनीय नहीं है। इसके अनेक अपवाद देखे जाते हैं। जैसे हिन्दी में तवर्ग और पवर्ग में पाँच-पाँच व्यंजन हैं जबकि चवर्ग में चार। इस वर्ग का ज केवल इतिहास की वस्तु रह गया है। कवर्ग और टवर्ग के नासिक्य स्वन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कई लोग ङ और ण को केवल |न| का सहस्वन मात्र मानते हैं।

4. **मितव्ययिता का सिद्धान्त** —

यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त कहता है कि स्वनिमों के निर्धारण में यह सतर्कता बरतनी चाहिए कि किसी सहस्वन को स्वनिम मानकर हम स्वनिम के अधिक भेद न मान लें या किसी स्वनिम को सहस्वन मानकर स्वनिम के कम भेद न हो जायें।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

- स्वनिम को परिभाषित करते हुए उसका संक्षिप्त परिचय दीजिए।
- स्वनिमों के भेदों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
- ध्वन्यात्मक समानता के सिद्धान्त की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

स्वनिमीय गठन-

NOTES

स्वनिमीय गठन का अर्थ है कि सम्बद्ध भाषा में प्राप्त सभी ध्वनियों की एक ऐसी पूर्ण सूची तैयार हो, जिसमें प्रत्येक स्वनिम का निश्चित कार्य निर्धारित हो। यह सूची अनेक प्रकार से बन सकती है। जैसे-

1. घोष-अघोष संस्वनों (संघ्वनियों) के आधार पर,
2. स्थान के आधार पर-कण्ठ्य, तालव्य आदि,
3. प्रयत्न के आधार पर-स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट आदि,
4. ओष्ठ की आकृति के आधार पर-वृत्मुखी, अवृत्मुखी आदि।

इसके लिए एक दूसरा बहुमूल्य प्रकार प्रस्तुत किया गया है। वह है- स्वनिमों को विशेष स्थान या परिस्थिति के अनुसार तथा संयुक्ताक्षरों के अनुसार वर्गीकृत रूप से प्रस्तुत करना। इस गठनात्मक वर्ग में एक स्थान पर, एक विशेष परिस्थिति में, आने वाले सिमस्त स्वनियों को एकत्र किया जाता है। ये स्वनिम एक-दूसरे स्वनिमों से पृथक् या विरोधी होते हैं। गठनात्मक वर्ग के लिए निम्नलिखित पद्धति अपनाई जाती है-

1. आदि, मध्य या अन्त में स्थिति,
2. दो स्वरों या दो व्यंजनों के बीच में स्थिति,
3. स्वर और व्यंजन के बीच में स्थिति
4. विभिन्न ध्वनियों के साथ संयुक्त होना
5. सुर, बलाघात आदि की विशेषता।

उदाहरण के लिए हिन्दी के निम्नलिखित स्वनियों का गठन देखा जा सकता है-

	आदि	मध्य	अंत्य
क।	कल	सकल	पाक
ख।	खल	मखाना	चख
ग।	गल	डगर	साग
घ।	घर	सुघर	बाघ
च।	चल	ललक	काल
छ।	छल	छलक	छाछ
ज।	जल	जलन	गाज
झ।	झल	मंझला	सांझ
ट।	टल	मटक	खट
ठ।	ठक	पाठक	पाठ
ड।	डल	सड़क	माड़
ढ।	ढल	लुढ़क	बाढ़
त।	तल	तीतर	तीत
थ।	थक	कथन	साथ
द।	दर	गदर	गाद
ध।	धन	साधन	साध

(ड़) सहस्वन

(ढ़) सहस्वन

।प।	पल	चपल	चाप	
।फ।	फल	कुफल	साफ	
।ब।	बल	सबल	दाब	
।भ।	भल	चुभन	शुभ	
।म।	मन	सुमन	काम	(ज) सहस्वन
।न।	नम	अनल	बन	(ड)
				(ण)

NOTES

इसी प्रकार व्यंजन गुच्छों एवं द्वित्व के गठन को भी दर्शाया जा सकता है।

सार-संक्षेप

मनुष्य अपने भाषिक व्यवहार में असंख्य ध्वनियों का प्रयोग करता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इतनी ध्वनियाँ नहीं मानी जा सकती। इसका उत्तर स्वनिम विज्ञान देता है। स्वनिम की परिकल्पना से ऐसी तमाम समान ध्वनियों को एक में समाहित माल ली जाती है। इसीलिए स्वनिम की परिभाषा में स्पष्ट किया जाता है कि “स्वनिम किसी भाषा की समान ध्वनियों का वह परिवार है जिसके सदस्य एक दूसरे के पूरक होते हैं किन्तु वह परिवार इस प्रकार के अन्य परिवारों से अलग होता है।”

स्वनों के समान स्वनिम के भी दो भेद होते हैं— खण्ड्य स्वनिम तथा खण्डेतर स्वनिम।

स्वनिम तथा सहस्वन के निर्धारण के लिए वितरणों— व्यतिरेकी, मुक्त तथा पूरक— का आश्रय लिया जाता है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. **स्वनिम विज्ञान की अवधारणा**— मनुष्य के वागेन्द्रिय द्वारा उत्पादित श्रौतगुणों से युक्त ध्वनि को वाग्ध्वनि कहते हैं। इन वाग्ध्वनियों से ही मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। यदि हम इन वाग्ध्वनियों का विश्लेषण करें तो इनमें अनेक सूक्ष्म ध्वनि तत्त्व(स्वन) मिलेंगे। जब कोई वक्ता किसी ध्वनि विशेष का कई बार उच्चारण करता है तो उसके प्रत्येक बार के उच्चारण में यत्किंचित अंतर अवश्य आ जाता है। यद्यपि साधारणतया यह अंतर सहज ग्राह्य नहीं है, किन्तु आधुनिक आविष्कार ने ऐसे ध्वनियंत्रों को उपलब्ध कर दिया है जिनकी सहायता से किसी भी ध्वनि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों—प्रभेदों को जाना जा सकता है। इनमें से सभी स्वन महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं। इसीलिए स्वनशास्त्री मानव मुख्य से निसृत अनेक स्वनों को साम्य एवं वैषम्य के आधार पर कतिपय समूहों में वर्गीकृत करता है। जिसके प्रत्येक सदस्य को ‘स्वन प्रकार’ अथवा ध्वनि की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं।

स्वन-विज्ञान के अन्तर्गत स्वनों के सैद्धान्तिक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जब हम किसी भाषा की स्वन व्यवस्था का अध्ययन करते हैं तो उसमें स्वनों की आपरिमित संख्या उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ— यदि हम हिन्दी के पल, ‘पल्ला, पलक, पकवान, लपक, धपक, नाप चाप शब्दों में प्-स्वन का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि सभी शब्दों में प् के उच्चारण के किंचित् अन्तर है, किन्तु इनके व्याकरणिक अन्तरों पर ध्यान न देते हुए हम ‘प्’ को एक वर्ण रूप में ही स्वीकार कर लेते हैं। यही बात हिन्दी के अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी है। विश्व की प्राचीन भाषाओं— संस्कृत, अरबी, ग्रीक आदि— की लिखावट के लिए जब वर्णों की उद्भावना की गयी होगी तो इस रूप में अनावश्यक स्वनों का परित्याग कर तथा परमावश्यक स्वनों को ग्रहण कर वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया होगा। इस व्यवस्था का आधार भी भेदक स्वन रहे होंगे जिनके सम्बन्ध में हमें आज निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। इन प्राचीन भाषाओं में इन वर्णों के आधार पर ही “वर्णम विज्ञान” रूपिम विज्ञान तथा व्याकरण के अन्य घटकों का निर्माण हुआ है।

NOTES

2. यूरोप तथा अमेरिका में भाषा-विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन का समारम्भ स्वनों के सूक्ष्म अध्ययन से हुआ था। आज से कई वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद् (आई.पी.ए.) ने रोमन लिपि में अनेक नये चिन्ह लगाकर एक अभिनव लिपि का निर्माण किया था। इसका मुख्य उद्देश्य एक ऐसी लिपि का निर्माण था जिसमें विश्व की समस्त भाषाएँ एवं बोलियाँ लिखी जा सकें। इसमें मानव वाग्यतंत्र से उच्चरित सभी स्वनों (ध्वनियों) के लिए चिन्ह बनाये गये। विश्लेषण के पश्चात् सन् 1920 ई. के आस-पास यह स्पष्ट हो गया कि स्वनविज्ञानी अपने उद्देश्य में असफल रहे। इसका कारण यह था कि विश्व की विविध भाषाओं में मानव वाग्-यन्त्र के उच्चारण-स्थानों-कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त आदि से उच्चारित सुर एवं तान युक्त अनेक ऐसे सूक्ष्म स्वन उपलब्ध हुए जिन्हें पृथक् कर, उनके लिये नये चिन्हों का निर्माण असम्भव हो गया। प्रसिद्ध स्वनविज्ञानी हेनरी स्वीट्ज़ेन विश्व की अनेक भाषाओं से एक सौ बीस प्रकार के केवल व्यंजन स्वनों को खोजकर वास्तव में अद्भूत कार्य किया था किन्तु सम्भावित स्वनों की खोज में स्वीट्ज़ेन भी असफल रहे। उधर भाषाओं एवं बोलियों के अध्ययन का क्रम ज्यों-ज्यों अग्रसर होता गया त्यों-त्यों अनेक नूतन स्वन उपलब्ध होते गये और इस प्रकार स्वनविज्ञानियों के अध्ययन का आयाम अत्यन्त विस्तृत होता गया।

कालान्तर में कतिपय स्वनविज्ञानी इस अध्ययन से निराश हो गये और उन्हें यह अनुभव हुआ कि इस प्रकार स्वनों के अध्ययन, वर्गीकरण एवं अंकन (प्रतिलेखन) में वे पूर्णतया कभी भी सफल न हो सकेंगे। किन्तु इस प्रकार की निराशा का कोई कारण न था। बात यह है कि शीघ्र ही भाषाविज्ञानियों ने इस तथ्य का अनुभव किया कि भाषा-विज्ञान का मुख्य उद्देश्य भाषा की संरचना का अध्ययन करना था। इस सम्बन्ध में यूरोप तथा अमेरिका के भाषा विज्ञानी स्वतंत्र चिन्तन के द्वारा सन् 1920 ई. में इस परिणाम पर पहुँचे कि किसी भाषा की स्वनात्मक व्यवस्था में सबसे अधिक महत्वपूर्ण उसकी कार्यकारी स्वनियों (फोनीमा) की प्राप्ति तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की खोज है न कि किसी वाग्-स्वन का सूक्ष्म अध्ययन।

3. मनुष्य अपने भाषिक व्यवहार में असंख्य ध्वनियों का प्रयोग करता है। किन्तु व्याकरणिक दृष्टि से किसी भाषा में ध्वनियों की संख्या पचास-पचपन से अधिक नहीं होती। उदाहरणार्थ कलम, कागज, किताब कुर्सी कृपा केशव कैलाश कोयल कौआ कंधा आदि शब्दों में हम जितनी बार भी क ध्वनि का प्रयोग करते हैं उसका उच्चारण थोड़ा बहुत बदल जाता है। कलम के क का उच्चारण कोमल तालु के पश्च भाग से होता है, जबकि किताब का अग्रभाग से। कलम, कुर्सी, केशव आदि शब्दों में क पूर्णतया मौखिक ध्वनि है। जबकि कंधा में उच्चारण अनुस्वार के संयोग के कारण किंचित् नासिक्य हो गया है। केवल इतना ही नहीं अकेले कलम शब्द का क राम मोहन और श्याम के उच्चारण में असमान होता है। खल, खाली खील खुरपा खेल, खोटा और खण्ड आदि शब्दों के उच्चारण में ख की भी वैसी ही स्थिति है। गगन, गाय, गीता, गुलाब, गेहूँ गोत्र और गंगा में भिन्न-भिन्न ध्वन्यात्मक सन्दर्भों में उच्चरित क ध्वनियाँ परस्पर भिन्न होते हुए भी काफी मिलती-जुलती हैं। इन ध्वनियों को एक परिवार कहा जा सकता है। ध्वनियों के इस प्रकार के परिवार को ही 'स्वनिम' या 'ध्वनिग्राम' कहते हैं।

स्वनिम की परिभाषा- व्यावहारिक उपादेयता को ध्यान में रखकर विभिन्न भाषा शास्त्रियों ने स्वनिम की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। नीचे चुनी हुयी परिभाषाएँ दी जाती हैं-

1. डैनियल जोन्स - 'किसी भाषा में ध्वनिग्राम (स्वनिम) संबंधित गुण में ध्वनियों का परिवार होता है जिसका कोई सदस्य किसी शब्द में इस प्रकार आता है कि उसी प्रकार के ध्वन्यात्मक संदर्भ में कोई दूसरा सदस्य नहीं आता है।

A. phoneme is a family of sounds in a given language which are related in character and are used in such a way that no one member ever occurs in a word in the same phonetic context as any other member (D. Jones.....A) outline of English phonetics.....The phonem pp. 10)

2. ब्लूमफिल्ड – ध्वनिग्राम व्यवच्छेदक ध्वनि स्वरूप की लघुतम इकाई है।
A minimum unit of distinctive sound feature.....(Bloom Field - Language)
3. ब्लाक तथा ट्रैगर– ध्वनिग्राम, स्वनिम ध्वन्यात्म दृष्टि से, समान ध्वनियों का समूह है जो किसी भाषा विशेष के उसी प्रकार के अन्य समस्त समूहों से व्यतिरिकी एवं अन्यापवर्जी होता है।
4. “स्वनिम किसी भाषा की मिलती –जुलती ध्वनियों का वह परिवार है जिसके सदस्य एक-दूसरे के पूरक होते हैं किन्तु वह परिवार इस प्रकार के अन्य परिवारों से अन्यापवर्जी (एक्सक्लूसिव) होता है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्वनिम के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं :-

1. स्वनिम का सम्बन्ध एक भाषा से होता है। प्रत्येक भाषा के अपने स्वनिम होते हैं, जिनका अन्य भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे हिन्दी का कोमल तालव्य क और अरबी का काकल्य क पृथक्-पृथक् स्वनिम हैं। दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। अंग्रेजी का वर्त्स्य ट और हिन्दी का मूर्द्धन्य ट भी भिन्न-भिन्न स्वनिम है।

जब कोई भाषा विदेशी शब्दावली को ग्रहण करती है तो उसके स्वनिमों को अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार अपने स्वनिमों में ढाल लेती है। अरबी फारसी के हजारों शब्द हिन्दी में आये और हिन्दी की ही प्रकृति में ढल गये। किताब, कानून, खत्म, खास, गबन गौर आदि शब्दों में प्रयुक्त क ख ग आज प्रायः हिन्दी स्वनिम बन गये हैं। कुछ शुद्धतावादी लोगों का आग्रह है कि इन्हें स्रोत भाषा की प्रकृति के अनुसार काकल्य बोलना चाहिए और लिखते समय भिन्नता सूचक नुकता भी लगाना चाहिए।

अंग्रेजी के ऑफिस, टैक्टर, बैंक आदि शब्दों में भी अब ऑ और ॐ स्वरों को हमने ऑ और ऐ में बदल लिया है। अब इन शब्दों को हिन्दी में आफिस, ट्रैक्टर, और बैंक लिखा जाता है इतना ही नहीं अस्पताल, कनस्तर, लालटेन आदि शब्दों की तो शक्ल-सूरत ही भारतीय बन गयी। अब प्रायः सभी गृहीत शब्दों में हिन्दी स्वनिमों का प्रयोग होता है।

2. स्वनिम परिवार के सदस्यों को सहस्वन या संस्वन (सहध्वनि या संध्वनि) कहा जाता है। स्वनिम विज्ञान में इनके लिए विशिष्ट चिन्हों का प्रयोग किया जाता है। स्वनिम को दो खड़ी रेखाओं के बीच लिखते हैं तथा सहस्वन को बड़े कोष्ठ [] में। जैसे – [क] [M'] [M'], आदि।
3. किसी स्वनिम के सहस्वन परिपूरक वितरण में आते हैं। जिस ध्वन्यात्मक सन्दर्भ में क1 का प्रयोग होता है, उसमें क2 या क3 का नहीं हो सकता। प्रत्येक सहस्वन का क्षेत्र निश्चित है। अतः किसी प्रकार के अतिक्रमण की गुंजाइश नहीं। इस बात को ड-ढ के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।
5. स्वनिमों के भेद– ध्वन्यात्मक दृष्टि से ध्वनिग्राम को 'खण्ड' तथा 'खण्डेतर', दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

खण्ड स्वनिम – वास्तव में खण्डध्वनिग्राम वे हैं जिनका पृथक् इकाई के रूप में विश्लेषण किया जा सकता है। इनका उच्चारण अन्य गुणों को बिना भी किया जा सकता। मुख्य रूप से इन्हें 'स्वर' तथा व्यंजन दो वर्गों में पृथक् किया जा सकता है।

खण्डेतर स्वनिम –जैसा कि पहले कहा गया है कि खण्ड स्वनिम विभाज्य हैं और इसमें स्वर तथा व्यंजन आते हैं। वितरण की विधि से इनका विश्लेषण किया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ स्वनिम ऐसे हैं, जो खण्ड स्वनिमों पर निर्भर हैं। इन्हें खण्ड स्वनिमों से पृथक् उच्चरित नहीं किया जा सकता है, अतः इन्हें खण्डेतर, अविभाज्य या अव्यक्त कहा जाता है। ये पाँच हैं– मात्रा, सुर, बलाघात, संगम, अनुनासिकता।

NOTES

6. ध्वन्यात्मक समानता का सिद्धान्त – ध्वनिविज्ञान में स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और ब्राह्म प्रयत्न के आधार पर स्वरों और व्यंजनों का स्वरूप—निर्धारण किया जाता है। यह स्वनिमों के निर्धारण की सबसे विश्वसनीय कसौटी है। इसके अनुसार समान उच्चारण स्थान और समान प्रयत्नों से उच्चरित दो ध्वनियों को एक ही स्वनिम के सहस्वन माना जा सकता है। किन्तु जब स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्नों में से कोई बदल जाता है तो भिन्न स्वनिम का उच्चारण होता है। 'काम', 'दुकूल', और 'शक्ति' में प्रयुक्त क¹, क² और क³ के उच्चारण में भले ही अन्तर हो, परन्तु ये तीनों कोमल तालव्य हैं, अघोष हैं, अल्पप्राण हैं, स्पर्श हैं। अतः तीनों केवल सहस्वन हैं, भिन्न स्वनिम नहीं। भाषावैज्ञानिक शब्दावली में स्थान और प्रयत्नों की अभिन्नता उन्हें एक स्वनिम के सहस्वन सिद्ध करती है।

इसके विपरीत 'काली', 'खाली', और 'गाली' में प्रयुक्त क, ख और ग भिन्न—भिन्न स्वनिम हैं क्योंकि तीनों कोमल तालव्य होते हुए भी बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से असमान हैं। क अघोष अल्पप्राण है, तो ख अघोष महाप्राण और ग घोष अल्पप्राण।

कुछ विशेष संन्दर्भों में इस नियम के अपवाद भी देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी के ड और ङ एक ही स्वनिम के सहस्वन हैं, जबकि दोनों में ध्वन्यात्मक एकरूपता नहीं है। ड स्पर्श है और ङ उल्क्षिप्त। अतः आभ्यन्तर प्रयत्न की भिन्नता के कारण इन्हें स्वतंत्र स्वनिम माना जाना चाहिए। वस्तुतः यह अपवाद नहीं, अपवादाभास मात्र है। इस प्रकार की प्रयत्न भिन्नता अन्यत्र भी देखी जाती है। जैसे हिन्दी का चवर्ग स्पर्श—संघर्षी वर्ग है। किन्तु 'चुप', 'चोट' आदि शब्दों में पश्च स्वरों के संयोग वाला च उतना संघर्षी नहीं होता जितना अग्र स्वरों के संयोग वाला 'चिकना', 'चीत्कार' आदि शब्दों का च। अतः ध्वन्यात्मक एकरूपता को स्वनिम निर्धारण की निर्दोष कसौटी माना जा सकता है।

अभ्यास—प्रश्न

1. स्वनिम विज्ञान के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
2. स्वनिम की अवधारणा पर एक लेख लिखिए।
3. स्वनिमिक विश्लेषण पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
4. खण्डेतर स्वनिमों को उदाहरण देकर समझाइए।
5. स्वनिमों के निर्धारण संबंधी सिद्धांतों का परिचय दीजिए।

रूप एवं रूपिम विज्ञान

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- रूप प्रक्रिया और रूपिम विज्ञान
- रूप प्रक्रिया का स्वरूप
- रूप प्रक्रिया की शाखायें
- रूपिम की अवधारणा
- रूपिम के भेद
- रूपिम निर्धारण के सिद्धांत
- रूपिम की विशेषताएँ
- सम्बन्ध तत्त्व के प्रकार्य
- सार-संक्षेप
- रूपिमों के भेद
- अभ्यास-प्रश्न

NOTES

भाषाविज्ञान में परंपरागत व्याकरण के अंतर्गत स्वन, स्वनिमों के पश्चात् रूप, रूपिम और शब्द का विवेचन किया जाता है। इसके साथ ही वाक्य के संबंध में भी विचार होता है। व्याकरण से संबंधित इस इकाई में प्रथम खण्ड के रूप में शब्द स्तर की विवेचना प्रस्तुत की जा रही है। इस इकाई की विषय वस्तु का अध्ययन कर आप—

- रूप प्रक्रिया एवं रूपिम विज्ञान से परिचित होंगे।
- शब्द और पद की जानकारी पा सकेंगे।
- रूपिम की अवधारणा की जानकारी पा सकेंगे।
- रूपिम की अवधारणा से परिचित होंगे।
- रूपिम के भेदों से सुपरिचित हो सकेंगे।
- संबंधदर्शी रूपिम के भेद और प्रकार्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

परिचय

पिछली इकाई में स्वनविज्ञान के अंतर्गत स्वनों एवं स्वनिमों का विवेचन विश्लेषण किया गया है। इस इकाई में व्याकरण की प्रथम पीठिका के रूप में रूप एवं रूपिम विज्ञान से संबंधित विषय सामग्री प्रस्तुत है। भाषाविज्ञान का वह भाग जिसमें रूपिम का व्यवस्थित अध्ययन होता है, रूपिम विज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। वस्तुतः स्वनिम के पश्चात् भाषा का महत्वपूर्ण तत्व रूपिम है, जिस पर सुस्पष्ट विवेचना करना ही इस इकाई का सार है।

शब्द भाषा की लघुतम सार्थक इकाई है। किंतु सार्थक होने के बावजूद वाक्य में शब्दों को ज्यों का त्यों प्रयोग नहीं होता। प्रयोगार्थ बनाने के लिए शब्दों में कुछ व्याकरणिक परिवर्तन करना पड़ता है। वाक्य में ये परिवर्तित रूप ही पद के रूप में जाने जाते हैं। वाक्य में प्रयुक्त होने वाले इन्हीं पद—रूपों के विश्लेषण तथा वाक्य के विविध पक्षों की जानकारी प्रस्तुत करना ही इस इकाई का लक्ष्य है।

रूप प्रक्रिया और रूपिम विज्ञान

भाषा की सरंचना के संदर्भ में स्पष्ट है कि अर्थहीन स्वनों से 'रूप' नामक भाषिक तत्व का निर्माण होता है। इन्हीं रूपों से शब्द निर्मित होते हैं जो वाक्य में पद नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार स्वन एवं स्वनिम विज्ञान भाषा का प्रारंभिक स्तर है जिसमें अर्थ का संयोजन नहीं होता। अर्थ युक्त भाषिक तत्वों का अध्ययन रूपों से ही प्रारंभ होता है। भाषा में अभिव्यक्ति या प्रोक्ति का मूलांश वाक्य होता है। वाक्य शब्दों को भाषा विशेष के व्याकरणिक नियमों के अनुसार प्रस्तुत करता है जिससे इन शब्दों के परस्पर संबंध से वाक्य का एक वांछित अर्थ निकल सके। आधुनिक भाषाविज्ञान में व्याकरण की दृष्टि से अनेक इकाइयों की संकल्पना की गई है और उनका विवेचन किया गया है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक अर्थ की दृष्टि से पूर्ण अभिव्यक्ति अर्थात् प्रोक्ति को सबसे बड़ी इकाई मानते हैं। इस प्रकार प्रोक्ति, वाक्य, पदबंध, शब्द और रूपिम की क्रमिक श्रंखला निर्मित होती है जो रूप प्रक्रिया एवं रूपिम विज्ञान के अध्ययन की विषय वस्तु है।

जिस प्रकार स्वन (Sound) के आधार पर स्वनिम—विज्ञान नाम पड़ा है, उसी प्रकार रूप या पद (उवतची, मार्फ) के आधार पर रूपिम—विज्ञान (मार्फीमिक्स) नाम पड़ा है।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों को यह विज्ञान भारतीय भाषाशास्त्रियों, मुख्यतः पाणिनि, की देन है। पाश्चात्य भाषाशास्त्री इस ऋण को स्वीकार करते हैं। प्रो. आर.एच. रोबिन्स (R.H. Robins) ने लिखा है कि भाषाशास्त्र में रूपिम (morpheme, मार्फीम) के अध्ययन का महत्व भारतीय वैयाकरणों की देन है।

पाणिनि ने जिस प्रकार संस्कृत भाषा के पद— विज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन अष्टाध्यायी में उपस्थित किया है, वह विश्व के भाषाशास्त्रियों के लिए आदर्श है। ऐसा सर्वांगीण अध्ययन आज तक किसी भाषा का प्रस्तुत नहीं किया गया है।

रूपिम विज्ञान (रूपग्राम—विज्ञान) का आधार रूप या पद है। इसमें प्रत्येक भाषा में प्रयुक्त पदों (रूपों) के सार्थक अवयवों का विभाजन करके रूपिम (मार्फिम) और संरूप (Allomorph, एलोमार्फ) का निर्धारण किया जाता है। इसका आधार अर्थ और वितरण होता है। यह रूपिम (मार्फिम) मुख्यतया दो रूपों में प्राप्त होता है—1. रूपिम (Free morpheme) 2. बद्ध रूपिम (Bound morpheme)। एक ही रूपिम के समानार्थक विभिन्न रूपों को संरूप (Allomorph) कहते हैं। संरूपों में जो अधिक प्रचलित या प्रयुक्त होता है, उसे रूपिम (morpheme) माना जाता है, शेष को संरूप।

रूप प्रक्रिया का स्वरूप

रूप प्रक्रिया को समझने के पूर्व हमें रूप और शब्द को समझना चाहिए। रूप क्या है ? स्वन विज्ञान के अंतर्गत यह स्पष्ट हो चुका है कि भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि या स्वन है। लेकिन ध्वनि अर्थवान नहीं होती। म् + अ + स् + त् + अ + क् + अ—ये स्वन यदि अलग—अलग बोले जाये तो अर्थ नहीं देते। इसके बावजूद जब हम मस्तक का उच्चारण करते हैं तो एक बिम्ब उभरता है। अतः मस्तक भाषा की लघुतम अर्थवान इकाई हुई किन्तु जब हम भाषिक व्यवहार में प्रयोग करते हैं तो देखते हैं कि कोई शब्द ठीक इसी रूप में वाक्य में प्रयुक्त नहीं होता। उसमें परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ही रूप प्रक्रिया है। इस परिवर्तन का अध्ययन व्याकरण के अंतर्गत होता आया है। अतः ध्वनि और ध्वनि से शब्द और फिर शब्दों के वाक्य प्रयोग से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसमें शब्दों की रूप रचना का अध्ययन परम्परागत भाषाविज्ञान करता आया है किन्तु आधुनिक भाषाविज्ञान ने इसके आगे लघुतम अर्थवान इकाई के रूप में शब्द और रूप से आगे रूपिम को महत्त्व दिया है। इस प्रकार रूप का अध्ययन करते समय रूप और रूपिम का अध्ययन किया जाता है। इस क्रम में सर्वप्रथम रूप प्रक्रिया का विश्लेषण समझना समीचीन है। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द वाक्य में सीधे प्रयुक्त नहीं होते। संस्कृत वैयाकरणों ने भी इसका उल्लेख किया है क्योंकि संस्कृत में कोई शब्द सीधे प्रयुक्त नहीं होता। नर एक शब्द है पर जब हम संस्कृत में वाक्य में इसका प्रयोग देखते हैं तो कहीं यह शब्द नहीं मिलता इसके स्थान पर नर के 24 रूप मिलते हैं। इस तरह नर शब्द है पर नर के विभिन्न प्रयोग नरः, नराः, नरस्य आदि उसके विभिन्न वाक्य में प्रयुक्त रूप हैं, जिन्हें पद भी कहा जाता है। यही अर्थवान होते हैं। लेकिन मूलतः ये पद भी अर्थवान नहीं होते। नर का एक अर्थ होता है तो नरस्य का दूसरा। अतः अर्थ का निर्धारण केवल नर से नहीं उसमें प्रयुक्त दूसरे शब्द से हो रहा है। अतः नरस्य में रूपिम भी अर्थवान है। रूप प्रक्रिया के अंतर्गत इन सबका अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार परम्परागत भाषाविज्ञान में जहाँ व्याकरण के अंतर्गत केवल शब्द और वाक्य विवेच्य रहे हैं, वहीं आधुनिक भाषाविज्ञान में व्याकरणिक स्तर पर लघुतम इकाई रूपिम को माना जाता है। और उच्चतम इकाई वाक्य के स्थान पर प्रोक्त को।

रूप प्रक्रिया की शाखायें

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूप प्रक्रिया के अंतर्गत निम्न शाखाओं का अध्ययन होता है—

1. शब्द या पद
2. रूप
3. रूपिम
4. वाक्य

परम्परागत भाषाविज्ञान में शब्दविज्ञान और पदविज्ञान या रूपविज्ञान दो शाखायें मानी जाती हैं। मूलतः रूप और रूपिम शब्द के ही विकार या विकास हैं। अतः सबसे पहले शब्द का अध्ययन उपयुक्त है।

शब्द, पद एवं संबंध तत्व —

शब्द की परिभाषा देते हुए महर्षि पंतजलि ने कहा है ... “शब्द कर्ण से उपलब्ध, बुद्धि से ग्राह्य तथा प्रयोग से स्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है”। ब्लाक और ट्रेगर अविभाजित मुक्त रूप को शब्द मानते हैं, तो सपीर “किसी एक विचार के प्रतीकात्मक तथा भाषण रूप को शब्द कहते हैं। के.

NOTES

पद —

शब्द को भाषा की लघुतम अर्थवान इकाई माना जाता है क्योंकि शब्द में अर्थतत्त्व निहित रहता है। प्राचीन मनीषियों ने शब्द को ब्रह्म और अर्थ को उसका विवर्त माना है।

संस्कृत में 'सुप्तिङन्तं पदम्' कहकर पद को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् सुप् और तिङ्. प्रत्ययों से युक्त शब्द को पद कहते हैं। संस्कृत व्याकरण में शब्द के चार भेद माने गए हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण नाम हैं, क्रियाएँ आख्यात हैं, नाम और आख्यात के आदि में जुड़ने वाली इकाई उपसर्ग और अव्ययों को निपात कहा गया है। सुप् प्रत्यय नाम के साथ लगते हैं। इन्हें ही विभक्ति या कारक कहा जाता है। एक शब्द में आठ कारकों के आठ पद बनते हैं और तीन वचन में आठ कारकों के 24 रूप बनते हैं। इन 24 रूपों को उस शब्द या पद या रूप माना जाता है। इनमें सुप् का प्रयोग हुआ है अतः इन्हें सुबन्त कहते हैं। अतः संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण के कारकीय रूपों को कहा जाता है। संस्कृत में ये सुबन्त शब्द कहलाते हैं। इसी प्रकार क्रिया में तीन—पुरुष और तीन वचन से 9 रूप होते हैं। क्रिया में लगने वाले ये प्रत्यय तिङ्. कहलाते हैं। अतः क्रिया में बनने वाले पद तिङ्.न्त कहे जाते हैं। सुबन्त और तिङ्.न्त ही संस्कृत व्याकरण में पद कहे जाते हैं। निपात के अंतर्गत अव्यय होते हैं, जिन्हें अविकारी कहा जाता है। इनके क्रिया विशेषण, समुच्चय बोधक, संबंधबोधक, विस्मयादि बोधक अनेक रूप होते हैं। ये विशेषताएँ योगात्मक भाषाओं की हैं। अयोगात्मक भाषाओं में पद बनाने के अलग विधान हैं।

पद की परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते हैं—

“शब्द के विशिष्ट व्याकरणिक रूप को पद कहा जाता है, जिसकी संरचना प्रत्यय, विभक्ति, निपात, पदक्रम आदि पद्धतियों से की जाती है।

रूपिम की अवधारणा

प्रत्येक भाषा कुछ सीमित ध्वनियों का प्रयोग करती है जिनके द्वारा असंख्य अर्थपूर्ण इकाइयों की रचना की जाती है। इन सीमित अर्थहीन इकाइयों के प्रभेदक प्रकार्य के द्वारा ही कई अर्थवान् इकाइयों की रचना संभव होती है। मानव भाषा की यह विशेषता 'अभिरचना द्वित्व' (*Duality of Patterns*) कहलाती है, जिसके कारण मानव भाषा की मानवेतर प्राणियों की सम्प्रेषण व्यवस्थाओं की तुलना में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ध्वनियाँ स्वयं अर्थहीन होती हैं परन्तु जब एक या एक से अधिक ध्वनियों का क्रम एक संकल्पना से जुड़कर अर्थवान हो जाता है तो अर्थ की ऐसी इकाई को जिसे अल्पतर अर्थवान भागों में खंडित न किया जा सके, रूपिम (*Morpheme*) कहते हैं।

'रूपिम' अंग्रेजी के *Morpheme* का हिंदी अनुवाद है, जिसे पहले 'रूपग्राम' या 'पदग्राम' के नाम से जाना जाता था। यह अपेक्षाकृत नयी अध्ययन शाखा है जिसका विकास बीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय वैज्ञानिकों ने रूपिम की परिभाषा करने का प्रयास किया है। ब्लॉक-ट्रैगर, हॉकेट और ग्लिसन ने काफी मिलती-जुलती परिभाषाओं में कहा है कि "किसी भाषा की लघुतम सार्थक इकाइयाँ, चाहे वे बद्ध हों या मुक्त, यदि व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण हैं, तो रूपिम कहलाती हैं।"

इन विद्वानों की परिभाषाएँ रूपिम के स्वरूप को काफी स्पष्ट कर देती हैं। यदि हम 'महाविद्यालयों में' पद का विच्छेद करें तो महा+विद्या+आलय+औ+में' ये पाँच इकाइयाँ प्राप्त होती हैं। ये सभी सार्थक घटक हैं। यदि हम इनमें से किसी इकाई को और छोटे टुकड़ों में विभाजित करें, तो वह सार्थक नहीं रहेगी। केवल निरर्थक ध्वनियाँ शेष रह जायेंगी।

एक वाक्य का उदाहरण देखिए—“आजकल रेलगाड़ियाँ प्रायः समय पर नहीं आती ।” इस वाक्य में सामान्य व्यक्ति के लिए सात शब्द हैं। ‘समय पर’ को एक ही पद मानने वाले व्याकरण वेत्ता के लिए तो वह छह ही पद रह जाते हैं। किंतु रूपिम विज्ञान इस स्थूल विभाजन से संतुष्ट नहीं होता। वह वाक्य को और लघुतर खण्डों में विभाजित करता है। जैसे—आज+कल, रेल+गाड़ी+आँ, प्रायः, समय+पर, नहीं आ+ता+ई+अनुनासिकता। इन घटकों में आज, कल, रेल, गाड़ी, प्रायः, समय, नहीं, आ (ना)—स्वतंत्र घटक हैं तथा आँ (बहुवचन का प्रत्यय), पर (अधिकरण कारक का परसर्ग), ता (वर्तमान काल का क्रिया—प्रत्यय), ई (स्त्री प्रत्यय) तथा अनुनासिकता (बहुवचन का प्रत्यय) पराश्रित या आबद्ध घटक हैं। इस प्रकार इस वाक्य में 13 सार्थक इकाइयाँ हैं। इन्हीं इकाइयों को ‘रूपिम’ कहते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि ये भाषा की लघुतम सार्थक इकाइयाँ हैं। जैसे ‘आज’ का अर्थ है ‘वर्तमान दिवस’। किन्तु ‘आ’ और ‘ज’ का कोई अर्थ नहीं। अतः उपर्युक्त घटकों को ‘लघुतम सार्थक खण्ड’ कहा गया है। ये ही रूपिम हैं। एक अन्य वाक्य लीजिए—‘उसकी पाठशाला में दस शिक्षक हैं ।’ इस वाक्य में वह+ का+ई, पाठ+ शाला+में, दस शिक्षःअक, हो (ना) +ऐ + अनुनासिकता 12 घटक हैं—वह (अन्य पुरुष एकवचन सर्वनाम), का (सम्बन्ध कारक का परसर्ग), ई (स्त्री प्रत्यय), पाठ, शाला, में (अधिकरण कारक का परसर्ग), दस शिक्ष (‘सिखाना’ अर्थ की वाचक धातु) अक (कर्तृवाचक कृतप्रत्यय) हो (ना) क्रिया + ऐ (वर्तमान काल का तिङ् प्रत्यय)+अनुनासिकता (बहुवचन का वाचक ध्वनिगुण)। यदि इनमें से किसी घटक को और छोटे टुकड़ों में बाटें तो वे अर्थहीन होंगे।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा के लघुतम सार्थक, यदि वे व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण हों तो ‘रूपिम’ कहलाते हैं। सार्थकता की रक्षा करते हुए उन्हें और छोटे टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता। किंतु यह परिभाषा अभी अधूरी है क्योंकि यह ‘सह्रूप’ या ‘संरूप’ के विषय में कुछ नहीं कहती। इस कमी को हॅरिस की परिभाषा पूरा करती है। वे कहते हैं—

“उच्चारण के वे अंश जो एक—दूसरे से पूर्ण रूप से स्वाधीन होते हैं, किंतु जो समान और अनुरूप वितरण में आते हैं, रूपिमीय घटक कहलाते हैं। ‘रूपिम’ ऐसे घटकों का परिवार होता है, जो स्वतंत्रता पूर्वक एक—दूसरे को स्थापन्न करते हैं या परिपूरक वितरण में आते हैं। “स्पष्ट है कि यह बात हॅरिस ने संबंध तत्व को लेकर कही है क्योंकि अर्थ तत्व में कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का स्थानापन्न नहीं हो सकता और न कोई शब्द दूसरे के परिपूरक वितरण में आ सकता। डॉ. संबंध तत्त्वों में इस प्रकार का संबंध या वितरण अक्सर देखा जाता है। यदि हम अधिकरण कारक के परसर्गों को ले तो पायेंगे कि ‘में’ और ‘पर’ दोनों एक ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं, किंतु ‘में’ का प्रयोग किसी वस्तु या व्यक्ति ‘के भीतर’, अर्थ में होता है तथा ‘पर’ का ‘के ऊपर’ के अर्थ में। अतः ये दोनों अधिकरण के परसर्ग के ‘सह्रूप’ हैं।

विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम हिंदी के बहुवचन के प्रत्ययों को ले सकते हैं —

मूल शब्द	सह्रूप	पद
आदमी	0	आदमी
लड़का	ए	लड़के
पुस्तक	एँ	पुस्तकें
नदी	आँ	नदियाँ
चिड़िया	अनुनासिकता	चिड़ियाँ
विद्यार्थी (तिर्यक् रूप)	ओं	विद्यार्थियों
बालक (संबोधन)	ओ	बालको

NOTES

ऊपर के शब्दों में क्रमशः 0, ए, एँ, आँ, अनुनासिकता ओं और ओ प्रत्यय लगे हैं। ये सभी बहुवचन के प्रत्यय हैं। किंतु इनका क्षेत्र स्पष्ट रूप से बँटा हुआ है।

- (1) 0 प्रत्यय—इस प्रत्यय का प्रयोग आकारान्तेतर पुलिङ्ग शब्दों को बहुवचन बनाने के लिए होता है, जैसे आदमी, अध्यापक, ऋषि, साधु आदि।
- (2) ए—यह आकारान्त पुलिङ्ग शब्दों को बहुवचन बनाता है, जैसे—लड़का—लड़के, कमरा—कमरे आदि।
- (3) एँ—यह प्रत्यय इकारान्तेतर स्त्रीलिङ्ग शब्दों में लगता है, जैसे—पुस्तक—पुस्तकें, लता—लताएँ, बहू—बहुएँ आदि।
- (4) आँ—यह प्रत्यय इकारान्त/ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में लगता है, जैसे—कृति—कृतियाँ, नदी—नदियाँ।
- (5) अनुनासिकता—‘इया’ प्रत्ययान्त शब्दों को बहुवचन बनाने के लिए प्रयुक्त होती है, जैसे—चिड़िया—चिड़ियाँ, बुढ़िया—बुढ़ियाँ।
- (6) ओं—यह पुल्लिङ्ग—स्त्रीलिङ्ग सभी शब्दों के परसर्ग सहित (तिर्यक्) बहुवचन का प्रत्यय है, जैसे—आदमियों को, लड़कों के लिए, पुस्तकों में, नदियों का, चिड़ियों ने, आदि।
- (7) ओ—संबोधन का बहुवचन प्रत्यय है जैसे—भाइयो, बहनो, छात्रों आदि।

उल्लेखनीय हैं कि सबसे व्यापक प्रयोग वाले प्रत्यय को रूपिम माना जाता है। वह परिवार का मुखिया होता है और परिवार का सदस्य भी, जैसा कि उपर्युक्त सहरूपों में ‘ओं’ और ‘शै’ के समावेश से स्पष्ट है।

रूपिम के भेद

रूपिमों के वर्गीकरण के कई आधार होते हैं जिनमें रचना, अर्थ, स्वरूप और पृथक्करण, ये चार तत्त्व प्रमुख हैं।

1. रचना—रचना की दृष्टि से रूपिम के दो भेद हैं—रूढ़ और संयुक्त रूप।
 - (क) रूढ़—परम्परागत भाषाविज्ञान में मूल शब्दों को रूढ़ कहा जाता है। जो बिना संधि, समास, प्रकृति, प्रत्यय के केवल ध्वनियों के योग से बने शब्द हैं, वे रूढ़ हैं।
 - (ख) संयुक्त—दो रूपिम मिलकर जब एक नए शब्द का अर्थ देने लगते हैं तो उन्हें संयुक्त रूप कहा जाता है, जैसे विद्यार्थी। सामान्यतः इनमें वितरण की दृष्टि से दो रूपिम मिले हैं। अतः कुछ लोग तर्क करते हैं कि इनको दो रूपिम मानना चाहिए किन्तु दो रूपिमों के संयोग से बनने के बावजूद ये एक रूढ़ अर्थ देते हैं। अतः एक रूपिम के रूप में ही स्वीकार्य होते हैं। श्रमिक, कृषक ऐसे ही शब्द हैं।
2. अर्थ—अर्थ की दृष्टि से रूपिम के दो भेद हैं—
 - (क) अर्थदर्शी—अर्थदर्शी रूपिम उन्हें कहते हैं, जो पद में अर्थ का बोध कराते हैं। (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं धातुएँ) अर्थदर्शी रूपिम हैं।
 - (ख) संबंधदर्शी—जो शब्द या प्रत्यय व्याकरणिक इकाई निर्धारित करते हैं और शब्द से जुड़कर या पृथक रहकर लिङ्ग, वचन, कारक, काल, वाच्य और पुरुष का बोध कराते हैं उन्हें संबंधदर्शी रूपिम कहा जाता है—एँ, ओं, ने, के, पर, हूँ, हैं, था आदि संबंधदर्शी रूपिम हैं।
3. स्वरूप—स्वरूप की दृष्टि से भी रूपिम के दो भेद होते हैं—(क) मुक्त रूपिम, (ख) बद्ध रूपिम।
 - (क) मुक्त रूपिम—इनका स्वतंत्र प्रयोग होता है। मुक्त रूपिम एक रूपिमिक होता है। विश्व की कुछ भाषाओं में सभी रूपिम मुक्त होते हैं। जैसे वियतनामी। सामान्यतया रूपिम दोनों प्रकार

घोड़ा आ रहा है—घोड़ा (मुक्त रूपिम)

दिन अच्छा है—दिन (मुक्त रूपिम)

रूपिम निर्धारण—

रूपिम निर्धारण एक सूक्ष्म प्रक्रिया है जिसके लिए भाषा की गहरी जानकारी आवश्यक है। प्रो. हॅरिस और चोम्स्की आदि कई विद्वान रूपिमों के निर्धारण के लिए रूपों को आधार मानते हैं। परंतु निर्दोष रूपिम निर्धारण के लिए अर्थ को आधार मानना ज्यादा वैज्ञानिक है। ब्लॉक—ट्रैगर और ब्लूमफील्ड ने अर्थ को आधार बनाने पर जोर दिया है। बल्कि 'रूप' और 'अर्थ' दोनों का समन्वित आधार रूपिम निर्धारण का और सही मार्ग हो सकता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

कल्पना कीजिए एक अध्ययनकर्ता ने हिंदी के सामान्य वर्तमान काल के क्रियापदों का संग्रह किया। उसने 'जाता है', 'खाता चलता है', 'पढ़ता है' जैसे पद एकत्रित किये। उसने इन रूपिमों का विश्लेषण किया तो पाया कि प्रत्येक पद में तीन रूपिम हैं—जा+ता+है, खा+ता+है, चल+ता+है आदि। उसी क्रम में उसे 'छाता' है, 'माता है' जैसे वाक्यांश भी मिले। यदि वह अर्थ पद्धति का अवलम्बन नहीं करता तो इन वाक्यांशों को भी छा+ता+है, मा+ता+है जैसे तीन—तीन रूपिमों में विभाजित कर देगा और छाता (छत्री) और माता (जननी) जैसे रूपिमों का अनुचित विभाजन हो जायेगा।

रूपिम निर्धारण के सिद्धांत

भाषावैज्ञानिकों ने कुछ सिद्धांत निश्चित किये हैं, जिनके आधार पर रूपिमों की निर्दोष पहचान की जा सकती है।

1. वितरण का सिद्धांत— रूपिम निर्धारण का सबसे विश्वसनीय आधार वितरण का सिद्धांत है। रूपिम विज्ञान की मान्यता है कि जो खण्ड परिपूरक वितरण में आते हैं, वे एक रूपिम के सहरूप होते हैं और जो व्यतिरेकी वितरण में आते हैं वे स्वतंत्र रूपिम होते हैं। पिछले पृष्ठों में हिंदी और अंग्रेजी के बहुवचन के सहरूपों का विवेचन किया गया है यहाँ विषय को स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण प्रस्तुत है। लड़का—लड़की, ऊँट—ऊँटनी, सेठ—सेठानी, पंडित—पंडिताइन, अध्यापक—अध्यापिका, कुत्ता—कुतिया आदि युग्मों में क्रमशः ई, नी, आनी, आइन, आ और इया प्रत्ययों का स्त्रीलिंग बनाने के लिए प्रयोग हुआ है। ये सब स्त्री प्रत्यय परिपूरक वितरण में आते हैं। इन्हें (ई) रूपिम के सहरूप मानना चाहिए, जिसे इस शैली में व्यक्त करेंगे—

(ई)—ई।—नी।।—आनी।—आइना। आ—इया।

2. अर्थभेद का सिद्धांत— इस सिद्धांत के अनुसार एक रूपिम के सहरूप एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे उपर्युक्त (ई) रूपिम सहरूप, स्त्रीलिंग बनाने के काम आते हैं। दूसरी ओर 'जपानी', 'नेपाली', 'मुम्बइया' 'पुरवइया' में भी ई और इया प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। परंतु संज्ञा से विशेषण बनाने वाले प्रत्यय हैं। अतः भिन्न रूपिम के सहरूप हैं। स्त्री प्रत्यय (ई) रूपिम से इनका कोई संबंध नहीं। अर्थभेद के सिद्धांत के अनुसार स्त्री प्रत्यय (ई) और विशेषण प्रत्यय (ई) दो भिन्न—भिन्न रूपिम हैं।

(उपर्युक्त दोनों (ई) व्यतिरेकी वितरण में आते हैं। अतः 'बनारसी', 'पाकिस्तानी', 'सिंधी', 'पंजाबी' के अनुकरण पर 'लड़की' को विशेषण नहीं कहा जा सकता और न ही घोड़ी, लड़की के अनुकरण पर 'बनारसी' को स्त्रीलिंग)

3. अधिक भेद और अधिक अभेद से बचने का सिद्धांत— यह सिद्धांत भी रूपिम निर्धारण में मार्गदर्शक होता है। यदि कोई भाषिक इकाई खंडित होने के बाद अर्थहीन हो जाये, तो समझिए आपका रूपिम निर्धारण 'अधिक भेद' का शिकार हो गया है। ऊपर के 'छाता' और 'माता' के उदाहरण इस तथ्य के प्रमाण हैं। इसी प्रकार आया (आ+आ), खाया, पाया, नहाया के अनुकरण

NOTES

पर जाया (पत्नी) को दो खण्डों में विभाजित करें, तो यह 'अधिक भेद' कहलायेगा और सदोष निर्धारण होगा।

दूसरी ओर 'सताया' के अनुकरण पर 'पकाया' को भी दो घटकों में विभाजित करें तो यह अर्थात् एक अभेद (अपेक्षित भेद न करना) कहलायेगा। ध्यातव्य है कि सता (ना) क्रिया एक रूपिम है और पकाना (पक + आ) दो रूपिमों का संयोग। 'पकाना' का 'आ' प्रेरणार्थक प्रत्यय है, जैसे चढ़ना-चढ़ाना, देखना-दिखाना, सुनना-सुनाना आदि।

4. समान स्वनिम, समान क्रम, समान अर्थ का सिद्धांत—यह सिद्धांत अर्थदर्शी रूपिमों के निर्धारण की सबसे विश्वसनीय कसौटी है। वैसे संबंधदर्शी रूपिमों में भी यह कम विश्वसनीय नहीं है। इसी सिद्धांत के आधार पर पिछले पृष्ठों में कनक (सोना) और कनक (धतूरा) पानी और जल को भिन्न-भिन्न रूपिम सिद्ध किया गया है। लड़की के (ई) और 'बनारसी' के (ई) की भिन्न रूपिमता भी इसी सिद्धांत से प्रमाणित होती है।

(ख) बद्धरूपिम—अर्थवान होने पर भी जो रूपिम स्वतंत्र नहीं प्रयुक्त होते, उन्हें बद्ध रूपिम कहा जाता है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें अन्य रूपिमों से बद्ध होना पड़ता है। विभक्तियाँ, परसर्ग, पूर्वसर्ग, प्रत्यय, कृदन्त, स्त्री प्रत्यय, उपसर्ग बद्ध रूपिम हैं। प्र से कोई अर्थ नहीं होता पर प्रबंध कहने पर प्र अर्थ देने लगता है। ऐसे रूपिमों को बद्ध रूपिम कहा जाता है। मुक्त रूपिमों का वाक्य के बाहर भी अर्थ होता है पर बद्ध रूपिम का अर्थ वाक्य में पदों के साथ होता है।

5. पृथक्करण—विभाजन की स्थिति के अनुसार रूपिम के दो भेद होते हैं—(क) खंड्य, (ख) खंड्येतर।

(क) खंड्य—पद को विभाजित करके जिन रूपिमों को अलग किया जा सके, उन्हें खंड्य रूपिम कहते हैं। उदाहरण के लिए विद्यालयों—विद्या + आलय + ओं। इसी प्रकार कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

खाता है—खा (ना) + ता + है ।

घोड़े—घोड़ा + ए

उसको—वह + को

धोबिन—धोबी + इन

यहाँ दोनों रूपिम स्पष्ट रूप से अलग किये जा सकते हैं। अतः इन्हें खंड्य कहा जाता है।

(ख) खंड्येतर—ऐसे शब्द जिनमें आंतरिक परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन होता है, उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः वे खंड्येतर कहलाते हैं। प्रत्यय का प्रयोग संश्लिष्ट रूप में होता है जिससे स्वन परिवर्तन या आदेश हो जाता है। वहाँ विभाजन जटिल है।

यथा— खाना — खाया

बनना — बनाना

खुलना — खोलना

संरूप (Allomorh) —

रूपिम या रूपग्राम के समानार्थक, किंतु परिपूरक वितरण वाले, रूपों को संरूप कहते हैं। 1. संरूप या एलोमार्फ (Allomorh) का अर्थ है—एलो अवयव, मार्फ—रूपिम अर्थात् रूपिम के अंग या अवयव। जिस प्रकार स्वनिम के अवयव संस्वन होते हैं, उसी प्रकार रूपिम के अवयव अर्थात् उसी अर्थ को बताने वाले विभिन्न रूप संरूप कहे जाते हैं। संरूप के लिए आवश्यक नहीं है कि वह ६

व्यात्मक दृष्टि से परस्पर समान हों, उनमें अर्थ की एकता अनिवार्य है। यहाँ यह स्मरण रखें कि पर्यायवाची शब्द या प्रत्यय संरूप के उदाहरण नहीं होंगे। जैसे—संस्कृत में लट् प्रथम पुरुष बहुवचन में अन्ति, अति लगते हैं, पठ्-पठन्ति, दा-ददति। इसमें अन्ति और अति एक ही अर्थ में आते हैं। 'अन्ति' अधिक प्रचलित है, अतः उसे रूपिम माना जाएगा और 'अति' परिपूरक वितरण में आने से संरूप कहा जाएगा। हिंदी में संज्ञा शब्दों के बहुवचन में ओं, ओ, ए, एं आदि लगते हैं। जैसे—पुस्तक—पुस्तकों, घोड़ा—घोड़े, माता—माताएँ, जाति—जातियाँ आदि। इनमें बहुवचन में 'ओ' सबसे अधिक प्रचलित है, अतः उसे बहुवचन सूचक रूपिम माना जाता है। अन्य बहुवचन—सूचक प्रत्यय 'ओं' के परिपूरक वितरण में आने के कारण संरूप माने जाते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में संज्ञा के बहुवचन में स्, ज इज्, इन, रिन, शून्य लगते हैं।

रूपिम की विशेषताएँ

1. प्रत्येक भाषा के अपने रूपिम होते हैं। उनका दूसरी भाषा के रूपिमों से कोई संबंध नहीं होता।
2. अन्य भाषाओं से ग्रहण किये हुए शब्दों में भी स्रोत भाषा के रूपिम प्रयुक्त नहीं होते। अतः हिंदी में 'स्कूलों' में मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिए। जैसे वाक्यों में स्कूल का बहुवचन 'स्कूल्स' नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'कागजात' 'मेम्बरान' आदि भी गलत प्रयोग हैं।
3. किसी रूपिम के सहरूप परस्पर अविरोधी होते हैं और परिपूरक वितरण में आते हैं। जैसे ऊपर बहुवचन के रूपिमों के संदर्भ में दिखाया गया है।
4. एक रूपिम के सहरूप समानार्थी होते हैं। उनका प्रयोग एक ही व्याकरणिक प्रयोजन के लिए होता है। अन्य व्याकरणिक कोटि से उनका कोई संबंध नहीं होता।
5. ध्वन्यात्मक समानता के होते हुए भी भिन्न 'अर्थ' वाले घटक भिन्न-भिन्न रूपिम कहलाते हैं, जैसे संबोधन के बहुवचन का 'ओ' और आज्ञार्थ क्रिया के बहुवचन का 'ओ' भिन्न-भिन्न रूपिम कहलायेंगे। अंग्रेजी के बहुवचन का 'ओ' और सामान्य वर्तमान की एकवचन की क्रिया का 'भी' भिन्न-भिन्न रूपिम हैं।
6. एक रूपिम के सहरूप एक ही वर्ग के शब्दों में लगते हैं, जैसे (ओं) संज्ञा के बहुवचन का रूपिम क्रिया के साथ प्रयुक्त नहीं होता।
7. अर्थदर्शी रूपिमों के सहरूप नहीं होते। केवल संबंधदर्शी रूपिमों के ही सहरूप होते हैं।

पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि पद का निर्माण शब्द में प्रत्यय या अन्य कोई संबंध तत्व जोड़कर होता है। इस संयोग में 'शब्द' का कार्य अर्थ की अभिव्यक्ति होता है तो संबंध तत्व का व्याकरणिक संबंध की अभिव्यक्ति। इसीलिए रूपिम विज्ञान में शब्द को 'अर्थदर्शी रूपिम' और संबंध तत्व को 'सम्बन्धदर्शी' कहा जाता है। ऊपर की पंक्तियों में सम्बन्धदर्शी रूपिमों और उनके सहरूपों की चर्चा की गयी है। अब अर्थदर्शी रूपिम के निर्धारण की पद्धति पर विचार किया जायेगा।

अर्थदर्शी रूपिमों के निर्धारण का सूत्र है—'समान ध्वनियाँ, समान क्रम, समान अर्थ।' इस सूत्र के अनुसार यदि समान ध्वनियाँ समान क्रम में आयें और उनका अर्थ भी समान हो तो उस ध्वनि समूह को एक रूपिम माना जायेगा। उदाहरणार्थ 'घड़ा' शब्द घ्+अ+ङ्.+आ ध्वनियों के संयोग से बना है। उसका अर्थ 'एक विशिष्ट आकार का बर्तन' है। यह शब्द भाषा में जहाँ कहीं भी आयेगा, वहाँ 'घड़ा' एक ही रूपिम कहलायेगा।

किंतु समान ध्वनियाँ समान क्रम में आयें, परंतु उनके अर्थ भिन्न-भिन्न हों, तो वे दो भिन्न-भिन्न रूपिम कहलायेंगे। जैसे—बिहारी के सुप्रसिद्ध दोह "कनक—कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय" में 'कनक' शब्द दो बार आया है। पहले 'कनक' का अर्थ है 'सोना' तथा दूसरे 'कनक' का धतूरा। रूपिम विज्ञान

स्व-प्रगति की जाँच करें—

1. रूप प्रक्रिया और रूपिम विज्ञान का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. रूप प्रक्रिया के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
3. 'रूपिम' किसे कहते हैं ? किसी एक परिभाषा द्वारा रूपिम का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

NOTES

के सिद्धांतों के अनुसार ये दो भिन्न-भिन्न रूपिम हैं। एक शब्द के दो या अधिक अर्थ नहीं होते। जितने अर्थ उतने ही 'रूपिम' माने जाते हैं।

यदि दो शब्दों में ध्वनियों की समानता हो, परंतु वे एक क्रम में न आयें, तो वे भिन्न-भिन्न कहलायेंगे। जैसे—'नदी' और 'दीन' शब्दों में समान ध्वनियों का प्रयोग हुआ है, परंतु वे भिन्न-भिन्न क्रम में आयी हैं। ऐसे शब्दों में अर्थसाम्य की कोई गुंजाइश नहीं होती। फिर भी यदि कोई अर्थसाम्य वाला उदाहरण मिल जाये, तो भी वे दो रूपिम कहलायेंगे।

उधर केवल अर्थ की समानता से भी दो ध्वनि समूह एक रूपिम नहीं हो जाते। उदाहरणार्थ 'जल' और 'पानी' दो शब्द हैं, दो रूपिम हैं। 'नदी' और 'सरिता' दो रूपिम हैं, 'पर्वत' और 'गिरि' दो रूपिम हैं। इसे निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट समझा जा सकता है —

आम	=	सामान्य	आम	=	आम्र फल (भिन्न रूपिम)
जल	=	पानी	नीर	=	पानी (भिन्न रूपिम)
पुस्तक	=	किताब	पुस्तक	=	किताब (एक रूपिम)
घट	=	घड़ा	घट	=	घड़ा (एक रूपिम)

तात्पर्य यह है कि रूपिम की अनन्यता की कसौटी 'एक शब्द एक अर्थ' है। न तो दो अर्थों में प्रयुक्त द्व्यर्थक शब्द एक रूपिम हो सकते हैं और न समानार्थी शब्द।

रूपिम की इस संकल्पना को अलग-अलग भाषाविदों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। इनमें से कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं :

'रूपिम वह भाषायी रूप है जिसकी भाषा विशेष के किसी अन्य रूप से किसी प्रकार की ध्वन्यात्मक और अर्थगत समानता नहीं होती।' —ब्लूमफील्ड

Bloomfield - "A linguistic form which bears no partial phonetic - semantic resemblance to any other form in a language is a morpheme." (1933)

'कोई भी भाषायी रूप चाहे मुक्त हो या आबद्ध, और जिसे लघुतर अर्थवान रूपों में खंडित न किया जा सके, रूपिम होता है। —ब्लॉक

Bloch - "Any form whether- bound or free, which can not be divided into smaller meaningful parts is a morpheme."

इस प्रकार कहा जा सकता है कि "रूपिम वस्तुतः परिपूरक वितरण या मुक्त वितरण में आए हुए सहपदों का समूह होता है।"

(1) शब्द और संबंध तत्त्व

पद के स्वरूप को गणितीय शब्दावली में जिस सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया जाता है, उसमें विभक्ति के लिए 'संबंध तत्त्व' शब्द का प्रयोग होता है, अर्थात् शब्द + सम्बन्ध तत्त्व = पद। इस सूत्र को और वैज्ञानिक रूप देते हुए कुछ विद्वान इसे अर्थ तत्त्व + सम्बन्ध = पद इस रूप में भी ग्रहण करते हैं। अतः 'पद' के वास्तविक रूप को समझने के लिए हमें अर्थ तत्त्व और संबंध तत्त्व के पारस्परिक संबंधों को जानना होगा।

'शब्द' भाषा की एक महत्वपूर्ण इकाई है, जो कुछ स्वनिमों के संयोग से बनती है। अनेक विद्वानों ने शब्द की परिभाषा करने का प्रयास किया है जिसका सारांश यह है कि 'अर्थ' की दृष्टि से भाषा की लघुतम संपूर्ण इकाई 'शब्द' है। "जब हम कुछ स्वनिमों का एक विशिष्ट क्रम में उच्चारण करते हैं, तो एक निश्चित अर्थ का बोध होता है। (यह बात आगे अर्थविज्ञान के संदर्भ में स्पष्ट हो जायेगी) उदाहरण के लिए जब हम प+उ+स+त्+अ और क् ध्वनियों को इस क्रम में बोलते हैं तो अंतिम ध्वनि क् तक पहुँचते ही एक शब्द 'पुस्तक' और उसके अर्थ की छवि हमारे मानस पटल पर अंकित

हो जाती है। यही स्वनिम समूह 'शब्द' कहलाता है। शब्द में 'अर्थ' सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है अतः पदविज्ञान में शब्द को 'अर्थ तत्व' कहते हैं। पाणिनि के व्याकरण में 'अर्थतत्त्व' के लिए दो शब्द प्रचलित थे, 'प्रातिपदिक' और 'धातु'। नाम (संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण) शब्दों को प्रातिपदिक और मूल क्रियाओं को 'धातु' कहा जाता था। स्पष्ट है सुप् प्रत्यय प्रातिपदिकों से लगते थे और तिङ् प्रत्यय धातुओं से।

संबंध तत्व—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शब्दों को 'पद बनाने के लिए उसमें संबंध तत्व जोड़ना पड़ता है, जिसमें प्रमुख रूप से प्रत्ययों और विभक्तियों की गणना होती है। किंतु पद बनाने की अन्य भी कई विधियाँ हैं, जिन्हें विभिन्न परिवारों की भाषाओं में प्रयोग में लाया जाता है। कुछ प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं।

- (1) प्रत्यय— संबंध तत्व का सबसे महत्वपूर्ण भेद प्रत्यय है। प्रत्यय एक सार्थक इकाई होती है परंतु उसका स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं होता। प्रत्ययों के कई उपभेद होते हैं। धातु में जुड़कर शब्द निर्माण करने वाले कृत् प्रत्यय, जैसे ति, तव्य, अनीय, अन, संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण में लगकर शब्दा बनाने वाले तद्धित प्रत्यय, जैसे ता, त्व, य, पुलिंग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने वाले स्त्री प्रत्यय जैसे—ई, आनी, प्रतिपदिकों में लगने वाले सुप प्रत्यय या धातुओं में लगने वाले तिङ् प्रत्यय। इनमें से पद निर्माण के लिए केवल सुप् और तिङ् प्रत्ययों का प्रयोग होता है ।
- (2) परसर्ग—प्रत्ययों की तरह 'परसर्ग' भी स्वतंत्र शब्द नहीं होते। हिंदी के ने, को, से, के साथ, के द्वारा, के लिए, का, के, की, में पर आदि भाषिक इकाइयाँ परसर्ग हैं, 'प्रत्यय' या 'विभक्ति' नहीं। प्राकृत काल में स्वतंत्र शब्दों से परसर्गों का विकास हुआ।
- (3) पूर्वसर्ग—अंग्रेजी में परसर्गों की जगह पूर्वसर्गों का प्रयोग होता है, इन्हें च्त्तमचवेपजपवद कहते हैं। श्त्तमश् का अर्थ 'पूर्व' है और चवेपजपवद का 'स्थिति' I to , with , by , for from, off, at, on, पद आदि इकाइयाँ वस्तुतः पूर्वसर्ग हैं। परसर्गों की तरह पूर्वसर्ग भी 'विभक्ति' या स्वतंत्र शब्द नहीं हैं।
- (4) स्वतंत्र शब्द—अनेक भाषाओं में स्वतंत्र शब्द जोड़कर शब्दों को पद बनाया जाता है। हिंदी में भी विद्वान, अध्यापकगण, भक्त वृन्द आदि पदों में बहुवचन के वाचक जन, गण और वृन्द स्वतंत्र शब्द हैं।
- (5) शून्य विभक्ति—कभी—कभी किसी शब्द को ज्यों का त्यों अविकृत छोड़ दिया जाता है। इसे 'शून्य विभक्ति' या 'शून्य संबंध तत्व' कहते हैं। संस्कृत में नदी, नारी, स्त्री आदि ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्द, लता, आशा, सुता आदि आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द तथा जगत् सम्राट आदि व्यंजनान्त शब्द कर्ता एकवचन में अविकृत रहते थे।
हिंदी में आकारान्त शब्दों को छोड़कर सभी पुल्लिंग शब्द बहुवचन में भी ज्यों के त्यों रहते हैं, जैसे बालक आते हैं, आदमी रहते हैं, पशु विचरते हैं आदि। इनमें शून्य संबंध तत्व की कल्पना की गई है। शब्द बहुवचन में अविकृत देखे जाते हैं।
- (6) द्वित्व—इसे 'आवृत्ति' या 'ध्वनि—आवृत्ति' भी कहते हैं। इस पद निर्माण प्रक्रिया में पूरे शब्द की आवृत्ति नहीं होती अपितु उसकी कुछ ध्वनियों को आगे या पीछे जोड़ दिया जाता है। हिंदी में पूरे पद के द्वित्व के भी कई उदाहरण मिलते हैं। जैसे कौन (एकवचन), कौन—कौन (बहुवचन), जो (एकवचन), जो—जो (बहुवचन)। इसी प्रकार 'वह चलते—चलते रुक गया', 'वह हँसते—हँसते रोने लगा' आदि वाक्यों में भी द्वित्व का प्रयोग देखा जा सकता है।
- (7) पदक्रम—अयोगात्मक भाषाओं में पदक्रम संबंध तत्व का महत्वपूर्ण विकल्प है। इन भाषाओं में शब्द ही 'पद' के तौर पर इस्तेमाल किये जाते हैं और वाक्य में स्थान के आधार पर कर्ता, क्रिया, कर्म आदि की भूमिका निभाते हैं। अयोगात्मक भाषा चीनी में पदक्रम का व्याकरणिक

NOTES

महत्व है। वहाँ पदों का क्रम बदलने से वाक्य का अर्थ पूर्णतया बदल जाता है। 'नो त नि' = मैं तुम्हें मारता हूँ। इसका क्रम बदल दें तो 'नि त नो' का अर्थ होगा—तुम मुझे मारते हो। संस्कृत के पदक्रम का कोई महत्व नहीं होता। जबकि हिंदी में 'साँप मेढ़क खाता है' और 'मेढ़क साँप खाता है' में अर्थ की भिन्नता का आधार पदक्रम है, जिसके अनुसार पहला पद कर्ता और दूसरा कर्म होता है, जबकि क्रिया अन्त में आती है।

- (8) मात्रा—कई भाषाओं में मात्रा—परिवर्तन भी संबंध तत्व का काम करता है। हिंदी में पीटना—पिटना, लूटना—लुटना, सुनना—सुनाना, लौटना—लौटाना, पीसना—पिसना आदि युग्मों में मात्रा—भेद के कारण क्रिया कहीं सामान्य से प्रेरणार्थक हो गयी है तो कहीं कर्मकर्तृक। 'पीटना' का इ ह्रस्व होने से क्रिया पिटना (कर्मकर्तृक) बन जाती है तो लौटना से लौटाना प्रेरणार्थक।
- (9) अनुनासिकता—मात्रा की तरह कई बार अनुनासिकता भी संबंध तत्व का काम करती है। अनेक क्रियारूप अनुनासिकीकरण से बहुवचन बन जाते हैं, जैसे है (एकवचन) हैं (बहुवचन) थी (एकवचन) थीं (बहुवचन), गयी (एकवचन) तथा गयीं (बहुवचन)। कुछ संज्ञा शब्दों में भी अनुनासिकता बहुवचन का काम करती है, जैसे चिड़िया—चिड़ियाँ, डलिया—डलियाँ, बुढ़िया—बुढ़ियाँ आदि।

कुछ विद्वानों ने उपसर्गों की गणना भी संबंध तत्व के भेदों में की है किंतु उपसर्ग का क्षेत्र केवल शब्द निर्माण तक सीमित है। प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार जैसे शब्दों में उपसर्ग मूल अर्थ को बदलने का काम करते हैं। शब्द को पद बनाने में उपसर्गों का कोई योगदान नहीं होता।

वस्तुतः शब्द वे भाषिक तत्व हैं जिनका वितरण एवं अर्थ पूर्णतया स्वतंत्र रूप में होता है तथा जिनके पूर्व एवं पश्चात कोई भी भाषिक तत्व नहीं जुड़ता। शब्द और रूपिम का यह अंतर नीचे दिए गए उदाहरणों से सुस्पष्ट हो जायेगा।

1. मुक्त रूप — नर, हाथी, लड़का, बच्चा, घर
2. मुक्तरूप + आबद्धरूप — घरों (घर + ओं)
आमों (आम + ओं)
घोड़े (घोड़ + ए)
3. मुक्तरूप + मुक्तरूप — डाकखाना (डाक + खाना)
कामचोर (काम + चोर)
दिलजला (दिल + जला)
4. आबद्धरूप + मुक्तरूप — अनकहा (अन् + कहा)
कुपुत्र (कु + पुत्र)
5. आबद्धरूप + आबद्धरूप — उत्तर (उत् + तर)
अनुज (अनु + ज)
उत्तम (उत् + तम)

रूपिम तथा शब्द के उपर्युक्त विवेचन से इन दोनों में जो अंतर है उसे बड़ी सरलता से जाना जा सकता है।

रूपिम भाषा की न्यूनतम इकाई है। इसका निर्माण एक या एक से अधिक स्वनिमों को किसी निश्चित क्रम में रखने से होता है। किंतु शब्द व्याकरणिय वर्ग है और इसका निर्माण एक या एकाधिक रूपिमों

को एक विशेष या निश्चित क्रम में रखने से होता है ।

सम्बन्ध तत्त्व के प्रकार्य

भाषा में संबंध तत्त्व लिंग, वचन, कारक, पुरुष, काल, क्रियार्थ, वाच्य आदि की अभिव्यक्ति करते हैं। इनमें से कारकों का संबंध संज्ञा, सर्वनाम और विशेषणों से है तथा काल, क्रियार्थ और वाच्य का क्रिया से। पुरुष का क्षेत्र सर्वनाम है, जो क्रिया को भी प्रभावित करते हैं तथा लिंग और वचन चारों विकारी शब्दा भेदों से सम्बद्ध माने जा सकते हैं। इन सबको 'व्याकरणिक कोटियों' के नाम से जाना जाता है। इनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है।

(1) लिंग-प्राणियों में दो जातियाँ होती हैं, पुरुष और स्त्री। भाषा के विकास के प्रथम चरण में ये जातियाँ ही लिंग का आधार रही होगी। और निर्जीव पदार्थों के लिए नपुंसक लिंग की कल्पना कर ली गयी होगी। आज भी विश्व की कई भाषाओं में लिंग का आधार ये ही जातियाँ हैं। अंग्रेजी में किसी सीमा तक यह आधार सुरक्षित है। केवल नपुंसक लिंग वर्ग में छोटे प्राणियों को डाल दिया गया है। किंतु संस्कृत की लिंग व्यवस्था प्राकृतिक लिंग का अनुसरण करती प्रतीत नहीं होती। संस्कृत में तीन लिंग थे-पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि नपुंसक लिंग की व्यर्थता पाणिनि के समय में ही महसूस की जाने लगी थी। इसीलिए नपुंसक लिंग के रूप उस काल में ही केवल प्रथमा और द्वितीया विभक्ति तक सीमित रह गये थे और वे भी दोनों विभक्तियों में बिल्कुल समान। पालि और प्राकृत काल में नपुंसक लिंग का प्रयोग कम होने लगा और अपभ्रंश तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः समाप्त हो गया। आज मराठी और गुजराती में तीनों लिंग होते हैं। परंतु हिंदी में केवल पुल्लिंग और स्त्रीलिंग ही शेष रह गये हैं।

संस्कृत में निर्जीव वस्तुओं के वाचक अनेक शब्द पुल्लिंग थे-जैसे घट, पट, लडाग आदि, तो अनेक शब्द स्त्रीलिंग थे जैसे-धरा, नदी, खट्वा आदि। भाववाचक संज्ञाओं में यही अनियमितता थी और काम, क्रोध, जय, पराजय पुल्लिंग थे तो चिंता, आशा, निद्रा, आदि स्त्रीलिंग। यहाँ तक कि शरीर के वाचक देह, तनु और शरीर शब्द क्रमशः पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग थे। केवल इनता ही नहीं स्त्री के वाचक द्वारा, स्त्री और कलत्र भी क्रमशः पुल्लिंग स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होते थे। संस्कृत की यह लिंग-व्यवस्था हिंदी को उत्तराधिकार में मिली है। प्राणहीन पदार्थों में से कुछ का पुल्लिंग और कुछ का स्त्रीलिंग हो जाना इस व्यवस्था का सबसे जटिल पहलू है। जैसे-ग्रंथ पुल्लिंग है तो पुस्तक स्त्रीलिंग, कान पुल्लिंग है तो नाक स्त्रीलिंग और नाला पुल्लिंग है तो नदी स्त्रीलिंग। कुछ प्राणियों के वाचक शब्द केवल पुल्लिंग हैं, जैसे- बिच्छू, भालू, भेड़िया, चीता, मच्छर, उल्लू, कोआ, तो कुछ प्राणियों के वाचक केवल स्त्रीलिंग, जैसे-छिपकली, कोयल, मक्खी, मछली आदि।

लिंग का व्याकरणिक स्वरूप-प्रत्येक भाषा की अपनी लिंग व्यवस्था होती है। हिंदी में लिंग का प्रभाव संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया सभी विकारी शब्द भेदों पर पड़ता है ।

संज्ञा-संज्ञा शब्दों में अधिकतर तद्भव शब्द पुल्लिंग में आकारान्त और स्त्रीलिंग में ईकारान्त होते हैं, जैसे-1. पुल्लिंग-लोहा, सोना, प्याला, थैला, चमड़ा आदि 2. स्त्रीलिंग-धोती, टोपी, खूटी, खिड़की, थाली आदि। पुल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए भी मुख्य रूप से 'ई' प्रत्यय का ही प्रयोग होता है, जैसे-घोड़ा-घोड़ी, लड़का-लड़की, मुर्गा-मुर्गी ।

सर्वनाम-हिंदी के सर्वनाम दोनों लिंगों में समान होते हैं। परंतु षठी विभक्ति (संबंध कारक) के रूप, सार्वजनिक विशेषण होने के कारण, विशेष्य के अनुसार दोनों लिंगों में भिन्न-भिन्न होते हैं जैसे-मेरा भाई, मेरी बहन, हमारा विद्यालय, हमारी पाठशाला, तेरा घर, तेरी कमीज। इसी प्रकार तुम्हारा-तुम्हारी, उसका-उसकी, उनका-उनकी। यदि रूप भी लिंग का अनुसरण करते हैं।

विशेषण-हिंदी में विशेषणों के दो वर्ग हैं-एक आकारान्त विशेषण और दूसरे आकारन्तेतर विशेषण। इनमें से आकारान्त विशेषण लिंगानुसारी होते हैं किंतु अन्य दोनों लिंगों में समान रहते हैं, जैसे -

NOTES

क्रिया— संस्कृत और हिंदी में क्रिया के रूपों में एक उल्लेखनीय अंतर दिखाई देता है। संस्कृत में क्रिया के रूप तिड.त होते थे। अतः उन पर पुरुष और वचन का तो प्रभाव पड़ता था, पर लिंग का नहीं। धीरे-धीरे संस्कृत के कृदन्त रूपों का प्रचलन बढ़ा और हिंदी में अधिकतर रूप कृदन्त हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि पुरुष और वचन के साथ-साथ लिंग भी रूपों को प्रभावित करने लगे। हिंदी में अन्य शब्द भेदों की तरह क्रिया के रूप भी पुल्लिंग में आकारान्त और स्त्रीलिंग में ईकारान्त होते हैं, जैसे—जाता है, जाती है, जा रहा है, जा रही है, गया, गयी, जायेगा, जायेगी आदि।

वचन— वचन का संबंध संख्या से है। पाणिनि व्याकरण में वचन की परिभाषा 'वचन संख्या' के रूप में की गयी है। संसार की ज्यादातर भाषाओं में दो वचन होते हैं। एकवचन और बहुवचन। संस्कृत में इन दोनों के अतिरिक्त द्विवचन भी होता था, जो अब किसी आधुनिक आर्यभाषा में शेष नहीं है। वचन का प्रभाव संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया—सभी शब्द भेदों पर पड़ता है।

संज्ञा— हिंदी में बहुवचन बनाने के लिए (बालकों को), ए (लड़के), एँ (पुस्तकें), आँ (नदियाँ), ओ (भाइयो) (सं०) केवल अनुनासिकता (चिड़ियों) प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

कई बार वचन संख्या के नियम की अवहेलना करते हुए भी देखा जाता है—भारतीय भाषाओं में आदर की अभिव्यक्ति के लिए एक 'संज्ञा' के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होता है। इसके लिए अतिरिक्त प्राण, दाम, दर्शन, समाचार, भाग्य, होश, हस्ताक्षर जैसे कई शब्द सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं।

सर्वनाम— सर्वनाम शब्दों के रूप भी एकवचन और बहुवचन में भिन्न-भिन्न होते हैं। हिंदी में मैं (एकवचन), हम (बहुवचन), तू (एकवचन) तुम बहुवचन, वह (एकवचन), वे (बहुवचन) में यह भिन्नता स्पष्ट देखी जा सकती है।

विशेषण— संस्कृत में विशेषण शब्द विशेष्य के वचन का अनुसरण करते थे, जैसे—कृष्ण, सर्पः (एकवचन), कृष्णाः सर्पाः (बहुवचन) किंतु हिंदी में केवल आकारान्त विशेषण ही सम्बद्ध विशेष्य के वचन के साथ परिवर्तित होते हैं। अन्य विशेषण अपरिवर्तित रहते हैं। उदाहरणार्थ साफ, कपड़े, भारी जूते आदि प्रयोगों में विशेषण अविकृत हैं जबकि काले कपड़े, हल्के जूते में 'काला' का रूप 'काले' और 'हल्का' का रूप 'हल्के' हो गया है।

क्रिया— जैसा कि लिंग के विवेचन में उल्लेख हुआ है हिंदी में क्रिया के प्रायः सभी रूप कृदन्त हैं। अतः एकवचन में जो रूप आ प्रत्ययान्त (पुल्लिंग) होते हैं, वे बहुवचन में एकारान्त हो जाते हैं जैसे—गया—गये, आया—आये। स्त्रीलिंग में अनुनासिकता बहुवचन का संबंध तत्व है। अतः 'गयी' और 'आयी' बहुवचन में 'गयी' 'आयी' हो जाते हैं। 'होना' क्रिया के रूपों में है—हैं (अनुनासिकता) और था—थे (आ—ए) आदि रूप परिवर्तन देखा जाता है तथा स्त्रीलिंग में थी का थीं हो जाता है।

कारक— व्याकरणिक कोटियों में कारक का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। 'कारक' शब्द की व्युत्पत्ति कृ + अक से हुई है, जिसका अर्थ है—करने वाला। परंतु पारिभाषिक अर्थों में 'कारक' वाक्यों में पदों के अन्तः संबंध का निर्धारण करने वाली व्याकरणिक कोटि है।

संस्कृत में कारकों के अर्थ में सुप् विभक्तियों का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे वे विभक्तियाँ घिस गयीं और स्पष्टता के लिए परसर्गों का प्रयोग होने लगा। हिंदी में कर्ता में 'ने', कर्म में 'को', करण में 'से', संप्रदान में 'के लिए' अपादान में 'से', संबंध में 'का' और अधिकरण में 'में' या 'पर' परसर्गों का प्रयोग होता है। इनमें से कर्ता और कर्म में अधिकतर शून्य संबंध तत्व का प्रयोग देखा जाता है। आमतौर पर कर्ता में 'ने' केवल भूतकाल में और वह भी सकर्मक क्रियाओं के संयोग में लगता है। जैसे—'राम ने खबर पढ़ा।' जहाँ तक 'को' का प्रश्न है उसका प्रयोग सजीव 'कर्म' के साथ होता है जैसे—'बच्चे

को यहाँ लाओ। सर्वनाम शब्दों में मेरा—हमारा, तेरा—तुम्हारा को छोड़कर सब कारकों में उपर्युक्त परसर्गों का प्रयोग होता है।

हिंदी में विशेषणों में कारकीय परसर्ग नहीं लगते। केवल आकारान्त पुल्लिंग विशेषण एकारान्त हो जाते हैं, जैसे—‘काले घोड़े के लिए’ या ‘अच्छे लोगों का’ आदि।

पुरुष—पुरुष की अवधारणा वक्ता, श्रोता और ‘अन्य व्यक्ति’ के आधार पर हुई है। इसका संबंध प्रमुख रूप से सर्वनाम शब्दों के साथ होता है, जिसके अनुसार वक्ता को उत्तम पुरुष (मैं पढ़ता हूँ), श्रोता को मध्यम पुरुष (तुम सुनते हो) और अन्य व्यक्ति को अन्य पुरुष (वह जाता है) की कक्षा में गिना जाता है।

संस्कृत में क्रियाओं के सभी रूप काल—पुरुष और वचन पर आधारित होते थे। परंतु हिंदी में क्रिया के रूप कृदन्तों से विकसित हुए हैं। अतः उन पर पुरुष का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे मैं वहाँ गया, तू वहाँ गया, वह वहाँ गया। किंतु जहाँ रूपों में होना क्रिया (है, हैं, हो, हूँ) का संयोग होता है, वहाँ उत्तम पुरुष मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष के रूप भिन्न—भिन्न होते हैं जैसे —

- | | |
|--------------------|-------------------|
| 1. मैं पढ़ता हूँ । | उत्तम पुरुष एकवचन |
| 2. हम पढ़ते हैं । | उत्तम पुरुष एकवचन |
| 3. तू पढ़ता है । | मध्यम पुरुष एकवचन |
| 4. तुम पढ़ते हो । | मध्यम पुरुष एकवचन |
| 5. वह पढ़ता है । | अन्य पुरुष एकवचन |
| 6. वे पढ़ते हैं । | अन्य पुरुष एकवचन |

काल— काल की अवधारणा विश्व की सभी भाषाओं में पायी जाती है। वाक्यार्थ में क्रिया के जिस रूप से क्रिया व्यापार के समय का बोध होता है, उसे ‘काल’ कहते हैं। काल के तीन भेद हैं—वर्तमान, भूत और भविष्यत् जिनके अवान्तर भेदों के संबंध में भाषाओं में एकरूपता नहीं है। संस्कृत में काल के भेद अद्यतन, अनद्यतन तथा परोक्ष पर आधारित थे। वर्तमानकाल के लिए एक, भविष्यत् काल के लिए दो तथा भूतकाल के लिए तीन ‘लकारों’ की व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त हेतु हेतमद्भूत के लिए भी एक लकार होता था।

अंग्रेजी में काल के भेद पूर्णता और अपूर्णता पर आधारित हैं। प्रत्येक काल के सामान्य, अपूर्ण, पूर्ण और पूर्णापूर्ण चार—चार उपभेद होते हैं। जैसे वर्तमान काल में —

- | | |
|---------------------|------------------------|
| 1. वह खाता है । | (सामान्य वर्तमान) |
| 2. वह खा रहा है । | (अपूर्ण वर्तमान) |
| 3. वह खा चुका है । | (पूर्ण वर्तमान) |
| 4. वह खाता रहा है । | (पूर्ण—अपूर्ण वर्तमान) |

हिंदी में अंग्रेजी व्याकरण का अनुकरण हुआ है। किंतु ‘वह खाता रहा है’। जैसे—वाक्य हिंदी में स्वाभाविक नहीं हैं। अतः वर्तमान काल और भूतकाल में सामान्य, पूर्ण और अपूर्ण उपभेद प्रायः निर्विवाद है। भविष्यत् में वह खायेगा (सामान्य भविष्यत्) तो ठीक है, परंतु ‘वह खा रहा होगा’ या वह ‘खा चुका होगा’ भाषा की प्रकृति से मेल नहीं खाते।

क्रियार्थ— क्रिया के जिस रूप से आज्ञा, प्रार्थना, विधि, निषेध, आग्रह, संभावना, शर्त आदि अर्थों की अभिव्यक्ति होती है, उसे ‘क्रियार्थ’ कहते हैं। इसे अंग्रेजी में ‘मूड’ कहा जाता है। हिंदी में इसके लिए ‘दशा’ ‘अर्थ’ आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। संस्कृत में आज्ञार्थ, विध्यर्थ और आशीर्वादार्थ के लिए स्वतंत्र ‘लकारों’ का प्रयोग होता था। हिंदी में भी क्रिया के रूपों के लिए स्वतंत्र ‘लकारों’ का

NOTES

आज्ञा	—	यहाँ आओ ।
प्रार्थना	—	हमारी रक्षा कीजिए ।
संभावना	—	शायद वह शाम तक लौट आये ।
संदेह	—	बच्चे कहीं खो न जायें ।
संकेत (शर्त)	—	यदि गाड़ी मिल जाये तो पिकनिक पर चलें ।
प्रश्न	—	क्या आप मेरी सहायता करेंगे ?
निषेध	—	वह यहाँ नहीं रहता ।
आग्रह	—	बैठिए न !

उपर्युक्त वाक्यों में केवल आज्ञा और प्रार्थना, संभावना, संदेह और संकेत के लिए विशिष्ट रूपों का प्रयोग हुआ है जिनका आज्ञार्थ (आ, बैठ, चल, आओ, बैठो, चलो) आदरार्थक आज्ञार्थ या प्रार्थनार्थ (आइए, बैठिए, चलिए) और विध्यर्थ (आये, बैठे, चले, आयें, बैठें, चले) रूपों में अन्तर्भाव हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सलाह के लिए भी विध्यर्थ रूपों का प्रयोग होता है, जैसे—'वह उनकी बात सुने ।' किन्तु इस अर्थ में अधिक प्रचलित प्रयोग 'चाहिए' है, जिसके 'कर्ता' में 'कर्म' के रूपों का प्रयोग होता है, जैसे उसे उनकी बात सुनानी चाहिए। इच्छार्थक वाक्यों में 'चाहना' क्रिया का प्रयोग होता है, तथा प्रारंभार्थ के लिए 'लगाना' क्रिया का। जैसे—वह खाना चाहता है। तथा वह खाना खाने लगा।

वाच्य—वाच्य की अवधारणा का आधार वाक्य में कर्ता, कर्म या क्रिया की प्रमुखता या गौणता है। वाच्य की परिभाषा करते हुए कामता प्रसाद गुरु ने कहा है कि 'वाच्य क्रिया के उस रूपान्तर को कहते हैं, जिससे जाना जाता है कि वाक्य में कर्ता के विषय में विधान किया गया है या कर्म के विषय में अथवा केवल भाव के विषय में।'

इस परिभाषा के अनुसार हिंदी में तीन वाच्य माने गये हैं —

1. कर्तृवाच्य
2. कर्मवाच्य और
3. भाववाच्य

रूप परिवर्तन —

रूप परिवर्तन भाषा की सहज प्रवृत्ति है। अतः किसी भाषा के रूप सदैव एक से नहीं रहते। उनमें नित्य परिवर्तन होता रहता है। संस्कृत में संज्ञा शब्दों के रूप 'सुप्' प्रत्यय लगकर बनते थे, प्राकृत और अपभ्रंश में अधिकतर विभक्तियों घिस गयी और परसर्गों का प्रचलन शुरू हो गया। क्रिया के रूपों में भी इसी प्रकार परिवर्तन हुआ और तिङ्.त रूपों की जगह कृदन्त रूप प्रयोग में आने लगे।

रूप परिवर्तन की दिशाएँ —

रूप परिवर्तन भी ध्वनि परिवर्तन की तरह कुछ सुनिश्चित दिशाओं में होता है जिनमें से कुछ प्रमुख दिशाएँ निम्नलिखित हैं —

1. **वैकल्पिक रूपों का परित्याग**— कई बार भाषा में एक ही अर्थ में एकाधिक वैकल्पिक रूप प्रचलित हो जाते हैं। किंतु कोई भाषा इस प्रकार के रूपों का बोझ अधिक समय तक नहीं उठा पाती और कालान्तर में एक —एक रूप शेष रह जाता है। हाल ही में हिंदी में मुझे—मुझको, मुझे—मुझको, तुझे—तुमको, हमें—हमको, तुम्हें—तुमको आदि रूपों में से 'को' वाले रूप लगभग प्रयोग हीन हो गए।
2. **सरल रूपों का अनुकरण**— भाषा में भी अनुकरण की प्रवृत्ति सदैव सक्रिय रहती है। अनुकरण के कारण ही संस्कृत के इकारान्त और उकारान्त शब्दों के षष्ठी विभक्ति के रूप प्राकृतों में अकारान्त शब्दों का अनुकरण कर अग्गिस्स, भिक्खुस्स हो गये।

3. **स्पष्टता का आग्रह**— कई बार विभिन्न परिवर्तनों के कारण कोई रूप अपने अर्थ को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट नहीं करता। तब भाषा स्पष्टता के लिए उसमें कुछ अंश जोड़ देती है। हिंदी में 'तू' सर्वनाम प्रायः बहिष्कृत हो गया है और एक वचन में भी 'तुम' का प्रयोग होता है। अतः बहुवचन की अभिव्यक्ति के लिए 'तुम लोग', 'आप लोग' और इनके सादृश्य से 'हम लोग' जैसे प्रयोग प्रचलित हो गये हैं।

हिंदी में परसर्गों का प्रचलन भी इसी प्रकार हुआ। अपभ्रंश काल तक आते-आते विभक्तियाँ घिस गयीं और लुप्त विभक्तिक प्रयोग काफी संख्या में चल पड़े। इससे स्पष्टता में बाधा आयी और कारकों के अर्थ में परसर्गों का प्रयोग होने लगा। क्रियारूपों में 'होना' के रूप भी स्पष्टता के लिए लगे।

रूप परिवर्तन के कारण—उपर्युक्त पंक्तियों में रूप परिवर्तन की जिन दिशाओं का उल्लेख किया गया है, वे परिवर्तन कुछ विशिष्ट कारणों से होते हैं। कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. **प्रयत्न लाघव**— किसी भी भाषिक परिवर्तन में प्रयत्न लाघव सबसे महत्वपूर्ण कारण होता है। मनुष्य आलसी प्राणी है। वह हर क्षेत्र में कम से कम श्रम करके अधिक से अधिक फल की आकांक्षा रखता है। यह प्रवृत्ति रूप परिवर्तन में भी देखी जाती है। वैकल्पिक रूपों में एक का ग्रहण प्रयत्न लाघव का ही परिणाम है। एक रूप से काम चलता है तो अधिक क्यों याद रखें जायें ?
2. **अज्ञान**— कई रूप परिवर्तन अज्ञान के कारण भी होते हैं। संस्कृत में 'कृपया' तृतीया विभक्ति का पद है जिसका अर्थ है 'कृपा करके'। परंतु कई लोग 'कृपया करके' का प्रयोग करते हैं। कालान्तर में ऐसे प्रयोग प्रचलित भी हो जाते हैं। मराठी में 'सुस्वागतम्' बहुत प्रचलित प्रयोग है। जो हिंदी में भी आ गया है।
3. **मिथ्या सादृश्य**— यह भी अज्ञान का ही एक रूप है। प्राकृत में प्रचलित 'अग्गिस्स' 'भिक्खुस्स' आदि रूप अकारान्त 'सब्बस्स' आदि रूपों ।

सार—संक्षेप

भाषाविज्ञान में परंपरागत व्याकरण के अंतर्गत स्वन, स्वनिमों के पश्चात रूप, रूपिम और शब्द की विवेचना होती है। शब्द भाषा की लघुतम सार्थक इकाई है। किंतु सार्थक होने पर भी उसे वाक्य में ज्यों का त्यों प्रयोग नहीं किया जाता। प्रयोगार्थ बनाने के लिए शब्दों में कुछ व्याकरणिक परिवर्तन करना पड़ता है। वाक्य में ये परिवर्तित रूप ही पद के रूप में जाने जाते हैं।

भाषा की संरचना के संदर्भ में स्पष्ट है कि अर्थहीन स्वनों से 'रूप' नामक भाषिक तत्व का निर्माण होता है। इस प्रकार स्वन एवं स्वनिम विज्ञान भाषा का प्रारंभिक स्तर है, जिसमें अर्थ का संयोग नहीं होता। अर्थयुक्त भाषिक तत्वों का अध्ययन रूपों से ही प्रारंभ होता है।

कोई शब्द जब किसी वाक्य में प्रयोगार्थ रूप ग्रहण करता है तो इसे रूप प्रक्रिया कहते हैं।

परंपरागत भाषाविज्ञान में शब्दों की रूपरचना का (पद रचना) अध्ययन होता आया है। किंतु आधुनिक भाषाविज्ञान ने इसके आगे लघुतम अर्थवान इकाई के रूप में शब्द और रूप से आगे रूपिम को महत्व दिया है। इस प्रकार हमें तीन अर्थवान इकाइयाँ—शब्द, रूप (पद) तथा रूपिम ज्ञात हुयी। इन तीनों को पारिभाषित किया जा सकता है।

(1) शब्द वह स्वनिम समूह है जो भाषा या वाक्य की स्वतंत्र या मुक्त सार्थक इकाई है।

(2) रूप (पद)—संस्कृत में सुप्तिङ्.तम पदम कहा गया है। अर्थात् सुप और तिङ्. युक्त शब्द पद कहलाते हैं।

संक्षेप में—'शब्द के विशिष्ट व्याकरणिक रूप को पद कहा जाता है जिसकी संरचना प्रत्यय, विभक्ति, निपात, पदक्रम आदि पद्धतियों से की जाती है।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

4. रूपिमीम घटक किन्हें कहा जाता है? उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।
5. संरूप (Allomorph) क्या हैं ? स्पष्ट कीजिए।
6. रूपिम की संकल्पना को भाषाविदों ने किस प्रकार परिभाषित किया है ?

रूपिमों के भेद

1. रचना की दृष्टि से—रूढ़ एवं संयुक्त रूप
2. अर्थ की दृष्टि से—अर्थदर्शी एवं संबंध दर्शी
3. स्वरूप की दृष्टि से—मुक्त रूपिम एवं बहुरूपिम
4. प्रथक्करण की दृष्टि से—खंड्य एवं खंड्यतर

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. भाषा की सरचना के संदर्भ में स्पष्ट है कि अर्थहीन स्वरों से 'रूप' नामक भाषिक तत्व का निर्माण होता है। इन्हीं रूपों से शब्द निर्मित होते हैं जो वाक्य में पद नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार स्वन एवं स्वनिम विज्ञान भाषा का प्रारंभिक स्तर है जिसमें अर्थ का संयोजन नहीं होता। अर्थ युक्त भाषिक तत्वों का अध्ययन रूपों से ही प्रारंभ होता है। भाषा में अभिव्यक्ति या प्रोक्ति का मूलांश वाक्य होता है। वाक्य शब्दों को भाषा विशेष के व्याकरणिक नियमों के अनुसार प्रस्तुत करता है जिससे इन शब्दों के परस्पर संबंध से वाक्य का एक वांछित अर्थ निकल सके। आधुनिक भाषाविज्ञान में व्याकरण की दृष्टि से अनेक इकाइयों की संकल्पना की गई है और उनका विवेचन किया गया है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक अर्थ की दृष्टि से पूर्ण अभिव्यक्ति अर्थात् प्रोक्ति को सबसे बड़ी इकाई मानते हैं। इस प्रकार प्रोक्ति, वाक्य, पदबंध, शब्द और रूपिम की क्रमिक श्रंखला निर्मित होती है जो रूप प्रक्रिया एवं रूपिम विज्ञान के अध्ययन की विषय वस्तु है।

जिस प्रकार स्वन (Sound) के आधार पर स्वनिम—विज्ञान नाम पड़ा है, उसी प्रकार रूप या पद (उवतची, मार्फ) के आधार पर रूपिम—विज्ञान (मार्फीमिक्स) नाम पड़ा है।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों को यह विज्ञान भारतीय भाषाशास्त्रियों, मुख्यतः पाणिनि, की देन है। पाश्चात्य भाषाशास्त्री इस ऋण को स्वीकार करते हैं। प्रो. आर.एच. रोबिन्स (R.H. Robins) ने लिखा है कि भाषाशास्त्र में रूपिम (morpheme, मार्फीम) के अध्ययन का महत्व भारतीय वैयाकरणों की देन है।

2. रूप प्रक्रिया को समझने के पूर्व हमें रूप और शब्द को समझना चाहिए। रूप क्या है ? स्वन विज्ञान के अंतर्गत यह स्पष्ट हो चुका है कि भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि या स्वन है। लेकिन ध्वनि अर्थवान नहीं होती। म् + अ + स् + त् + अ + क् + अ—ये स्वन यदि अलग—अलग बोले जाये तो अर्थ नहीं देते। इसके बावजूद जब हम मस्तक का उच्चारण करते हैं तो एक बिम्ब उभरता है। अतः मस्तक भाषा की लघुतम अर्थवान इकाई हुई किन्तु जब हम भाषिक व्यवहार में प्रयोग करते हैं तो देखते हैं कि कोई शब्द ठीक इसी रूप में वाक्य में प्रयुक्त नहीं होता। उसमें परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ही रूप प्रक्रिया है। इस परिवर्तन का अध्ययन व्याकरण के अंतर्गत होता आया है। अतः ध्वनि और ध्वनि से शब्द और फिर शब्दों के वाक्य प्रयोग से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसमें शब्दों की रूप रचना का अध्ययन परम्परागत भाषाविज्ञान करता आया है किन्तु आधुनिक भाषाविज्ञान ने इसके आगे लघुतम अर्थवान इकाई के रूप में शब्द और रूप से आगे रूपिम को महत्व दिया है। इस प्रकार रूप का अध्ययन करते समय रूप और रूपिम का अध्ययन किया जाता है। इस क्रम में सर्वप्रथम रूप प्रक्रिया का विश्लेषण समझना समीचीन है। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द वाक्य में सीधे प्रयुक्त नहीं होते। संस्कृत वैयाकरणों ने भी इसका उल्लेख किया है क्योंकि संस्कृत में कोई शब्द सीधे प्रयुक्त नहीं होता। नर एक शब्द है पर जब हम संस्कृत में वाक्य में इसका प्रयोग देखते हैं तो कहीं यह शब्द नहीं मिलता इसके

स्थान पर नर के 24 रूप मिलते हैं। इस तरह नर शब्द है पर नर के विभिन्न प्रयोग नरः, नराः नरस्य आदि उसके विभिन्न वाक्य में प्रयुज्य रूप हैं, जिन्हें पद भी कहा जाता है। यही अर्थवान होते हैं। लेकिन मूलतः ये पद भी अर्थवान नहीं होते। नर का एक अर्थ होता है तो नरस्य का दूसरा। अतः अर्थ का निर्धारण केवल नर से नहीं उसमें प्रयुक्त दूसरे शब्द से हो रहा है। अतः नरस्य में रूपिम भी अर्थवान है। रूप प्रक्रिया के अंतर्गत इन सबका अध् यनन किया जाता है। इस प्रकार परम्परागत भाषाविज्ञान में जहाँ व्याकरण के अंतर्गत केवल शब्द और वाक्य विवेच्य रहे हैं, वहीं आधुनिक भाषाविज्ञान में व्याकरणिक स्तर पर लघुतम इकाई रूपिम को माना जाता है। और उच्चतम इकाई वाक्य के स्थान पर प्रोक्त को।

3. प्रत्येक भाषा कुछ सीमित ध्वनियों का प्रयोग करती है जिनके द्वारा असंख्य अर्थपूर्ण इकाइयों की रचना की जाती है। इन सीमित अर्थहीन इकाइयों के प्रभेदक प्रकार्य के द्वारा ही कई अर्थवान् इकाइयों की रचना संभव होती है। मानव भाषा की यह विशेषता 'अभिरचना द्वित्व' (*Duality of Patterns*) कहलाती है, जिसके कारण मानव भाषा की मानवेतर प्राणियों की सम्प्रेषण व्यवस्थाओं की तुलना में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ध्वनियाँ स्वयं अर्थहीन होती हैं परन्तु जब एक या एक से अधिक ध्वनियों का क्रम एक संकल्पना से जुड़कर अर्थवान हो जाता है तो अर्थ की ऐसी इकाई को जिसे अल्पतर अर्थवान भागों में खंडित न किया जा सके, रूपिम (*Morpheme*) कहते हैं।

'रूपिम' अंग्रेजी के Morpheme का हिंदी अनुवाद है, जिसे पहले 'रूपग्राम' या 'पदग्राम' के नाम से जाना जाता था। यह अपेक्षाकृत नयी अध्ययन शाखा है जिसका विकास बीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय वैज्ञानिकों ने रूपिम की परिभाषा करने का प्रयास किया है। ब्लॉक-ट्रैगर, हॉकेट और ग्लिसन ने काफी मिलती-जुलती परिभाषाओं में कहा है कि "किसी भाषा की लघुतम सार्थक इकाइयाँ, चाहे वे बद्ध हों या मुक्त, यदि व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण हैं, तो रूपिम कहलाती हैं।"

इन विद्वानों की परिभाषाएँ रूपिम के स्वरूप को काफी स्पष्ट कर देती है। यदि हम 'महाविद्यालयों में' पद का विच्छेद करे तो महा+विद्या+आलय+औं+में' ये पाँच इकाइयाँ प्राप्त होती हैं। ये सभी सार्थक घटक हैं।

4. "उच्चारण के वे अंश जो एक-दूसरे से पूर्ण रूप से स्वाधीन होते हैं, किंतु जो समान और अनुरूप वितरण में आते हैं, रूपिमीय घटक कहलाते हैं। 'रूपिम' ऐसे घटकों का परिवार होता है, जो स्वतंत्रता पूर्वक एक-दूसरे को स्थापन्न करते हैं या परिपूरक वितरण में आते हैं। "स्पष्ट है कि यह बात हॅरिस ने संबंध तत्व को लेकर कही है क्योंकि अर्थ तत्व में कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का स्थानापन्न नहीं हो सकता और न कोई शब्द दूसरे के परिपूरक वितरण में आ सकता। डॉ. संबंध तत्वों में इस प्रकार का संबंध या वितरण अक्सर देखा जाता है। यदि हम अधिकरण कारक के परसर्गों को ले तो पायेंगे कि 'में' और 'पर' दोनों एक ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं, किंतु 'में' का प्रयोग किसी वस्तु या व्यक्ति 'के भीतर', अर्थ में होता है तथा 'पर' का 'के ऊपर' के अर्थ में। अतः ये दोनों अधिकरण के परसर्ग के 'सहरूप' हैं।

विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम हिंदी के बहुवचन के प्रत्ययों को ले सकते हैं—

मूल शब्द	सहरूप	पद
आदमी	0	आदमी
लड़का	ए	लड़के
पुस्तक	एँ	पुस्तकें
नदी	आँ	नदियाँ
चिड़िया	अनुनासिकता	चिड़ियाँ

NOTES

5. संरूप (Allomorh) – रूपिम या रूपग्राम के समानार्थक, किंतु परिपूरक वितरण वाले, रूपों को संरूप कहते हैं। 1. संरूप या एलोमार्फ (Allomorh) का अर्थ है—एलो अवयव, मार्फ—रूपिम अर्थात् रूपिम के अंग या अवयव। जिस प्रकार स्वनिम के अवयव संस्वन होते हैं, उसी प्रकार रूपिम के अवयव अर्थात् उसी अर्थ को बताने वाले विभिन्न रूप संरूप कहे जाते हैं। संरूप के लिए आवश्यक नहीं है कि वह ध्वन्यात्मक दृष्टि से परस्पर समान हों, उनमें अर्थ की एकता अनिवार्य है। यहाँ यह स्मरण रखें कि पर्यायवाची शब्द या प्रत्यय संरूप के उदाहरण नहीं होंगे। जैसे—संस्कृत में लट् प्रथम पुरुष बहुवचन में अन्ति, अति लगते हैं, पठ्—पठन्ति, दा—ददति। इसमें अन्ति और अति एक ही अर्थ में आते हैं। 'अन्ति' अधिक प्रचलित है, अतः उसे रूपिम माना जाएगा और 'अति' परिपूरक वितरण में आने से संरूप कहा जाएगा। हिंदी में संज्ञा शब्दों के बहुवचन में ओं, ओ, ए, एं आदि लगते हैं। जैसे—पुस्तक—पुस्तकों, घोड़ा—घोड़े, माता—माताएँ, जाति—जातियाँ आदि। इनमें बहुवचन में 'ओ' सबसे अधिक प्रचलित है, अतः उसे बहुवचन सूचक रूपिम माना जाता है। अन्य बहुवचन—सूचक प्रत्यय 'ओं' के परिपूरक वितरण में आने के कारण संरूप माने जाते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में संज्ञा के बहुवचन में स, ज इज़, इन, रिन, शून्य लगते हैं।

6. रूपिम की इस संकल्पना को अलग-अलग भाषाविदों ने अपने-अपने ढँग से परिभाषित किया है। इनमें से कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं :

'रूपिम वह भाषायी रूप है जिसकी भाषा विशेष के किसी अन्य रूप से किसी प्रकार की ध्वन्यात्मक और अर्थगत समानता नहीं होती।' —ब्लूमफील्ड

Bloomfiled - "A linguistic form which bears no partial phonetic - semantic resemblance to any other form in a language is a morpheme." (1933)

'कोई भी भाषायी रूप चाहे मुक्त हो या आबद्ध, और जिसे लघुतर अर्थवान रूपों में खंडित न किया जा सके, रूपिम होता है। —ब्लॉक

Bloch - "Any form whether- bound or free, which can not be divided into smaller meaningful parts is a morpheme."

इस प्रकार कहा जा सकता है कि "रूपिम वस्तुतः परिपूरक वितरण या मुक्त वितरण में आए हुए सहपदों का समूह होता है।"

अभ्यास—प्रश्न

1. शब्द किसे कहते हैं? पद और शब्द में क्या अंतर है?
2. रूपिम को परिभाषित करते हुए उनके प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3. अर्थदर्शी एवं संबंधदर्शी रूपिमों के उदाहरण दीजिए।
4. मुक्त एवं आबद्ध रूपिम किसे कहते हैं, उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।
5. रूपियों के प्रभारों को उदाहरण सहित समझाइए।

वाक्य विज्ञान

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- वाक्य की अवधारणा
- वाक्य और पद का संबंध (पदवाद और वाक्यवाद)
- अभिहितान्वयवाद और अन्विताविधानवाद
- वाक्य की परिभाषा (वाक्य का स्वरूप)
- वाक्य के तत्त्व
- वाक्य में पद विन्यास की विशेषताएँ
- वाक्य के प्रकार
- वाक्य विश्लेषण
- निकटस्थ अवयव विश्लेषण
- गहन संरचना और वाह्य संरचना
- वाक्य परिवर्तन के कारण
- सार—संक्षेप
- अभ्यास—प्रश्न

NOTES

वाक्य भाषा की सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। वाक्य द्वारा ही मनुष्य अपने मनोभावों तथा विचारों की सम्यक अभिव्यक्ति करते हैं। इस इकाई में सम्यक अभिव्यक्ति करते हैं। इस इकाई में वाक्य से संबंधित विविध भाषिक पक्षों का उद्घाटन किया जावेगा। जिससे आप –

1. वाक्य की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
2. संस्कृत के भाषाशास्त्रियों द्वारा वाक्य के संदर्भ में रखे गए अभिहितान्वयवाद और अन्विताविधि-पानवाद के सिद्धांत से अवगत हो सकेंगे।
3. वाक्य के भेदों की जानकारी पा सकेंगे।
4. वाक्य विश्लेषण के अंतर्गत निकटस्थ अवयवों के विश्लेषण से परिचित हो सकेंगे।
5. गहन संरचना और वाह्य संरचना से अवगत होंगे।
6. इकाई के सारांश को आत्मसात कर सकेंगे।
7. अपनी प्रगति जाँचिए, नियम कार्य, चर्चा तथा स्पष्टीकरण के बिंदुओं में निहित विषय के सूक्ष्म तत्वों से सुपरिचित होंगे।

परिचय

वाक्य विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है। भाषा के सम्यक ज्ञान के लिए वाक्य का समुचित परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। वाक्य – विज्ञान में वाक्य के स्वरूप, वाक्य निर्माण की प्रक्रिया, वाक्य के विविध प्रकार, वाक्य – विश्लेषण और वाक्य परिवर्तन आदि का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वाक्यविज्ञान का प्रतिपाद्य 'वाक्य' है।

वाक्य की अवधारणा

वाक्य – विज्ञान में भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों के परस्पर संबंध का विचार किया जाता है। जिसमें वाक्य का स्वरूप, वाक्य की परिभाषा, वाक्य की रचना, वाक्य के अनिवार्य तत्व, वाक्य में पदों का विन्यास, वाक्यों के प्रकार, वाक्य का विभाजन, वाक्य में निकटस्थ अवयव, वाक्य में परिवर्तन, परिवर्तन की दिशाएँ, परिवर्तन के कारण आदि का विवेचन होता है। इस प्रकार वाक्य – विज्ञान में वाक्य से संबद्ध सभी तत्वों का विश्लेषण किया जाता है।

पद – विज्ञान और वाक्य विज्ञान में अंतर यह है कि पद-विज्ञान में पदों की रचना का विवेचन होता है। अतः उसमें पदविभाजन (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि), कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि के बोधक शब्द किस प्रकार बनते हैं, इस पर विचार किया जाता है। वाक्य – विज्ञान उससे अगली कोटि है। इसमें पूर्वोक्त विधि से बने हुए पदों का कहाँ, किस प्रकार प्रयोग होता है, पदों को किस प्रकार रखना या सजाना चाहिए, उनको विभिन्न प्रकार से रखने से अर्थ में क्या अंतर होता है, आदि विषयों का विवेचन है।

तात्त्विक दृष्टि से स्वन, पद और वाक्य में मौलिक अंतर है। स्वन मूलतः उच्चारण से संबद्ध है। यह शारीरिक व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः स्वन शारीरिक व्यापार प्रधान है। पद में स्वन और सार्थकता दोनों का समन्वय है। स्वन शारीरिक पक्ष है और सार्थकता मानसिक पक्ष है। पद में शारीरिक और मानसिक दोनों तत्वों के समन्वय से वह वाक्य में प्रयोग के योग्य बन जाता है। सार्थकता का संबंध विचार से है। विचार मन का कार्य है, अतः पद में मानसिक व्यापार भी है। वाक्य में विचार, विचारों का समन्वय, सार्थक एवं समन्वित रूप में अभिव्यक्ति, ये सभी कार्य विचार और चिंतन से संबद्ध

हैं, अतः मानसिक कार्य हैं। वाक्य में मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक पक्ष मुख्य होता है। विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य से होती है, अतः वाक्य की भाषा का सूक्ष्मतम सार्थक इकाई माना जाता है।

आधुनिक भाषाविज्ञान भी वाक्य को ही भाषा की पूर्ण इकाई मानता है। वस्तुतः हमारा सोचना, समझना, बात करना— सब वाक्यों के ही माध्यम से होता है। यहाँ तक कि जब हम उत्तेजना के क्षणों में एक शब्द बोलते हैं, तो भी यह कथन पूर्ण वाक्य होता है। उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति बगीचे में साँप को देखकर 'साँप !' चिल्लाता है तो उसका कथन पूर्ण वाक्य का काम देता है जिससे 'यहाँ साँप है।' अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार सामान चुराकर भागते हुए व्यक्ति के पीछे 'चोर— चोर !' चिल्लाना भी पूर्ण वाक्य होता है, जिसका शेष अंश 'अध्याहृत' होता है।

आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने इस तथ्य को समझकर ही भाषा के अध्ययन — अध्यापन की प्रक्रिया वाक्य से शुरू करने की सिफारिश की है। आज छोटे बच्चों का पहला भाषा पाठ — 'अमर घल चल', 'मगर घर चल' जैसे वाक्यों से शुरू होता है। बाद में बच्चे वाक्यों को तोड़कर अ, म, र, घ, र, च, ल आदि वर्णों को पहचानना सीखते हैं। परंतु वाक्यवाद की यह अवधारणा भाषाविज्ञान की कोई नयी देन नहीं है। भारतीय व्याकरण में भर्तृहरि ने 'वाक्य पदीय' ग्रंथ के माध्यम से बहुत पहले इस बात की घोषणा की थी—

पदे न वर्णाः विद्यन्ते, वर्णेष्ववयवाः च न ।

वाक्यात् पदानाम् अत्यंत प्रविवेको न कश्चन

(अर्थात् पद में वर्ण और वर्णों में अवयव नहीं होते। वाक्य से पृथक् पदों की कोई निजी पहचान नहीं होती।)

यहाँ भर्तृहरि का तात्पर्य पदों या वर्णों की सत्ता को नकारना नहीं है। वे तो इतना ही कहना चाहते कि भाषा की पूर्ण इकाई वाक्य ही है। पद उसके कृत्रिम या काल्पनिक खण्ड होते हैं और पदों के कृत्रिम खण्ड वर्ग।

वाक्य और पदके महत्व को लेकर चले आ रहे इस विवाद ने वाक्य की परिभाषा को भी प्रभावित किया है। प्राचीन वैयाकरण पतंजलि और यूनानी दार्शनिक डायोनिशस थ्रैक्स — ने वाक्य की परिभाषा इन शब्दों में की है — 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द — समूह को वाक्य कहते हैं।' पतंजलि का समय ई०पू० द्वितीय शताब्दी तथा थ्रैक्स का समय उससे लगभग 100 साल बाद का माना जाता है। आश्चर्य है कि भिन्न — भिन्न देशों के इन विचारकों के मतों में इतनी अद्भुत समानता है। जब हम इस परिभाषा की शब्दावली पर गौर करते हैं तो इसके पीछे भी वाक्यवाद की मान्यताएँ झाँकती प्रतीत होती हैं। ये दार्शनिक अर्थ की प्रतीति कराने वाली इकाई 'शब्द समूह' को मानते हैं। स्पष्ट है, अर्थ की प्रतीति शब्द से नहीं, 'शब्द समूह' से होती है, वाक्य से होती है।

वाक्य की सबसे चर्चित परिभाषा 'साहित्य दर्पण' के लेखक कविराज विश्वनाथ की हैं — 'वाक्यं स्याद्योग्यता ऽऽ कांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः' अर्थात् "योग्यता आकांक्षा और निकटता से युक्त पद समूह ही 'वाक्य' कहलाता है।" इस परिभाषा के अनुसार वाक्यत्व की तीन अनिवार्य शर्तें हैं — आकांक्षा, योग्यता और आसाक्ति। आकांक्षा का अर्थ है शब्दों की परस्पर पूरकता। जैसे — 'राम पुस्तक पढ़ता है।' इस वाक्य में तीन पद हैं — 'राम', 'पुस्तक' और 'पढ़ता है।' तीनों व्याकरणिक दृष्टि से एक — दूसरे की आकांक्षा रखते हैं। 'राम' कर्त्ता है, उसे क्रिया की आकांक्षा है। 'पढ़ता है' क्रिया है, जिसे एक कर्म की आकांक्षा है। अतः ये पद मिलकर एक वाक्य की रचना करते हैं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति 'पुस्तक, नदी, रसोई, कागज' शब्दों का उच्चारण करे तो वह वाक्य नहीं कहलायेगा। क्योंकि इन शब्दों में से किसी को किसी की आकांक्षा नहीं। ये एक शब्दसूची मात्र प्रतीत होते हैं।

NOTES

योग्यता का संबंध अभिव्यक्ति से है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द, व्याकरणिक दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी, यदि असंगत अर्थ की अभिव्यक्ति करें, तो उसे वाक्य नहीं कहेंगे। अतः 'वह पानी पीता है' वाक्य है 'वह पत्थर पीता है' वाक्य नहीं, 'पक्षी उड़ता है' वाक्य है 'पहाड़ उड़ता है' वाक्य नहीं, या कविराज विश्वनाथ के शब्दों में 'वह अग्नि से सींचता है' वाक्य नहीं। कारण स्पष्ट है कि पत्थर में पीने के 'कर्मत्व' की, पहाड़ में उड़ने के 'कर्तृत्व' की और 'अग्नि' और 'सींचता है' में पारस्परिक अर्थबोध की योग्यता नहीं है।

'आसक्ति' का अर्थ 'पास- पास होना' है। वाक्य की दूसरी शर्त पदों की 'निकटता' है। यदि कोई व्यक्ति एक दिन कहे 'गाय' और दूसरे दिन कहे 'लाओ' तो यह वाक्य नहीं कहलायेगा। वक्ता के द्वारा उच्चारित पदों में सातत्य होना जरूरी है। यह बात लिखित भाषा पर भी लागू होती है, जहाँ लिखित शब्दों में लम्बा अंतराल न होना वाक्य के अर्थबोध के लिए जरूरी है।

वाक्य और पद का संबंध (पदवाद और वाक्यवाद)

भाषा में पद की प्रधानता है कि वाक्य की; इस संबंध में दो सिद्धांत प्रचलित हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. अभिहितान्वयवाद — पदवाद
2. अन्विताविधानवाद — वाक्यवाद

अभिहितान्वयवाद और अन्विताविधानवाद

1. अभिहितान्वयवाद —

अभिहितान्वयवाद को पदवाद भी कहा जाता है, क्योंकि भाषा में इस सिद्धांत के अनुसार पद की सत्ता प्रमुख है, वाक्य की सत्ता गौण है। इस सिद्धांत का प्रवर्तन कुमारिल भट्ट ने किया था। अभिहितान्वयवाद सिद्धांत के अनुसार पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। पदों को अन्वित कर वाक्य- गठन किया जाता है। यदि पद न हों तो वाक्यसंरचना अकल्पनीय है।

अभिहितान्वयवाद की महत्ता कभी रही होगी। आज यह ग्राह्य नहीं है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदान्वय से वाक्य की संरचना होती है, अर्थात् एक वाक्य में अनेक पदों का होना अनिवार्य है। लेकिन वाक्य तो एक 'पद' का भी होता है। 'जाओ', आओ, भागो, ठहरो एकपदीय वाक्य हैं और स्पष्ट है कि इसमें पदान्वय नहीं है। वाक्य की कल्पना के अभाव में पद का अस्तित्व ही नहीं होता, क्योंकि कोई शब्द तभी पद हो सकते हैं जब वाक्य में प्रयुक्त होने की योग्यता रखते हों। वियोगात्मक भाषा जैसे हिंदी में शब्द वाक्य में प्रयुक्त होने के बाद ही 'पद' बनते हैं। सारांशतः अभिहितान्वयवाद आधुनिक भाषाविज्ञानियों को ग्राह्य नहीं है। आधुनिक भाषाविज्ञान वाक्य की सत्ता को प्रमुख मानता है। वाक्य ही भाषा की पूर्ण सार्थक इकाई है। बोलते समय पद नहीं, वाक्य प्रयुक्त होते हैं।

2. अन्विताविधानवाद —

अभिहितान्वयवाद के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट थे। अन्विताविधानवाद के प्रवर्तक प्रभाकर गुरु हुए। प्रभाकर गुरु कुमारिल भट्ट के ही शिष्य थे। प्रभाकर गुरु के कुमारिल भट्ट की स्थापना, अर्थात् पदवाद का खंडन किया और वाक्यवाद अर्थात् अन्विताविधानवाद की स्थापना की। ऊपर कह आये हैं कि भाषा में वाक्य ही प्रयुक्त होता है, पद नहीं। वाक्यों को तोड़कर पद की प्राप्ति होती है। विभिन्न पदों को जोड़कर कोई नहीं बोलता। वक्ता वाक्य में सोचता है, वाक्य में बोलता है। वाक्यविधान के स्फोट के पूर्व चयन क्रम की प्रक्रिया मानसिक होती है और इतनी शीघ्र होती है कि वाक्य प्रयोग में व्यवधान नहीं होता। पदों की सत्ता तो वाक्यों के प्रयोजन के अनुसार भाषण

के पश्चात् आभासित होता है। यह संज्ञा पद है, यह विशेषण पद है, यह क्रिया विशेषण पद है – आदि – आदि। संज्ञा, विशेषण, क्रिया, अव्यय, क्रियाविशेषण आदि पदों को जोड़कर वाक्य नहीं बनाये जाते। तो अस्वाभाविक क्रिया है। 'राम ने कहा था' इसमें संज्ञा विभक्ति, क्रिया+सहायक क्रिया का क्रमिक विन्यास हुआ है। बोलने वाला यह सोचकर नहीं बोलता कि संज्ञा विभक्ति – क्रिया, सहायक क्रिया के क्रम समुच्चय कर बोल रहा हूँ, बल्कि जो वाक्य – विस्फोट हुआ है, उसका विश्लेषण करने पर इन पदों की प्राप्ति होती है।

पद के पूर्व शब्द होते हैं। शब्द वाक्य में प्रयुक्त होने पर पद बनते हैं। अतः वाक्य के बिना पद की सत्ता होती ही नहीं है।

वाक्य की परिभाषा (वाक्य का स्वरूप)

अन्विताविधानवाद की महत्ता स्थापित होने के कारण वाक्य को पदों का समूह मानना ठीक नहीं है। लेकिन कोशों और व्याकरणों में अर्थ की दृष्टि से पूर्ण शब्दों के समूह को ही वाक्य कहा गया है। इसमें दो बातों पर ध्यान जाता है –

1. वाक्य शब्दों का समूह है।
2. वाक्य अर्थ की दृष्टि से पूर्ण अथवा पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाली इकाई है।

वाक्यों को शब्दों का समूह नहीं कहा जा सकता। अन्विताविधानवाद ने इसको बहुत पहले ही प्रमाणित कर दिया है। भाषा अखंड प्रवाह है। वाक्य उस अखंड प्रवाह का एक अंश है। जैसे, कोई सदानीरा प्रवाहित नदी हो। वह दूर से अपने उद्गम से प्रवाहित कहीं दूर बहती चली जा रही हो। इसमें अपने प्रयोजन के अनुसार कोई एक लोटा जल लेता है, कोई एक घट। जलपात्र में अपने – आप में पूर्ण है। वाक्य की स्थिति वैसी ही है। भाषा के अबधित प्रवाह में से प्रयोजन के अनुसार वक्ता या भाषाप्रयोक्ता भाषांश (वाक्य) व्यवहार करता है। भाषा के अखंड प्रवाह का भाषांश वाक्य है। अतः वाक्य भाषा का प्रमुख अंश और विचार प्रवाह की अभिव्यक्ति का साधन है। वाक्य के विश्लेषण से पद, ध्वनि आदि की प्राप्ति होती है। निश्चित रूप से पद भाषा का स्वाभाविक उच्चार प्रक्रिया नहीं हैं। अतः पदों या शब्दों के समूह को वाक्य कहना ग्राह्य नहीं है।

वाक्य अर्थ की प्रतीति कराने वाली पूर्ण इकाई है – यह धारणा भी गलत है। पूर्ण तो भाषा का प्रवाह है। वाक्य तो उसका भाषांश है। वाक्य से अर्थ की प्रतीति होती है, पूर्ण अर्थ की नहीं। अर्थ की प्रतीति के लिए भी संदर्भ की आवश्यकता पड़ सकती। "उसने कहा" एक छोटा वाक्य है। उसने क्या कहाँ, कब कहाँ, कहाँ कहाँ, किससे कहाँ, कैसे कहाँ? कई बातें हैं जो अर्थ और पूर्ण अर्थ की प्राप्ति के लिए संदर्भ की माँग करती हैं। वस्तुतः वाक्य व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण होता है जिससे अर्थ की प्राप्ति होती है।

शब्दों का समूह वाक्य नहीं होता – इसके संबंध में एक मुख्य बात तो यही है कि एक पद का भी वाक्य होता है। कथोपकथन में, अनुज्ञाबोधक शब्दों में एक पद से ही अर्थ की प्रतीति होती है। उदाहरण देखिए – श्याम तुम कल पढ़ने गये थे ?

हाँ

दोपहर को कहाँ गये थे ?

खेलने

शाम को ?

पढ़ने।

हाँ, खेलने, पढ़ने शब्द समूह नहीं हैं। एक पद हैं। हाँ, नहीं, जी, आदि शब्दों से वाक्य का काम सब लेते हैं। जा, जाओ, आओ, भागो, दौड़ों, क्रियार्थक वाक्य हैं जिसमें पदों या शब्दों का समूह नहीं है। सारांश यह हुआ कि वाक्य न तो शब्द समूह है, न अर्थ की दृष्टि से पूर्ण इकाई।

NOTES

पंतजलि के अनुसार वाक्य के लिए कम से कम एक क्रियापद का होना भी आवश्यक है। वाक्य में एक से अधिक पद भी रहते हैं और एक पद भी। पद तो पद; एकवर्ण का भी वाक्य संभव है। 'तुम पढ़ते हो न' में न विधिवाचक है, निषेधवाची नहीं। लेकिन क्या तुम पढ़ते हो? 'हाँ', 'न' दोनों उत्तर संभव हैं। किसी चीज के निषेध के लिए तो न – ना करते हैं।

पंतजलि ने कहा कि वाक्य में क्रिया का होना आवश्यक है। पर बिना क्रिया प्रयोग के 'संबोधनवाक्य' (एकशब्द का) भी प्रयुक्त होकर भावाभिव्यक्ति कर जाता है। अक्सर ऐसा देखने में आया है कि किसी को बुलाने के लिए, किसी क्रिया के निषेध के लिए प्रायः संज्ञापद से ही काम कर लेते हैं। तात्पर्य कि भाषा से भावाभिव्यक्ति का काम लिया जाता है और यह वाक्य द्वारा ही होता है। भावाभिव्यक्ति भाषा में वाक्य से ही होती है। अतः भाषा का कार्य वाक्य ही करता है। वाक् का अर्थ ही होता है "वाणी अर्थात् भाषा" इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि वाक्य ही भाषा का प्रमुख अंग है।

अंग्रेजी भाषाविदों ने भी वाक्य को परिभाषित किया है। एकाधिक परिभाषाएँ द्रष्टव्य है – "A sentence is a set of words revealing an intelligible purpose" अर्थात् अभीष्ट अर्थ को प्रकाशित करने वाले एक शब्द (पद) या अनेक पदों के व्यवस्थितक्रम को वाक्य कहते हैं।

अतः वाक्य की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है – "व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण एकपदीय अथवा बहुपदीय भाषिक ईकाई (भाषांश), जिससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, वाक्य कहते हैं।

वाक्य के तत्त्व

वाक्य के निम्नलिखित तत्त्व हैं –

1. आकांक्षा
 2. योग्यता
 3. आसक्ति
1. **आकांक्षा** – वक्ता जिस अर्थ की प्रतीति कराना चाहता है, श्रोता उसे उसी अर्थ में ग्रहण करता है, यह अर्थ की दृष्टि से भाषिक पूर्णता है। कोई कहे बालक, पहाड़, नदी, जंगल,। इन शब्दों को श्रोता क्या समझेगा अर्थ की दृष्टि से ये अपूर्ण हैं। वक्ता क्या कहना चाहता है, अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। फलतः आकांक्षा होती है, इच्छा होती है कि वक्ता का प्रयोजन क्या है? जब वक्ता कहे बालक सुंदर है। पहाड़ ऊँचा है। नदी गहरी है। जंगल घना है। तब जिज्ञासा हो जाती है। वाक्य का यही मुख्य प्रयोजन है। जिज्ञासा की शांति, पूर्ण सम्प्रेषण आर्थिक पूर्णता से होती है। आकांक्षा श्रोता में होती है। अर्थ की अपूर्णता के कारण आकांक्षा स्वाभाविक पद से आकांक्षा की तृप्ति नहीं होती। आकांक्षा वाक्य के द्वारा ही शांत होती है। क्योंकि वाक्य से अर्थ का पूर्ण सम्प्रेषण होता है।
2. **योग्यता** – भाषा का प्रयोजन है अर्थ की प्रतीति, भाव की अभिव्यक्ति। अर्थ प्रतीति में बाधा व्याकरणिक कोटियों को ध्यान में नहीं रखने के कारण प्रायः हुआ करती है। इसे पदान्वय संबंधी बाधा कहते हैं। इसे व्याकरणिक बाधा भी कहते हैं। जैसे, लड़की पढ़ते थे। लड़का जाती थी। मैंने करता है। हमने जाता है। व्याकरण की दृष्टि से ये अशुद्ध वाक्य हैं। अर्थात् इनमें अर्थ देने की योग्यता नहीं है। वाक्य में अर्थ देने की योग्यता भी आती है, जब व्याकरणिक नियमों का पालन किया जाय। व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध वाक्य की योग्य वाक्य होते हैं।

अर्थ की प्रतीति में बाधा स्वीकृत शब्दार्थ के विपरीत प्रयोग से भी होती है। इसे प्रतीति बाधा कह सकते हैं। जैसे, आग से बगीचा सींचा जाता है। सींचने का काम पानी का है। पानी में ही अर्थ देने की योग्यता है। अर्थात् आग से सींचना अर्थ प्रतीति में बाधा है। यह वाक्य योग्यताहीन है। वाक्य की योग्यता का अर्थ है अनुकूल अर्थ वाले पदों के अन्वय से अर्थ की प्रतीति।

3. **आसत्ति** — आसत्ति कहत हैं समीपता को। वाक्य में प्रयुक्त होने वाले पदों को एक दूसरे के समीप रहना चाहिए। शब्दों (पदों) की आसन्ता देश — काल की दृष्टि से देखा जाता है। 'लड़का खेलता है।' यह शुद्ध और संगत वाक्य है। लेकिन आज कहें लड़का और कल कहें खेलता है, तब अर्थ की प्रतीति संभव नहीं हैं। वाक्य में पदों में आसत्ति अर्थात् निकटता होनी चाहिए। दूसरा उदाहरण — फूल लड़का उगता है। सूर्य खेलता है। व्याकरण की दृष्टि से वाक्य असंगत नहीं है, लेकिन इनसे अर्थ प्रतीति असंभव है। इन्हें आसत्ति में होना चाहिए। फूल खिलता है। लड़का खेलता है। सूर्य उगता है। वाक्य में क्रम का महत्व बहुत है। क्रम का निर्वाह नहीं होने के कारण आसत्ति दोष होता है। क्रम का तात्पर्य व्याकरणिक क्रम नहीं है। शब्दों के अर्थ का मानसिक क्रम व्याकरण से नियंत्रित है। भाषा तो मानसिक क्रिया है। सूर्य खेलता है से अर्थ की प्राप्ति इसलिए संभव नहीं है कि मानस इसे स्वीकार नहीं करता है।

वाक्य संरचना में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति को देखा गया। अब वाक्य में पदविन्यास की विशेषताओं को देखे।

वाक्य में पद विन्यास की विशेषताएँ

प्रत्येक भाषा की निजी प्रकृति होती है, प्रत्येक भाषा में वाक्य गठन की निजी विशेषताएँ हैं। सामान्यतः वाक्य निर्माण में पदविन्यास की विशेषताएँ जो संसार की अधिकांश भाषाओं में मिलती हैं, निम्नलिखित हैं—

1. चयन
2. क्रम
3. ध्वनि परिवर्तन

1. **चयन** — चयन मानसिक प्रक्रिया और मनोवैज्ञानिक क्रिया है। भाषा सामाजिक वस्तु है। भाषा का प्रयोग समाज में होता है। समाज में भाषा—प्रयोग का प्रभाव और कुप्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। बिना सोचे — समझे बोलने वाले निंदा के पात्र बनते हैं, समझकर बोलने वालों को प्रशंसा मिलती है। वक्ता के लिए अपेक्षित अर्थ और अभीष्ट प्रभाव के लिए चयन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। चयन तो सबके मस्तिष्क में होता है। कोई सही पदों का चयन करता है, कोई नहीं, एक ही अर्थ के वाचक विभिन्न पद होते हैं। उनमें किनका प्रयोग किया जाय यही चयन है। सैंधव का अर्थ होता है नमक, घोड़ा। कोई कहे सैंधव ले जाओ — इससे अच्छा है कि वह कहे घोड़ा ले जाओ।

चयन मानसिक क्रिया है, प्रयोग व्याकरणिक। प्रयोग का आधार योग्यता भी है समानार्थी पदों में से चयन करके व्याकरणिक दृष्टि से प्रयोग ही योग्यता है। जैसे — मैंने कहा था, न शुद्ध वाक्य है 'न' का चयन सटीक है। मैंने न कहा था। 'न' का प्रयोग 'योग्यता' की दृष्टि से गलत है। न देखा न सुना, यहाँ 'न' योग्यता के मुताबिक अर्थात् प्रयोग की दृष्टि से सटीक है। चयन का आधार योग्यता भी है। योग्यता के अनुसार ही चयन भी होता है।

2. **क्रम** — चयन मानसिक व्यापार है और क्रम व्याकरणिक। वस्तुतः चयन के साथ मानस में क्रम भी होता रहता है। वाक्य पहले मानस में ही बन जाता है, प्रकट तो वह बाद में होता है। जो हो, वाक्य में क्रम की महत्ता आसत्ति में देख चुके हैं।

संसार की सभी भाषाओं में वाक्य गठन में निर्धारित एक ही क्रम काम नहीं आते। क्रम, विचार से प्रभावित होता है। जैसे सोचते हैं, वैसे बोलते हैं। भाषा के साथ कहावत है, जैसा विचार वैसा

योगात्मक भाषाओं में क्रम का महत्व चाहे जितना हो, अयोगात्मक भाषाएँ स्थान महत्व के कारण पदक्रम को नहीं तोड़ती। क्रम के बदलने से अर्थ में ही परिवर्तन हो जाता है।

NOTES

3. **स्वन परिवर्तन** – भाषा की विशेषता है भाषण। वाक्य बैखरी होता है। बोलने में संधि के कारण, समास के कारण, बलाघात के कारण, तान के कारण, ध्वन्यात्मक परिवर्तन हो जाया करता है।”

वाक्य के प्रकार

सूक्ष्मता से विचार करें तो वाक्य के उतने ही भेद होंगे जितने प्रकार की भाषिक भंगिमाएँ होंगी। लेकिन स्थूल दृष्टि से वाक्य के प्रकारों के निम्नांकित आधार हैं –

वाक्यों के भेद—

वाक्यों के वर्गीकरण मुख्य पाँच आधार हैं –

1. भाषा की आकृति
2. व्याकरणिक रचना
3. क्रियार्थ
4. अध्याहार
5. शैली

1. **भाषा की आकृति** – वाक्य रचना की दृष्टि से संसार में दो प्रकार की भाषाएँ हैं – योगात्मक और अयोगात्मक। इस आधार पर वाक्य के दो भेद होते हैं –

अ. योगात्मक वाक्य और

आ. अयोगात्मक वाक्य

अ. योगात्मक वाक्य – जिन वाक्यों में शब्दों के साथ प्रत्यय या विभक्तियाँ जुड़ी रहती हैं, उन्हें योगात्मक वाक्य कहते हैं। जैसे –

1. रामः रावणम् अवधीत्। (संस्कृत)
2. राम ने रावण को मारा। (हिंदी)

ये योगात्मक वाक्य हैं। दोनों का प्रत्येक पद सविभक्तिक है।

आ. अयोगात्मक वाक्य – जिन वाक्यों में शब्दों के संबंध तत्त्व नहीं जुड़ता उन्हें अयोगात्मक वाक्य कहते हैं, जैसे—

शेन ताड़ पा = शेन पा को मारता है।

न्गो त नि = मैं तुम्हें मारता हूँ (चीनी)

1. **व्याकरणिक रचना** – व्याकरणिक रचना की दृष्टि से वाक्य के तीन भेद हैं,

अ. साधारण वाक्य

ब. संयुक्त वाक्य

स. मिश्रित वाक्य

अ. साधारण वाक्य – जिस वाक्य में एक ही समापिका क्रिया होती है, उसे 'साधारण वाक्य' कहते हैं, जैसे—

1. लड़का पुस्तक पढ़ता है।
2. लड़कों ने गीत गाया।
3. वह देर से आयेगा।

कुछ विद्वान साधारण वाक्य की परिभाषा इन शब्दों में भी करते हैं – “जिस वाक्य में एक ‘उद्देश्य’ और एक ही ‘विधेय’ हो , उसे ‘साधारण वाक्य’ कहते हैं। इस दृष्टि से भी एक समापिका क्रिया वाला वाक्य ‘साधारण वाक्य’ सिद्ध होता है, क्योंकि इस प्रकार के वाक्यों में एक ‘उद्देश्य’ और एक ही ‘विधेय’ होता है।

NOTES

2. **संयुक्त वाक्य** – दो समानाधिकरण उपवाक्यों के संयोग से बने वाक्य को ‘संयुक्तवाक्य’ कहते हैं। संयुक्त वाक्य प्रायः ‘और’ ‘अथवा’ ‘किन्तु’ आदि समुच्चय बोधक अवयवों से जुड़े होते हैं, जैसे –

1. उसने पुस्तक उठायी और पढ़ने बैठ गया।
2. मैंने उसकी कविताएँ पढ़ी थीं परंतु उससे कभी मिला न था।

3. **मिश्रित वाक्य** – जिस वाक्य में मुख्य उपवाक्य के अतिरिक्त कम से कम एक आश्रित उपवाक्य हो, उसे ‘मिश्रित वाक्य’ कहते हैं, जैसे

1. उसने देखा कि सारा घर अस्त व्यस्त पड़ा है।
2. जैसे ही गाड़ी रूकी, चाचाजी दिखायी पड़े।
3. जब – जब धर्म की हानि होती है, भगवान अवतार लेते हैं।
4. जहाँ ये इमारतें खड़ी हैं, वहाँ पहले घना जंगल था।

उपवाक्य – उपवाक्यों के दो वर्ग माने गये हैं – प्रधान उपवाक्य और आश्रित उपवाक्य है। प्रधान उपवाक्यों में समानाधिकरण वाक्यों की भी गणना की जाती है। आश्रित , उपवाक्य संज्ञा, विशेषण, काल, स्थान, दिशा, शर्त, कारण, परिणाम आदि की अभिव्यक्ति करते हैं और प्रधान उपवाक्य के सहायक होते हैं।

पंडित किशोरीदास वाजपेयी – ने ‘हिंदी शब्दानुशासन’ में सप्रमाण सिद्ध किया है कि हिंदी में मिश्रित वाक्यों का अस्तित्व नहीं है। इस संदर्भ में उन्होंने प्रधान और अप्रधान उपवाक्यों की परंपरागत मान्यता को भी अस्वीकार किया है। अतः हिंदी व्याकरण में ‘मिश्रित वाक्य’ की सत्ता पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

3. **क्रियार्थ** – क्रियार्थ की दृष्टि से वाक्यों के अनेक भेद किये जा सकते हैं ,जैसे –

1. विधान (कथन) – वह पुस्तक पढ़ता है।
2. आज्ञा – यहाँ आओ।
3. प्रार्थना – हमारी रक्षा कीजिए।
4. संभावना – शयद वह शाम तक लौट आये।
5. सन्देश – बच्चे कहीं खो न जायें।
6. संकेत – यदि वर्षा हो जाये, तो गर्मी से राहत मिले।
7. प्रश्न – वह कहाँ रहता है ?
8. विस्मयादि – अरे वाह ! तुम आ गये !
9. आग्रह – बैठिए न !
10. निषेध – शोर मत मचाओ।

स्व-प्रगति की जाँच करें–

1. पद विज्ञान एवं वाक्य विज्ञान में क्या अन्तर है ?
2. वाक्य की परिभाषा देते हुए वाक्यत्व की तीन अनिवार्य शर्तों का उल्लेख कीजिए।
3. अभिहितान्वयवाद या पदवाद से आप क्या समझते हैं ? आधुनिक भाषा विज्ञान में यह क्यों अग्राह्य है ?

इसके अतिरिक्त यथाप्रसंग और भी भेद हो सकते हैं।

NOTES

4. **अध्याहार** — अध्याहार की दृष्टि से कई भाषाशास्त्री वाक्य के दो भेद मानते हैं — (अ) क्रियायुक्त वाक्य और (ब) क्रियाहीन वाक्य।

(अ) **क्रियायुक्त वाक्य** — सामान्य वाक्य, जिनमें क्रिया विद्यमान रहती है, 'क्रियात्मक वाक्य' कहलाते हैं, जैसे — मैं जा रहा हूँ, वह आयेगा आदि।

(ब) **क्रियाहीन वाक्य** — जिन वाक्यों में क्रिया प्रत्यक्ष विद्यमान न रहते हुए अध्याहृत रहती है, उसे 'क्रियाहीन वाक्य' कहते हैं। संस्कृत में 'इदं पुस्तकम् 'क ते गृहम् ?' अपि कुशली कुमार?' जैसे क्रियाहीन वाक्यों का खूब प्रचलन था। हिंदी में भी ऐसे वाक्यों का प्रयोग कई रूपों में देखा जाता।

(क) **अखबारों की सुर्खियाँ** — घाटी में विस्फोट : दस मरे। रेल दुर्घटना में युवा कवि की मृत्यु। ग्रामीण इलाकों में मलेरिया का प्रकोप। आदि

(ख) **लोकोक्तियाँ** — मुँह में राम, बंगल में छुरी, जिसकी लाठी उसकी भैंस, जैसा देश वैसा भेस आदि।

(ग) **संभाषण** — 'फिर भी बकवास !' या 'जरूरजरूर !'

5. **शैली** — शैली की दृष्टि से वाक्यां के अनेक भेद हो सकते हैं—

जैसे — 1. अलंकृत वाक्य 2. अनलंकृत वाक्य 3. समान्तरित वाक्य 4. आवृत्यात्मक वाक्य

5. शृंखलित वाक्य आदि।

1. **अलंकृत वाक्य** — अलंकारों से सुसज्जित वाक्य को 'अलंकृत वाक्य' कहते हैं। साहित्यिक भाषा में इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग बहुतायत से देखा जाता है। जैसे — उस उत्तुंग प्रासाद के पास, प्रतिष्ठा में कलंक की तरह, एक गरीब माली की झोपड़ी थी।

2. **अनलंकृत वाक्य** — सामान्य और बिना सजावट वाले वाक्य को 'अनलंकृत वाक्य' कहते हैं, जैसे — महल के पास एक झोपड़ी थी।

3. **समान्तरित वाक्य** — समान्तरता शैली की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जिसमें दो कथनों में भावों और शब्दों का समान्तर प्रयोग किया जाता है। लोकोक्तियों में ऐसे वाक्य अधिक देखने को मिलते हैं। जैसे — 'जहाँ चाह वहाँ राह' या कहाँ राजा भोज कहाँ गगूँ तेली ?' साहित्य में समान्तरता अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि करती है जैसे — एक ओर उत्साह था शक्ति थी, साहस था, तो दूसरी ओर अभाव था, गरीबी थी और उनका अहसास था।

4. **आवृत्यात्मक वाक्य** — जहाँ मुख्य कथन से पूर्व कई कतूहलजनक उप वाक्यों की आवृत्ति होती है और अन्त में अभीष्ट कथन को पूरी ताकत के साथ गोली को तरह दाग दिया जाता है, उसे आवृत्यात्मक वाक्य कहते हैं जैसे — यदि आप धर्मनिरपेक्ष व्यवहार चाहते हैं, यदि आप भ्रष्टाचार मुक्त कार्यभार चाहते हैं यदि आप एक स्थायी सरकार चाहते हैं तो अपना बहुमूल्य मत अमुक दल को दीजिए।

वाक्य विश्लेषण

समग्र भाषिक व्यवहार वाक्य के रूप में ही परिचालित होता है। स्वनिम अर्थहीन होते हैं और अर्थवान होते हुए 'भी शब्द विचारों या भावों की अभिव्यक्ति में अक्षम। अर्थप्रदायक क्षमता उनमें तब आती है जब पदान्विति के पश्चात् वे वाक्य का अंग बनते हैं। इसलिए वाक्य को मूल इकाई माना जाता है। वाक्य संरचना व्याकरणिक कोटियों एवं वाक्यार्थ को केन्द्र में रखकर की जाती है। इसीलिए

भाषाविज्ञान के आधुनिक विचारकों ने वाक्य को महत्त्व देना प्रारंभ किया। पहले वाक्य का अध्ययन व्याकरण तक सीमित था किन्तु नए भाषा वैज्ञानिक आचार्यों में भाषा वैज्ञानिक वाक्य गठन की प्रक्रिया को व्याकरण और अर्थ दोनों दृष्टियों से विश्लेषित करते हैं। किसी भाषा में प्रयुक्त वाक्यों का विश्लेषण करके उसकी आर्थी क्षमता एवं व्याकरणिक संरचना को समझना वाक्य विश्लेषण है। वाक्य – विश्लेषण की तीन स्थितियाँ विद्यमान हैं।

1. उद्देश्य – विधेय ।
2. निकटस्थ अवयव विश्लेषण ।
3. गहन एवं वाह्य संरचना

1. उद्देश्य – विधेय (Subject और Predicate)– वाक्य का यह विभाजन परंपरागत है। वाक्य में कर्ता या उसके विस्तार को उद्देश्य और क्रिया और उसके विस्तार को विधेय माना जाता है। इसमें संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि आते हैं। कामताप्रसाद गुरु के अनुसार उद्देश्य बहुधा कर्ता कारक के रूप में रहता है। इस संदर्भ में संस्कृत के आचार्य मम्मट का तर्क अधिक महत्त्वपूर्ण है। मम्मट के अनुसार वाक्य में जितने अंश का विधान किया जाता है, वह विधेय है और जितना अंश पहले से ज्ञात होता है, वह उद्देश्य है।

निकटस्थ अवयव विश्लेषण

वाक्य भाषिक संरचना की ऐसी इकाई है जो पूर्ण अर्थवान होती है। मीमांसावादियों ने वाक्य के संदर्भ में दो मत दिए हैं अभिहिततान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद। अभिहिततान्वयवादी कहते हैं पदों से वाक्य बनता है और अन्विताभिधानवादी वाक्यों को तोड़ने से पदों की स्थिति मानते हैं। पदों की स्थिति दोनों मतों में है। पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक मानते हैं कि वाक्य – रचना रूपियों से होती है। रूपिम वाक्य के अवयव हैं। जो अवयव आपस में निकटस्थ हैं, उन्हें निकटस्थ अवयव कहा जाता है। इस प्रकार निकटस्थ अवयवों की दृष्टि से वाक्य के विखण्डन को निकटस्थ अवयव विश्लेषण कहा जाता है। उल्लेखनीय है कि वाक्य में पदों की स्थिति स्थानगत स्थिति को निकटस्थ अवयव नहीं कहा जाता। अवयवों के पारस्परिक संबंध की निकटता का विश्लेषण ही इसमें महत्त्वपूर्ण होता है। जैसे Is Ram going में is Ram का निकटस्थ अवयव नहीं है, जबकि वाक्य में निकट है पर विश्लेषण की दृष्टि से यह going का निकटस्थ अवयव है।

वाक्य के निकटस्थ अवयव – प्रायः वाक्य एक या अनेक पदों का होता है। जहाँ वाक्य एक से अधिक पदों में होते हैं वहाँ उन वाक्यों का प्रत्येक पद 'अवयव' कहलाता है क्योंकि वे सभी अवयव मिलकर वाक्य का निर्माण किया करते हैं। अतएव कोई वाक्य जब दो या दो से अधिक पदों से मिलकर बनता है, तब उनमें से प्रत्येक पद उस वाक्य का निकटस्थ अवयव कहलाता है। जैसे – 'नरेन्द्र पुस्तक पढ़ता है।' इस वाक्य में 'नरेन्द्र पुस्तक' और 'पढ़ता' है। 'ये तीन अवयव निकटस्थ अवयव हैं, जिनके द्वारा उक्त वाक्य का निर्माण हुआ है।

निकटस्थ अवयवों से अभिप्राय यह नहीं है कि कोई अवयव किसी अवयव के अत्यंत निकट है, अपितु अर्थ की दृष्टि से इसका अध्ययन किया जाता है। जैसे अंग्रेजी "Is Shyam coming ?" इस वाक्य के अंतर्गत 'is' और 'coming' दोनों एक दूसरे से दूर स्थित हैं, परंतु अर्थ की दृष्टि से ये दोनों निकटस्थ अवयव हैं। अर्थ की दृष्टि से निकटस्थ अवयवों का अध्ययन पाँच आधारों पर किया जा सकता है—

1. योग्यता के आधार पर।
2. पदक्रम के आधार पर।
3. विशेषण के आधार पर।
4. बलाघात के आधार पर।
5. अनुवाद के आधार पर ।

NOTES

1. **योग्यता के आधार पर** – किसी भी वाक्य में यदि ऐसे अवयवों का प्रयोग किया जाता है, जो अर्थ की दृष्टि से अयोग्य होते हैं, तो उन्हें निकटस्थ अवयव नहीं माना जा सकता, जबकि जो अवयव अर्थ की दृष्टि से योग्यता का पूर्ण परिचय देते हैं, उन्हें निकटस्थ अवयव माना जाता है। “जैसे सुजाता ने एक पुस्तकों का पैकेट अलका के पास भेजा।” इस वाक्य में ‘एक’ और ‘पुस्तकों’ अवयवों का प्रयोग साथ – साथ हुआ है, किंतु ये निकट होकर भी निकटस्थ अवयव नहीं हो सकते, क्योंकि ‘एक’ के साथ ‘पुस्तक’ पद आ सकता है, पुस्तकों का प्रयोग नहीं हो सकता। अतः योग्यता के आधार पर इन दोनों में परस्पर विरोध है। इसी कारण यह वाक्य भी त्रुटिपूर्ण है। शुद्ध वाक्य इस प्रकार होगा – सुजाता ने पुस्तकों का एक पैकेट अलका के पास भेजा।

2. **पदक्रम के आधार पर**– निकटस्थ अवयवों का अध्ययन वाक्य के पद क्रम के आधार पर भी होता है। और जो व्यक्ति पद क्रम से परिचित होते हैं वे प्रायः वाक्यों में निकटस्थ अवयवों का प्रयोग अत्यंत त्रुटिपूर्ण ढंग से क्रिया करते हैं, जिससे उनके वाक्य प्रायः अशुद्ध एवं दोषपूर्ण हो जाते हैं। जैसे – रोहित, ने मित्र का रात के अंतिम प्रहर में सुंदर अभिनय देखा। पदक्रम की जानकारी न होने के कारण इतनी देर पर न, पड़े हैं कि ‘निकटस्थ’ नहीं जान पड़ते; जबकि ये दोनों ही ‘पद’ इस वाक्य में निकटस्थ अवयव हैं। इसी कारण यह वाक्य अशुद्ध है। इसका शुद्ध रूप इस प्रकार होगा – रोहित ने रात के अंतिम प्रहर में मित्र का सुंदर अभिनय देखा।

3. **विशेषण के आधार पर**– कभी-कभी किसी-किसी वाक्य में विशेषण का प्रयोग इस प्रकार होता है कि उसमें निकटस्थ अवयव का पता लगाना कठिन हो जाता है। जैसे – ‘सफेद कमीजें’ मोजे रखे जाते हैं।

4. **बलाघात के आधार पर**– कभी – कभी ऐसे वाक्यों का प्रयोग भी किया जाता है, जिनके निकटस्थ अवयवों का अध्ययन बलाघात के आधार पर किया जाता है। जैसे किसी ने कहा ‘रोको खाने दो’। यहाँ बलाघात के आधार पर विश्लेषण करने पर निकटस्थ अवयवों का विभाजन दो प्रकार से होगा।

क. ‘रोको, मत खाने दो।’

ख. ‘रोको’ मत खाने दो।’

पहले वाक्य में ‘रोको’ पर बलाघात होने से ‘मत’ का संबंध खाने दो’ से हो जाता है, जिससे ‘मत’ को ‘खाने दो’ का निकटस्थ अवयव मानना पड़ता है और इस वाक्य का अर्थ यह हो जाता है कि ‘अभी उसे रोक लो और आगे मत जाने दो’ किन्तु दूसरे वाक्य में, ‘मत’ पर बलाघात होने से ‘मत’ पद ‘रोको’ का निकटस्थ अवयव हो जाता है और इस वाक्य का अर्थ बिल्कुल ही परिवर्तित हो जाता है कि ‘उसे रोकने की आवश्यकता नहीं है बल्कि चले जाने दो।’ वाक्य की प्रवृत्ति के अनुसार उसके निकटस्थ अवयव भी परिवर्तित होते रहते हैं, जिनका अध्ययन ‘बलाघात’ के आधार पर ही यथोचित ढंग से हो सकता है।

5. **अनुवाद के आधार पर** – जब किसी भाषा के वाक्यों का अनुवाद दूसरी भाषा में किया जाता है, तब वही अनुवादक इस कार्य में सफलता प्राप्त करता है, जिसे वाक्य के निकटस्थ अवयवों का अच्छी प्रकार से बोध होता है क्योंकि अनुवाद करते समय प्रत्येक वाक्य के निकटस्थ अवयवों को आधार बनाना ही अधिक उपयोगी होता है। कभी – कभी तो एक भाषा से वाक्य का अनुवाद दूसरी भाषा में करते समय उसके संपूर्ण निकटस्थ अवयवों का ज्यों का त्यों अनुवाद नहीं किया जाता, अपितु उनका भावार्थ प्रस्तुत करना पड़ता है।

सारांश यह है कि किसी भी वाक्य का सम्यक् अध्ययन करने के लिए उसके निकटस्थ अवयवों का जानना नितांत आवश्यक होता है। यदि हमें निकटस्थ अवयवों की भली प्रकार जानकारी नहीं है, तो हम न केवल किसी भाषा का वाक्य ठीक ढंग से लिख पायेंगे, अपितु हमारे, बोलने

अनुवाद करने तथा अर्थ समझने में भी बाधायेँ उपस्थित होगी। यही कारण है कि वाक्य रचना के लिए निकटस्थ अवयवों का ज्ञान अत्यंत अपेक्षित होता है।

निकटस्थ अवयव विश्लेषण का संकेत ब्लूमफील्ड ने किया था। कालान्तर में पाइक और नोइडा ने इस कार्य को आगे बढ़ाया परंतु अमेरिकी संरचनात्मक भाषा वैज्ञानिकों ने इसे महत्वपूर्ण मानकर विस्तार से विवेचना की।

NOTES

गहन संरचना और वाह्य संरचना

आधुनिक भाषाशास्त्रियों का मत है कि हमारे सामने भाषा का जो रूप प्रयुक्त होता है, वह भाषा ही वाह्य संरचना है। यह वाह्य संरचना ठीक वैसी नहीं होती जैसे कि वक्ता के मन – मस्तिष्क में होती है। अस्तु वक्ता के वाक्य बोलने के पूर्व उसके मन— मस्तिष्क में जो संरचना उभरती है उसे गहन संरचना या आंतरिक संरचना कहते हैं। वस्तुतः गहन संरचना की सत्ता मानसिक है जबकि वाह्य संरचना की मौलिक। इसके साथ ही गहन संरचना में अर्थ और व्याकरणिक तत्त्व अमूर्त होते हैं किंतु वाह्य संरचना में मूर्त होते हैं।

वाक्य की गहन और बाह्य संरचना का विश्लेषण रचनांतरण प्रजनक भाषाविज्ञान के अंतर्गत अमेरिकी भाषा वैज्ञानिकों द्वारा किया गया। इसके प्रवर्तक चाम्स्की है। जान लियोन ने तो स्पष्ट कहा है – “जो व्याकरण प्रत्येक वाक्य की बाह्य संरचना और गहन संरचना का विश्लेषण करता है, तथा उन दोनों विश्लेषणों के बीच प्रणालीबद्ध संबंध स्थापन करता है, उसे रचनान्तरणी व्याकरण कहा जाता है।”

वास्तव में आधुनिक भाषा वैज्ञानिक यह मानते हैं कि भाषा का संबंध मनुष्य के अंतर्मन से है। भाषा का वास्तविक व्याकरण वक्ता और श्रोता के अन्तर्मन में होता है। इसीलिए सभी वाक्य एक – दूसरे से संबद्ध हैं। भाषा का पूरा स्वरूप वह नहीं है जो व्यवहार में आता है। अगर ऐसा होता तो वही वाक्य बार – बार दुहराए जाते किन्तु हर व्यक्ति में इनती सर्जनात्मक प्रतिभा होती है कि वह परिस्थिति के अनुसार नए – नए वाक्य बना लेता है। अतः भाषा का व्याकरण वह नहीं है जो प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण करे वरन् वास्तविक व्याकरण वह है जो उसकी संभावनाओं का विश्लेषण करे। ऐसी स्थिति में रूपांतरण प्रजनक व्याकरण का विकास हुआ। प्रजनक का अर्थ ही है एक वाक्य का विश्लेषण इस रूप में करना कि उससे उत्पन्न होने वाले सभी वाक्य सामने आ जायें। इस प्रकार इस व्याकरण में वाक्यों का प्रजनन किया जाता है। उदाहरण के लिए—

राम ने रावण को मारा (कर्तृवाच्य)

रावण राम के द्वारा मारा गया। (कर्मवाच्य)

यह रूपांतरण है। राम ने रावण का मारा बीज वाक्य है। कर्म वाच्य के अतिरिक्त अन्य रूप भी प्रजनित होते हैं—

क्या राम ने रावण को मारा।

राम ने रावण को नहीं मारा।

राम ने रावण को क्यों मारा।

ये प्रजनित वाक्य हैं। इसमें राम रावण मारा तीन ही तत्त्व हैं पर उन्हें अनेक रूपों में प्रजनित किया जा सकता है। इस प्रजनन में राम ने रावण को मारा ही मूल वाक्य है। इसे बीज वाक्य का गहन संरचना कहा जाता है। रूपांतरित होकर जो वाक्य आते हैं उन्हें बाह्य संरचना कहा जाता है।

NOTES

परिवर्तन भाषा की सहज प्रवृत्ति है। वाक्य – रचना भी उसका अपवाद नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि भाषा में सबसे कम परिवर्तन वाक्य रचना में ही होता है। इसीलिए हिंदी की वाक्य रचना, कुछ अपवादों को छोड़कर, वैसी ही है जैसी संस्कृत काल में थी। फिर भी कुछ परिवर्तन, लक्षित – अलक्षित रूप में होते ही रहते हैं। वाक्य परिवर्तन की कुछ मुख्य दिशाएँ निम्नलिखित हैं –

1. **अयोगात्मकता** – प्रत्येक भाषा योगात्मकता से अयोगात्मकता की ओर बढ़ती है। संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण शब्दों के रूप 'सुप्' विभक्तियाँ लगकर बनते थे। प्राकृतों तक आते – आते विभक्तियाँ लुप्त हो गयीं और परसर्गों का प्रचलन प्रारंभ हुआ। आज हिंदी में कर्ता और कर्म प्रायः अयोगात्मक हो गये हैं। कर्ता का परसर्ग 'ने' केवल भूतकाल में लगता है, वह भी केवल सकर्मक क्रियाओं में। 'राम जाता है', 'राम गया', 'राम जायेगा' में कहीं परसर्ग नहीं। केवल सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल के कर्ता में 'ने' लगता है। 'राम ने पत्र लिखा।' 'को' परसर्ग भी केवल कुछ 'प्राणवान्' संज्ञाओं में लगता है, जैसे 'बच्चे को ले आओ', 'कुत्ते को बाँध दो'। प्राणहीन कर्म बिना 'को' के ही रहता है। वह अखबार पढ़ता है, उसने अखबार पढ़ा, वह अखबार पढ़ेगा। 'हाँ राम ने रावण को मारा' या 'अध्यापक बच्चों को पढ़ाते हैं' आदि में प्राणवान् कर्म में 'को' विद्यमान रहता है।

उधर विशेषण के रूप संस्कृत में विशेष्य का अनुसरण करते थे। जैसे – 'रामः कृष्णं सर्पम् अपश्यत्' या 'निर्धनाय ब्राह्मणाय धनं देहि'। किंतु हिंदी में आकारान्त पुल्लिङ्ग विशेषणों को (सपरसर्ग विशेष्यों के संयोग की स्थिति) छोड़कर (उदा. बड़े लड़के को) विशेषण सदैव अविकृत रहते हैं।

2. **पदक्रम में परिवर्तन** – कई बार विभिन्न कारणों से पदक्रम में भी परिवर्तन होता देखा जाता है। हिंदी में संबंधकारक के रूप संबंधित संज्ञा से पहले रहते हैं, जैसे मेरी पुस्तक, राम का घोड़ा। परंतु हाल के वर्षों में कहानियों, उपन्यासों, नाटकों और फिल्मों के शीर्षकों में यह क्रम, उलट गया है, जैसे – 'दुल्हन एक रात की', 'किस्सा एक लावारिश लाश का', 'कथा एक कंस की', 'हत्या एक आकार की' आदि।

'शबेगम', 'शामे गज़ल' जैसे उर्दू शैली के प्रयोग भी हिंदी की रचनाओं में असामान्य नहीं हैं।

3. **अनावश्यक विभक्ति या परसर्ग का प्रयोग** – कई बार हम अन्य भाषा के शब्दों का (वास्तव में पदों का) प्रयोग करते समय अनावश्यक विभक्ति या परसर्ग लगा बैठते हैं। उर्दू के 'दरअसल' की जगह 'दरअसल में' 'दौरान' की जगह 'दौरान में' या 'दरम्यान' की जगह 'दरम्यान में' जैसी प्रयोग अनेक बार सुनने को मिलते हैं। 'कृपया करके' या 'आपका भवदीय' भी इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

4. **उपवाक्य** – विन्यास – हिंदी के मिश्रित वाक्यों में उपवाक्यों को तोड़कर लिखने का प्रचलन भी हाल के वर्षों में बहुत बढ़ा है। जैसे – 'उसके पिता जी' जो कहीं विदेश में रहते हैं, आजकल यहाँ आये हुए हैं, 'आर्य लोग', 'जैसा कि मैंने कहा, कई टुकड़ियों में भारत आये।' मजदूर लोग, जहाँ जगह मिली, झोपड़ी बनाकर बैठ गये। ये वाक्य हिंदी की प्रकृति के अनुरूप नहीं हैं और अंग्रेजी की वाक्य – रचना से प्रभावित हैं।

वाक्य परिवर्तन के कारण

ऊपर वाक्य – रचना के परिवर्तन के जिन पहलुओं की चर्चा हुई है, वे किंही विशेष कारणों से होते हैं। उन्हें 'वाक्य परिवर्तन के कारण' कहते हैं। कुछ उल्लेखनीय कारण निम्नलिखित हैं।

1. **अज्ञान**— अज्ञान भाषिक परिवर्तनों का सबसे प्रबल कारण है। इसके चलते व्यक्ति अपूर्ण अनुकरण करता है और भाषा में परिवर्तन घटित होता है। 'कृपया करके अवश्य पधारें।' 'वह केवल पचास रूपये मात्र लेकर चला था' आदि वाक्यों में 'कृपया करके' तथा 'केवल' और 'मात्र' का दोहरा प्रयोग अज्ञान का ही परिणाम है।
2. **अन्य भाषा का प्रभाव** — जब दो भाषाएँ एक — दूसरे के संपर्क में आती हैं तो एक की वाक्य — रचना का प्रभाव दूसरी पर अवश्य पड़ता है। हिंदी में 'उसने कहा है कि उसकी तबीयत ठीक नहीं है' जैसे वाक्य अब काफी चल पड़े हैं। यह अंग्रेजी का प्रभाव है। हिंदी की प्रकृति के अनुसार 'उसने कहा है कि मेरी तबियत ठीक नहीं है।' वाक्य सही है।
3. **प्रयत्न लाघव** — सरलता का मोह भी वाक्य — रचना को प्रभावित करता है। हिंदी के वाक्यों में मेरे को, मेरे से, तेरे को, तेरे से जैसे सर्वनाम सरलता के आग्रह से ही चल पड़े हैं। कुछ वर्षों में ये रूप मुझ, मुझे, तुझ, तुझे जैसे रूपों को बाहर कर देंगे।
4. **स्पष्टता या आग्रह** — वाक्य में पदक्रम के व्याकरणिक महत्व का एक कारण स्पष्टता का आग्रह भी है। हिंदी में विभक्तियाँ घिस गयीं तो परसर्ग आ गये और कालान्तर में पदक्रम को व्याकरणिक महत्व प्राप्त हो गया। यह हिंदी की अयोगात्मकता की ओर बढ़ने की स्थिति है। हिंदी अंग्रेजी और कई योरोपीय भाषाएँ अब स्थान प्रधान (पदक्रम प्रधान) होती जा रही है।
5. **व्यापकता** — जब कोई भाषा एक सीमित क्षेत्र को छोड़कर व्यापकतर क्षेत्र में फैल जाती है तो उसकी वाक्यरचना पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। रचना शिथिल हो जाती है। हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है वह भारत के कोने —कोने तक जा पहुँची है। इस व्यापकता ने उसके स्वरूप को बहुत प्रभावित किया है। अतएव मुंबई और कलकत्ते की हिंदी वाक्य — रचना की दृष्टि से काफी शिथिल है। मुंबईया हिंदी में मेरे को (मुझे), तेरे को (तुझे), काय कू (किसलिए) माँगताय (चाहिए) जैसे प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, तो कलकत्ते में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की गड़बड़ी व्यापक रूप से मिलती है — 'हमारा नर्स बोलता है' जैसे वाक्य वहाँ काफी सामान्य हैं।

सार—संक्षेप

किसी भाषा के व्याकरण के संदर्भ रूप, शब्द, रूपिम आदि का अध्ययन एवं विवेचन अत्यंत आवश्यक होता है। इन्हीं भाषिक तत्वों का समाहन वाक्य में होता है। अतएव व्याकरण की द्वितीय इकाई में वाक्य का विवेचन किया गया है। जहाँ तक वाक्य की अवधारणा का प्रश्न है — आधुनिक भाषाविज्ञान वाक्य को भाषा की पूर्ण इकाई मानता है। क्योंकि हमारा सोचना समझना, बात करना — सब वाक्यों के माध्यम से होता है। पूर्ण अर्थ की प्रतीति भी वाक्य से ही होती है।

साहित्य दर्पण के लेखक आचार्य विश्वनाथ ने — "योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति (निकटता) से युक्त पद — समूह को वाक्य बतलाया है।"

वाक्य और पद के संबंध में स्पष्ट करने के लिए भारतीय भाषा दार्शनिकों ने दो सिद्धांत —

1. अभिहितान्वयवाद (पदवाद)
2. अन्वितताभिधानवाद (वाक्यवाद) दिए।

प्रथमवाद के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट हैं। जिनके अनुसार वाक्य की सत्ता गौण है जबकि पद की सत्ता प्रमुख होती है। उसके विपरीत उनके शिष्य प्रभाकर गुरु ने यह स्थापित किया कि भाषा में वाक्य ही प्रयुक्त होता है, पद नहीं। अतः वाक्य ही प्रमुख है, पद गौण होता है। पाश्चात्य भाषाविदों ने भी भाषा में वाक्य को ही प्रधानता दी है।

वाक्य को परिभाषित करते हुए ए.एच.गार्डिनर ने कहा है कि — "अभीष्ट अर्थ को प्रकाशित करने वाले एक शब्द (पद) या अनेक पदों के व्यवस्थित क्रम को वाक्य कहते हैं।"

स्व-प्रगति की जाँच करें—

4. वाक्य के तत्वों का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।
5. मिश्रित वाक्य किसे कहते हैं ? उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।
6. वाक्य-परिवर्तन के कारणों का वर्णन कीजिए।

1. भाषा की आकृति
2. व्याकरणिक रचना
3. क्रियार्थ
4. अध्याहार और
5. शैली

यदि हम वाक्य का विश्लेषण करें तो हमें तीन स्थितियाँ प्राप्त होती हैं –

1. उद्देश्य विधेय विश्लेषण
2. निकटस्थ अवयव विश्लेषण तथा
3. गहन एवं वाह्य संरचना जनित विश्लेषण

इसी तारतम्य में वाक्य परिवर्तन तथा उसके कारण आदि का भी विवेचन भी वाक्य – अध्ययन के संदर्भ में महत्वपूर्ण है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. पद – विज्ञान और वाक्य विज्ञान में अंतर यह है कि पद-विज्ञान में पदों की रचना का विवेचन होता है। अतः उसमें पदविभाजन (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि), कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि के बोधक शब्द किस प्रकार बनते हैं, इस पर विचार किया जाता है। वाक्य – विज्ञान उससे अगली कोटि है। इसमें पूर्वोक्त विधि से बने हुए पदों का कहाँ, किस प्रकार प्रयोग होता है, पदों को किस प्रकार रखना या सजाना चाहिए, उनको विभिन्न प्रकार से रखने से अर्थ में क्या अंतर होता है, आदि विषयों का विवेचन है।
2. प्राचीन वैयाकरण पतंजलि और यूनानी दार्शनिक डायोनिशस थ्रैक्स – ने वाक्य की परिभाषा इन शब्दों में की है – ‘पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द – समूह को वाक्य कहते हैं।’ पतंजलि का समय ई0पू0 द्वितीय शताब्दी तथा थ्रैक्स का समय उससे लगभग 100 साल बाद का माना जाता है। आश्चर्य है कि भिन्न – भिन्न देशों के इन विचारकों के मतों में इतनी अद्भुत समानता है। जब हम इस परिभाषा की शब्दावली पर गौर करते हैं तो इसके पीछे भी वाक्यवाद की मान्यताएँ झाँकती प्रतीत होती हैं। ये दार्शनिक अर्थ की प्रतीति कराने वाली इकाई ‘शब्द समूह’ को मानते हैं। स्पष्ट है, अर्थ की प्रतीति शब्द से नहीं, ‘शब्द समूह’ से होती है, वाक्य से होती है।

वाक्य की सबसे चर्चित परिभाषा ‘साहित्य दर्पण’ के लेखक कविराज विश्वनाथ की हैं – ‘वाक्यं स्याद्योग्यता ऽऽ कांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः’ अर्थात् ‘योग्यता आकांक्षा और निकटता से युक्त पद समूह ही ‘वाक्य’ कहलाता है।’ इस परिभाषा के अनुसार वाक्यत्व की तीन अनिवार्य शर्तें हैं – आकांक्षा, योग्यता और आसाक्ति। आकांक्षा का अर्थ है शब्दों की परस्पर पूरकता। जैसे – ‘राम पुस्तक पढ़ता है।’ इस वाक्य में तीन पद हैं – ‘राम’, ‘पुस्तक’ और ‘पढ़ता है।’ तीनों व्याकरणिक दृष्टि से एक – दूसरे की आकांक्षा रखते हैं। ‘राम’ कर्ता है, उसे क्रिया की आकांक्षा है। ‘पढ़ता है’ क्रिया है, जिसे एक कर्म की आकांक्षा है। अतः ये पद मिलकर एक वाक्य की रचना करते हैं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति ‘पुस्तक’, ‘नदी’, ‘रसोई’, ‘कागज’ शब्दों का उच्चारण करे तो वह वाक्य नहीं कहलायेगा। क्योंकि इन शब्दों में से किसी को किसी की आकांक्षा नहीं। ये एक शब्दसूची मात्र प्रतीत होते हैं।

3. अभिहितान्वयवाद को पदवाद भी कहा जाता है, क्योंकि भाषा में इस सिद्धांत के अनुसार पद की सत्ता प्रमुख है, वाक्य की सत्ता गौण है। इस सिद्धांत का प्रवर्तन कुमारिल भट्ट ने किया था। अभिहितान्वयवाद सिद्धांत के अनुसार पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। पदों को अन्वित कर वाक्य- गठन किया जाता है। यदि पद न हों तो वाक्यसंरचना अकल्पनीय है।

अभिहितान्वयवाद की महत्ता कभी रही होगी। आज यह ग्राह्य नहीं है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदान्वय से वाक्य की संरचना होती है, अर्थात् एक वाक्य में अनेक पदों का होना

अनिवार्य है। लेकिन वाक्य तो एक 'पद' का भी होता है। 'जाओ', आओ, भागो, ठहरो एकपदीय वाक्य हैं और स्पष्ट है कि इसमें पदान्वय नहीं है। वाक्य की कल्पना के अभाव में पद का अस्तित्व ही नहीं होता, क्योंकि कोई शब्द तभी पद हो सकते हैं जब वाक्य में प्रयुक्त होने की योग्यता रखते हों। वियोगात्मक भाषा जैसे हिंदी में शब्द वाक्य में प्रयुक्त होने के बाद ही 'पद' बनते हैं। सारांशतः अभिहितान्वयवाद आधुनिक भाषाविज्ञानियों को ग्राह्य नहीं है। आधुनिक भाषाविज्ञान वाक्य की सत्ता को प्रमुख मानता है। वाक्य ही भाषा की पूर्ण सार्थक इकाई है। बोलते समय पद नहीं, वाक्य प्रयुक्त होते हैं।

4. वाक्य के निम्नलिखित तत्व हैं –

- | | | |
|-------------|------------|-----------|
| 1. आकांक्षा | 2. योग्यता | 3. आसत्ति |
|-------------|------------|-----------|

1. **आकांक्षा** – वक्ता जिस अर्थ की प्रतीति कराना चाहता है, श्रोता उसे उसी अर्थ में ग्रहण करता है, यह अर्थ की दृष्टि से भाषिक पूर्णता है। कोई कहे बालक, पहाड़, नदी, जंगल,। इन शब्दों को श्रोता क्या समझेगा अर्थ की दृष्टि से ये अपूर्ण हैं। वक्ता क्या कहना चाहता है, अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। फलतः आकांक्षा होती है, इच्छा होती है कि वक्ता का प्रयोजन क्या है? जब वक्ता कहे बालक सुंदर है। पहाड़ ऊँचा है। नदी गहरी है। जंगल घना है। तब जिज्ञासा हो जाती है। वाक्य का यही मुख्य प्रयोजन है। जिज्ञासा की शांति, पूर्ण सम्प्रेषण आर्थिक पूर्णता से होती है। आकांक्षा श्रोता में होती है। अर्थ की अपूर्णता के कारण आकांक्षा स्वाभाविक पद से आकांक्षा की तृप्ति नहीं होती। आकांक्षा वाक्य के द्वारा ही शांत होती है। क्योंकि वाक्य से अर्थ का पूर्ण सम्प्रेषण होता है।

2. **योग्यता** – भाषा का प्रयोजन है अर्थ की प्रतीति, भाव की अभिव्यक्ति। अर्थ प्रतीति में बाधा व्याकरणिक कोटियों को ध्यान में नहीं रखने के कारण प्रायः हुआ करती है। इसे पदान्वय संबंधी बाधा कहते हैं। इसे व्याकरणिक बाधा भी कहते हैं। जैसे, लड़की पढ़ते थे। लड़का जाती थी। मैंने करता है। हमने जाता है। व्याकरण की दृष्टि से ये अशुद्ध वाक्य हैं। अर्थात् इनमें अर्थ देने की योग्यता नहीं है। वाक्य में अर्थ देने की योग्यता भी आती है, जब व्याकरणिक नियमों का पालन किया जाय। व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध वाक्य की योग्य वाक्य होते हैं।

अर्थ की प्रतीति में बाधा स्वीकृत शब्दार्थ के विपरीत प्रयोग से भी होती है। इसे प्रतीति बाधा कह सकते हैं। जैसे, आग से बगीचा सींचा जाता है। सींचने का काम पानी का है। पानी में ही अर्थ देने की योग्यता है। अर्थात् आग से सींचना अर्थ प्रतीति में बाधा है। यह वाक्य योग्यताहीन है। वाक्य की योग्यता का अर्थ है अनुकूल अर्थ वाले पदों के अन्वय से अर्थ की प्रतीति।

3. **आसत्ति** – आसत्ति कहत हैं समीपता को। वाक्य में प्रयुक्त होने वाले पदों को एक दूसरे के समीप रहना चाहिए। शब्दों (पदों) की आसन्ता देश – काल की दृष्टि से देखा जाता है। 'लड़का खेलता है।' यह शुद्ध और संगत वाक्य है। लेकिन आज कहें लड़का और कल कहें खेलता है, तब अर्थ की प्रतीति संभव नहीं हैं। वाक्य में पदों में आसत्ति अर्थात् निकटता होनी चाहिए। दूसरा उदाहरण – फूल लड़का उगता है। सूर्य खेलता है। व्याकरण की दृष्टि से वाक्य असंगत नहीं है, लेकिन इनसे अर्थ प्रतीति असंभव है। इन्हें आसत्ति में होना चाहिए। फूल खिलता है। लड़का खेलता है। सूर्य उगता है। वाक्य में क्रम का महत्व बहुत है। क्रम का निर्वाह नहीं होने के कारण आसत्ति दोष होता है। क्रम का तात्पर्य व्याकरणिक क्रम नहीं है। शब्दों के अर्थ का मानसिक क्रम व्याकरण से नियंत्रित है। भाषा तो मानसिक क्रिया है। सूर्य खेलता है से अर्थ की प्राप्ति इसलिए संभव नहीं है कि मानस इसे स्वीकार नहीं करता है।

5. **मिश्रित वाक्य** – जिस वाक्य में मुख्य उपवाक्य के अतिरिक्त कम से कम एक आश्रित उपवाक्य हो, उसे 'मिश्रित वाक्य' कहते हैं, जैसे

NOTES

1. उसने देखा कि सारा घर अस्त व्यस्त पड़ा है।
2. जैसे ही गाड़ी रुकी, चाचाजी दिखायी पड़े।
3. जब – जब धर्म की हानि होती है, भगवान अवतार लेते हैं।
4. जहाँ ये इमारतें खड़ी हैं, वहाँ पहले घना जंगल था।
6. वाक्य परिवर्तन के कारण

ऊपर वाक्य – रचना के परिवर्तन के जिन पहलुओं की चर्चा हुई है, वे किंही विशेष कारणों से होते हैं। उन्हें 'वाक्य परिवर्तन के कारण' कहते हैं। कुछ उल्लेखनीय कारण निम्नलिखित हैं।

1. **अज्ञान**— अज्ञान भाषिक परिवर्तनों का सबसे प्रबल कारण है। इसके चलते व्यक्ति अपूर्ण अनुकरण करता है और भाषा में परिवर्तन घटित होता है। 'कृपया करके अवश्य पधारें।' 'वह केवल पचास रुपये मात्र लेकर चला था' आदि वाक्यों में 'कृपया करके' तथा 'केवल' और 'मात्र' का दोहरा प्रयोग अज्ञान का ही परिणाम है।
2. **अन्य भाषा का प्रभाव** – जब दो भाषाएँ एक – दूसरे के संपर्क में आती हैं तो एक की वाक्य – रचना का प्रभाव दूसरी पर अवश्य पड़ता है। हिंदी में 'उसने कहा है कि उसकी तबियत ठीक नहीं है' जैसे वाक्य अब काफी चल पड़े हैं। यह अंग्रेजी का प्रभाव है। हिंदी की प्रकृति के अनुसार 'उसने कहा है कि मेरी तबियत ठीक नहीं है।' वाक्य सही है।
3. **प्रयत्न लाघव** – सरलता का मोह भी वाक्य – रचना को प्रभावित करता है। हिंदी के वाक्यों में मेरे को, मेरे से, तेरे को, तेरे से जैसे सर्वनाम सरलता के आग्रह से ही चल पड़े हैं। कुछ वर्षों में ये रूप मुझ, मुझे, तुझ, तुझे जैसे रूपों को बाहर कर देंगे।
4. **स्पष्टता या आग्रह** – वाक्य में पदक्रम के व्याकरणिक महत्व का एक कारण स्पष्टता का आग्रह भी है। हिंदी में विभक्तियाँ घिस गयीं तो परसर्ग आ गये और कालान्तर में पदक्रम को व्याकरणिक महत्व प्राप्त हो गया। यह हिंदी की अयोगात्मकता की ओर बढ़ने की स्थिति है। हिंदी अंग्रेजी और कई योरोपीय भाषाएँ अब स्थान प्रधान (पदक्रम प्रधान) होती जा रही है।
5. **व्यापकता** – जब कोई भाषा एक सीमित क्षेत्र को छोड़कर व्यापकतर क्षेत्र में फैल जाती है तो उसकी वाक्यरचना पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। रचना शिथिल हो जाती है। हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है वह भारत के कोने –कोने तक जा पहुँची है। इस व्यापकता ने उसके स्वरूप को बहुत प्रभावित किया है। अतएव मुंबई और कलकत्ते की हिंदी वाक्य – रचना की दृष्टि से काफी शिथिल है। मुंबईया हिंदी में मेरे को (मुझे), तेरे को (तुझे), काय कू (किसलिए) माँगताय (चाहिए) जैसे प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, तो कलकत्ते में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की गड़बड़ी व्यापक रूप से मिलती है – 'हमारा नर्स बोलता है' जैसे वाक्य वहाँ काफी सामान्य हैं।

अभ्यास—प्रश्न

1. वाक्य की अवधारणा पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
2. अभिहितान्वयवाद और अन्वितायिधानवाद में अंतर को स्पष्ट कीजिए।
3. वाक्य के भेदों पर प्रकाश डालिए।
4. निकटस्थ अवयव की विवेचना कीजिए।
5. गहन संरना एवं बाह्य संरचना की विवेचना कीजिए।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएं
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप—

1. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के भाषिक वैशिष्ट्य से परिचित हो सकेंगे।
2. मध्यकालीन एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को समझ सकेंगे।
3. हिंदी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से पूर्णतः परिचित होकर उसकी भाषिक प्रकृति के प्रति समझ विकसित कर सकेंगे।

परिचय

साहित्य आद्यंत एक भाषिक संरचना है; साहित्य के गंभीर के गंभीर अध्ययन तथा वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए भाषिक विधान का सुस्पष्ट ज्ञान आवश्यक है; हिन्दी एक विराट भाषा है। भाषा वैज्ञानिक आधार पर हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकासक्रम का ज्ञान उसके अध्येताओं के लिए अत्यंत उपयोगी है। हिंदी हिंद की भाषा है। ऐसी स्थिति में हिंद अथवा भारतवर्ष के समुचित ज्ञान के लिए भी हिन्दी भाषा के स्वरूप – वैशिष्ट्य का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है; बाच्चार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत से सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति, वस्तु तथा हिंद भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्रविड़ तथा अन्य कुल की भारतीय भाषाओं के लिए हो सकता है; किन्तु इस प्राचीन व्यापक, अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अब प्रचलित नहीं है; वर्तमान भारतीय साहित्य में यह शब्द भारतीय संघ की राजभाषा (संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी— भारतीय संविधान धारा 343:1) राष्ट्रभाषा के नाम का द्योतक है। हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि अतिशय व्यापक एवं सुदीर्घ है; इसके सम्यक अध्ययन के लिए सर्वप्रथम प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं वैदिक तथा लौकिक संस्कृत की विशेषताओं से अवगत होगा होगा। तदुपरांत मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के भाषिक-वैशिष्ट्य का विश्लेषण अपेक्षित है; इसी क्रम में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का परिचय देते हुए उनको वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाएगा। इस अध्याय में कथित भाषाओं के भाषा वैज्ञानिक विवेचन की सापेक्षता में हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निरूपण किया गया है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ

भारतीय आर्यभाषा समूह का प्राचीन रूप ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद का समय अत्यंत प्राचीन एवं अनिश्चित माना जाता है। उसके मंत्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी रचना न एक समय में हुई है न एक स्थान में। वह कई भेद से माना जा सकता है। यह भाषा-भेद देश और काल के भेद के कारण है। ऋग्वेद के दस मंडलों में प्रथम और दशम मंडल बाद की रचना हुई है, वह बोलचाल की भाषा न होकर उस समय की परिनिष्ठित, साहित्यिक भाषा थी। उसके समानान्तर लोकभाषा भी रही होगी किन्तु लिखित साहित्य के अभाव में उसे जानने का आज कोई साधन नहीं है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के नाम से जानी जाती है। यहाँ दोनों का क्रमशः भाषा- वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत हैं।

(1) वैदिक संस्कृत एवं उसकी विशेषताएँ – हिंदी का इतिहास वस्तुतः वैदिक काल से आरम्भ होता है जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद हैं; संस्कृत की लौकिक भिन्न शाखा का यह नाम है; इसके द्वारा वैदिक संहिताओं (ऋग्वेद, यजु, साम, और अथर्व) की भाषा बोध होता है; भारतीय परम्परा के अनुसार ये संहिताएँ अपौरुषेय हैं और प्रायः छन्दों में निर्मित हैं; इसलिए इस भाषा को छान्दस्य अथवा वैदिक कहते हैं। लौकिक भाषा में छन्द का प्रयोग भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ रामायण में किया। इसलिए इस ग्रन्थ को आदिकाव्य की संज्ञा दी गयी है। वैदिक भाषा के तीन स्पष्ट

उपरूप मिलते हैं। कुछ रूप और प्रक्रियाएँ केवल वैदिक भाषा में ही मिलती हैं। वैदिक छन्दों की कल्पना वैदिक देववाद के अनुरूप हुई है। छन्दों के विशेष महत्त्व के कारण छन्दासि शब्द ही वेदों का बोधक हो गया। ऋक , यजुः और साम के समान विश्व में छन्दों की उत्पत्ति स्वायत्त रूप में मानी गयी है—“————यज्ञात् सर्वहुत ऋजूः सामानि जशिर। छन्दासि जशिरे तस्माद्यजुस्तरस्मादजात” (ऋग्वेद 10:9:9)। गायत्री, उष्णिक् , अनुष्टुम् (अनुष्टुप), बृहती, पंक्ति , त्रिष्टुम् (त्रिष्टुप) और जगती, ये सात वैदिक छन्दों के प्रमुख भेद हैं, जिनके आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी सरम्नौ, आची और ब्राह्मी नामक आठ प्रकार तथा पादान्तर से अनेकानेक प्रभेद—उपभेद होते हैं। वर्णसंख्या के न्यूनाधिक होने पर निवृत्त, विराट, भूरिक और स्वराट, ये चार अतिरिक्त उपभेद भी किये गये हैं; विशेष विवरण के लिए ‘छन्दप्रभार’ (पृ० 292—94) दृष्टव्य है।

गायत्री, त्रिष्टुम् और जगती, इन तीनों छन्दों का स्थान वेदों में सर्वप्रमुख माना गया है। उत्तरवैदिक युग में अनुष्टुम् ने पर्याप्त प्रधानता प्राप्त कर ली थी। पवित्रता और महत्त्व की दृष्टि से सम्पूर्ण वैदिक देवताओं की तरह उपास्य, वन्दनीय तथा अलौकिक शक्तिसम्पन्न भी माने गये हैं। छन्दासि वैदेविका: ‘ अथवा ‘ छन्दासि देव्यः’ जैसी अनेक उक्तियाँ वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती हैं। सोमपान के प्रसंग में गायत्री को अग्नि के लिए, त्रिष्टुम् को इन्द्र के लिए और जगती को शेष सभी देवताओं के लिए सम्बोधित किया गया है। छन्दों के देवता ही नहीं, गोत्र, वर्ण और स्वर का भी विधान मिलता है, उदाहरणार्थ, गायत्री के देवताओं का नाम अग्नि, वंश अग्नि, वर्ण सित और स्वर षड्ज है। एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि प्रजापति स्वयं छन्द—रूप हो गये। यथा— ‘प्रजापतिरेव छन्दो भवत्। विष्णुपुराण के प्रथम अंश में छठे अध्याय के अन्तर्गत इसका स्पष्टीकरण मिलता है। उसमें लिखा है कि ब्रह्मा के पूर्वमुख से गायत्री, दक्षिण मुख से त्रैष्टुम् , पश्चिम मुख से जगती और उत्तरमुख से अनुष्टुम् छन्द की सृष्टि हुई (श्लोक संख्या 44—40)। पृथ्वी अन्तरिक्ष आदि लोकों, ग्रीष्म वसन्त आदि ऋतुओं तथा यज्ञ भाग और यजन—कर्म से भी छन्दों का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है; छन्दों की भावनाओं में कल्पना वैभव का विचित्र योग मिलता है। कभी गोवत्स रूप में, कभी माता के रूप में, कभी इसी प्रकार के अन्यान्य सजीव रूपों में छन्दों को परिकल्पित किया गया है।

वैदिक छन्दों के रूपविधान में तत्कालीन वातावरण की स्वच्छन्दता और अविजाड़ित धारणाशक्ति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है। वैदिक युग की सामाजिक तथा अध्यात्मिक चेतना के वे समर्थवाहक हैं और उसी से अनुप्राणित होकर उनका विकास हुआ है। परिणामस्वरूप वैदिक छन्द परवर्ती संस्कृत साहित्यिक छन्दों की तुलना में अधिक स्वच्छन्द और अधिक मुक्त प्रतीत होते हैं। उनमें न वर्णों के गुरु—लघु क्रम का निश्चित नियोजन मिलता है और न चरणों या पादों की संख्या ही व्यवस्थित है। केवल वर्णों की संख्या निर्धारित रहती है। इस प्रकार एक छन्द में अनेक पाद और पादों में भिन्न वर्ण संख्या निर्धारित रहती है। इस प्रकार एक छन्द में अनेक पाद और पादों में भिन्न वर्णसंख्या वैदिक छन्दों में बराबर मिलती है। उनके बहुत से उपेक्षा का आधार यह वैविध्य ही है। छन्दों के मिश्रण से भी अनेक छन्दों की सृष्टि हुई है। स्वराघात के साथ गेयता वैदिक छन्दों की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। सामवेद छन्दों बद्ध वैदिक मन्त्रों के गान के लिए सुविख्यात है।

वैदिक भाषा और साहित्य की परंपरा 2000ई० पू० से भी पहले प्रारंभ होकर लगभग 500ई. पू. तक चलती रही है। इसको तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।—

1. गयी संहिता साहित्य तथा ब्राह्मण ग्रंथ।
2. अथर्व संहिता तथा गुह्य—धर्म सूत्रों का साहित्य।
3. इतिहास पुराण साहित्य।

वैदिक साहित्य में इस भाषा का विकास होता दिखाई पड़ता है, फिर भी कुछ ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक बातें ऐसी हैं जिनको वैदिक की सामान्य विशेषताएँ माना जा सकता है।

मूल स्वर— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ,

संयुक्त स्वर— ए, ऐ, ओ, औ,

व्यंजन— क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स, श, ष, ह, ळ, ल्ह।

विसर्ग—जिह्वा—मूलीय तथा उपभानीय ह के उपस्वनिम थे। अ, ब, य, आदि कई अन्य के भी कई उपस्वनिम थे ळ, ल्ह मूर्धन्य पार्श्विक प्रतिवेष्टित थे। स्वराघात— मूल भारोपीय भाषा में स्वराघात बहुत महत्त्वपूर्ण था। आरम्भ में वह बलात्मक था जिसके कारण मात्रिक अपश्रुति विकसित हुई, किन्तु बाद में वह संगीतात्मक था जिसके कारण मात्रिक अपश्रुति विकसित हुई, किन्तु बाद में वह संगीतात्मक हो गया जिसने गुणिक अपश्रुति को जन्म दिया। इस भाषा परिवार के विघटन के समय स्वराघात केवल उदात्त तथा स्वरित था; भारत—ईरानी स्थिति में अनुदात्त भी विकसित हो गया। इस प्रकार वैदिक संस्कृत को परम्परागत रूप से अनुदान्त, उदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार के स्वराघात (संगीतात्मक) प्राप्त हुए थे। स्वराघात का इतना अधिक महत्त्व था कि सभी संहिताओं को कुछ ब्राह्मणों एवं आरण्यकों तथा बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की पाण्डुलिपि को पढ़ना अशुद्ध माना जाता है। स्वराघात के कारण शब्द का अर्थ भी बदल जाता था। इन्द्रशत्रु वाला प्रसिद्ध उदाहरण सर्वविदित है: इन्द्र:शत्रु: = जिसका शत्रु इन्द्र है (बहु ब्रीहि), इन्द्र शत्रु = इन्द्र का शत्रु (तत्पुरुष)। शब्द आदि के अर्थ जानने में स्वराघात का कितना महत्त्व था, यह वे कट माधव के 'अंधकारे दीपिका भिर्गच्छन्न स्वलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीताना भवन्त्यर्थाः स्फुटा इव' (अर्थात् जैसे अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, इसी प्रकार स्वरों (स्वराघात) की सहायता से किए गये अर्थ स्फुट, अर्थात् संदेहशून्य होते हैं। कथन से स्पष्ट है। स्वराघात में परिवर्तन से कभी—कभी लिंग में भी परिवर्तन हो जाता था। टर्नर के अनुसार, वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों ही स्वराघात था।

रूप—रचना

वैदिक भाषा में लिंग तीन थे :- पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। वचन भी तीन थे : एक वचन द्विवचन, बहुवचन। कारक विभक्तियाँ आठ थी: कर्त्ता, सम्बोधन, कर्म, करण, सम्प्रदान, आपादान, सम्बन्ध, अधिाकरण। विशेषणों के रूप भी संज्ञा की तरह ही चलते थे। मूल भारोपीय में सर्वनाम के मूल या प्रातिपदिक बहुत अधिक थे। विभिन्न बोलियों में कदाचित् विभिन्न मूलों के रूप चलते थे। पहले सभी मूलों से सभी रूप बनते थे, किन्तु बाद में मिश्रण हुआ और अनेक मूलों के अनेक रूप लुप्त हो गए। परिणाम यह हुआ कि मूलतः विभिन्न मूलों से बने रूप एक ही मूल के रूप में माने जाने लगे। वैदिक भाषा में उत्तम पुरुष में ही यद्यपि प्राचीन पंडितों ने 'अस्तद' को सभी रूपों का मूल माना है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो अह—(अहम्), म—(माम, मया, मम, मयि), आव—(आवम्, आवाम्, वाम, आवयोः), वयं—(वयं), अस्म—(अस्माभिः, अस्मभ्यम् अस्मे आदि), इन पाँच मूलों पर आधारित रूप है। मध्यम आदि अन्य सर्वनामों में भी एकाधिक मूल है। मध्यम आदि अन्य सर्वनामों में भी एकाधिक मूल है। वैदिक भाषा में धातुओं के रूप में आत्मनो तथा परस्मै, दो पदों में चलते थे। कुछ धातुएँ आत्मनेपदी, कुछ उभयपदी थी। आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग केवल अपने लिए होता था तथा परस्मै का दूसरों के लिए। क्रियारूप तीनों वचनों (एक, द्वि, बहु)। एवं तीनों पुरुषों— उत्तम, मध्यम, अन्य में होते थे। काल तथा क्रियार्थ मिलाकर क्रिया के कुल 11 प्रकार के रूपों का प्रयोग मिलता है: लट्, लङ्, लिट्, लुङ्, निश्चयार्थ, सम्भावनार्थ (लेट्) विध्यर्थ, आदरार्थ, आज्ञार्थ, तथा आज्ञार्थ (लोट्)। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में लेट् का प्रयोग बहुत मिलता है, किन्तु धीरे—धीरे इसका प्रयोग कम होता गया और अन्त में लौकिक संस्कृत में पूर्णतः समाप्त हो गया। वैदिक में भविष्य के रूप बहुत कम है। उसके स्थान पर प्रायः सम्भावनार्थ या निश्चयार्थ का प्रयोग मिलता है।

समास

समास—रचना की प्रवृत्ति मूल भारोपीय एवं भारत—ईरानी में थी। वही से यह परम्परा वैदिक संस्कृत में आई। वैदिक समस्त पद प्रायः दो शब्दों के ही मिलते हैं। इससे अधिक शब्दों के समास अत्यंत विरल है। जहाँ तक समास के रूपों का प्रश्न है, वैदिक में केवल तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि एवं द्वन्द्व समास ये चार ही समास मिलते हैं। लौकिक संस्कृत के शेष दो समास बाद में विकसित हुए हैं।

शब्द

वैदिक भाषा में शब्दों की दृष्टि से दो बातें उल्लेख्य हैं। एक तो यह कि अनेक तथाकथित तद्भव या मूल शब्द से विकसित शब्द प्रयुक्त होने लगे। वेद में 'इह' (यहाँ) इसी प्रकार का है। इसका मूल शब्द इध है। पालि 'इधो और अवेस्ता 'इद' इसी बात के प्रमाण हैं कि महाप्राण व्यंजन के स्थान पर 'ह' के विकास से 'इध' से ही 'इह' बना है। कट (मूल शब्द कृत), एकादश (मूल एकदश) भी इसी प्रकार के शब्द हैं। 'विशति' की मूलतः 'द्विशाति' रहा होगा, यद्यपि यह विकार भारत में आने के पहले ही आ चुका था। शब्दों की दृष्टि से दूसरी विशेषता यह है कि उस काल में ही भाषा में अनेक आर्येत्तर शब्दों का आगमन होने लगा था। उदाहरण के लिए, वैदिक भाषा में अणु, अरणि, कपि, काल, गण, नाना, पुष्कर, पुष्प, मयुर, अटवी, तंडुल, मर्कट आदि शब्द एक ओर यदि द्रविड़ से आए हैं, तो वार, कंबल, बाण, कोसल (स्थानवाची नाम), अंग (स्थानवाची नाम) आदि ऑस्ट्रिक भाषा से।

बोलियाँ

ब्राह्मण ग्रन्थों से इस बात का पता चलता है कि वैदिक काल में प्राचीन आर्यभाषा के कम से कम तीन रूप या तीन बोलियाँ—अवश्य थे। पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी। पहला अफगानिस्तान से लेकर पंजाब तक था, दूसरा पंजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक, तथा तीसरा उसके पूर्व। यदि र्-ल् ध्वनियों को ही आधार माने तो कह सकते हैं कि पश्चिमोत्तरी बोली र्-प्रधान थी, मध्यवर्ती में र्-ल् दोनों थे, और पूर्वी ल्-प्रधान थी। ऋग्वेद में पश्चिमोत्तरी बोली का ही प्रतिनिधित्व हुआ है। पश्चिमोत्तरी बोली में स्थानीय प्रभाव प्रायः बहुत कम पड़ा था, क्योंकि स्थानीय आर्येत्तर जातियाँ कुछ अपवादों को छोड़कर वहाँ से भागकर दक्षिण तथा पूरब चली गई थीं। इसी कारण पश्चिमोत्तरी बोली को आदर्श माना गया।

संस्कृत या लौकिक संस्कृत एवं उसकी विशेषताएं :-

वैदिक का स्वाभाविक विकास संस्कृत में हुआ जिसे लौकिक संस्कृत भी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्रकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में मिलता है। वैदिक काल में भाषा के तीन भौगोलिक रूपों— उत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी—का उल्लेख किया जा चुका है। लौकिक संस्कृत का मूल आधार इनमें उत्तरी बोली थी, क्योंकि वही प्रमाणिक मानी जाती थी। यों पाणिनि ने अन्व्यों के भी कुछ रूपों आदि लिये हैं और उन्हें वैकल्पिक कहा है। इस प्रकार मध्यदेशी तथा पूर्वी का भी संस्कृत पर कुछ प्रभाव है। लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत साहित्यिक भाषा है। अतः जिस प्रकार हिन्दी में जयशंकर प्रसाद की गद्य या पद्य—भाषा को बोलचाल की भाषा नहीं कह सकते, उसी प्रकार संस्कृत को भी बोलचाल की भाषा नहीं कह सकते। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि जिस प्रकार प्रसाद जी की भाषा का आधार मानक खड़ी बोली हिन्दी है जो बोलचाल की भाषा है। उसी प्रकार पाणिनीय संस्कृत भी तत्कालीन पण्डित—समाज की बोलचाल की भाषा पर ही आधारित है। पाणिनि द्वारा उसके लिए 'भाषा' (भाष्-बोलना) शब्द का प्रयोग, सूत्र 'प्रत्यभिवादेडशुद्रे' (दूर से बुलाने में 'प्लुत' के प्रयोग) का उनके द्वारा उल्लेख, बोलचाल के कारण विकसित संस्कृत को व्याकरण की परिधि में बाँधने के लिए काव्यायन द्वारा वार्ति को की रचना, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा अवश्य थी। अतः हार्नले, वेषर तथा ग्रियर्सन आदि पश्चिमी विद्वानों का यह कथन कि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी निराधार है।

ऊपर वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ उल्लिखित हैं। लौकिक संस्कृत उससे मूलतरु बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं। इसीलिए इसकी सभी विशेषताओं को विस्तार से अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं यहाँ केवल वैदिक और लौकिक संस्कृत में अन्तरों का ही उल्लेख किया जा रहा है:

NOTES

1. वैदिक भाषा का लौकिक की तरह मानकीकरण नहीं हुआ था इसी कारण लौकिक, जिस रूप में एक रूप एवं साहित्यिक है, वैदिक नहीं है।
2. वैदिक में जहाँ मानकीकरण एवं नियमन न होने से रूप की जटिलताएँ हैं अनेकरूपताओं एवं अपवादों का आधिक्य है, लौकिक में वे या तो हैं ही नहीं, या हैं भी तो वैदिक की तुलना में बहुत ही कम।
3. वैदिक में 'लृ', 'ऋ', ऋ के उच्चारण स्वरवत् होते थे। संस्कृत में आकार ये कदाचित 'लि', 'रि', 'री', जैसे उच्चरित होने लगी थी।
4. ऐ, औ, के उच्चारण वैदिक में आई, आउ थे, किन्तु लौकिक संस्कृत में ये 'अई', 'अउ' हो गए।
5. ए, ओ का उच्चारण वैदिक में 'अइ', 'अउ' था, अर्थात् ये संयुक्त स्वर थे, किन्तु संस्कृत में ये मूल स्वर हो गये।
6. लेखन में ळ, ळ्ह अक्षर समाप्त हो गये और इनके स्थान ड, ढ प्रयुक्त होने लगे।
7. कई ध्वनियों के उच्चारण-स्थान में अन्तर आ गया, उदाहरणार्थ प्रातिशाख्यों से पता चलता है कि वैदिक तवर्ग लृ, स दंत मूलीय थे, किन्तु संस्कृत में (लृतु लसानांदन्ताः) ये दंतय हो गये।
8. वैदिक में संगीतात्मक स्वराघात था, इसके विरुद्ध लौकिक संस्कृत में संगीतात्मक स्वराघात के स्थान पर कदाचित बलात्मक स्वराघात विकसित हो गया। आधुनिक भारतीय आर्य, भाषाओं के बलात्मक स्वराघात के बीज यही मिलने लगते हैं।
9. किया रूपों में कुछ प्रमुख अंतर ये हैं कि वैदिक में लकारों में विशेष प्रतिबन्ध नहीं है। लङ्, लिट् में परोक्षादि का भेद नहीं है। यहाँ तक कि कभी-कभी इनका कालेतर प्रयोग भी मिलता है। किन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है। वैदिक का लोट लौकिक में नहीं है, यद्यपि उसके उत्तम पुरुष के लिए तीन रूप लौकिक के लोट में आ गए हैं। वैदिक में लङ्, लुङ्, लृङ् में भूतकरण अ नहीं मिलता, यद्यपि लौकिक में यह आवश्यक है। ड वैदिक में लिट् वर्तमान के अर्थ में था, किन्तु लौकिक में यह परोक्ष भूत के लिए आता है।
10. समासों में सबसे बड़ा अन्तर तो यह आया कि वैदिक में बहुत बड़े-बड़े समास बनाने की प्रवृत्ति नहीं थी, क्योंकि उस भाषा में कृत्रिमता नहीं है, किन्तु संस्कृत में कृत्रिमता के विकास के कारण बड़े-बड़े समस्त पद भी बनने लगे ऐसे ही वैदिक में केवल चार समासों— तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्वन्द्व का ही प्रयोग प्रायः मिलता है, किन्तु लौकिक में द्विगु और अव्ययीभाव भी प्रयुक्त होते हैं।
11. मूल भारोपीय भाषा में उपसर्ग वाक्य में कही भी आ सकता था, क्रिया के साथ आना उसके लिए आवश्यक नहीं था। वैदिक में भी यह स्वच्छन्दता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। जैसे 'यच्चिद्धि ते विशो यथा प्रदेव वरुण व्रतम् मिनीमसि द्यविद्यवि'। यहाँ प्र उपसर्ग मिनीमसि से सम्बन्धित है। किन्तु इन दोनों के बीच तीन शब्द आए हैं। लौकिक संस्कृत में उपसर्ग की यह स्वच्छन्दता नहीं मिलती।
12. वैदिक में विजातीय शब्द आए थे— विशेषतः द्रविड़ एवं ऑस्ट्रिक से, किन्तु लौकिक संस्कृत में उनकी संख्या बहुत बढ़ गई (मेरे अनुसार 2 हजार के लगभग)।

द्रविड़ शब्द—संस्कृत में द्रविड़ से एक हजार से ऊपर शब्द आए हैं। कुछ उदाहरण ये हैं कीट(तोता), कुक्कुट(मुर्ग), कुक्कुर(कुत्ता), घृण (घुन), नक्र (घड़ियाल), मर्कट (बन्दर), मीन (मछली), अर्क(मन्दार), कानन(जंगल)। ऑस्ट्रिक शब्द संस्कृत में ऑस्ट्रिक के भी सौ से ऊपर शब्द हैं। कुछ उदाहरण हैं: ताम्बूल, श्रृंगार, आकुल, आपीड(मुकुट), कबरी (बाल), कुविन्द (जुलाहा), तथा रिविकिट (लोमड़ी) आदि। यूनानी शब्द यवन, यवनिका, द्रम्म(दाम), होड़ा (होड़ा) त्रिकोण सुरंग क्रमेल (ऊँट), कंगु—एक अनाज, कस्तीर राँगा आदि।

रोमन शब्द—दीनार। अरबी शब्द रमल, इक्कवाल (ज्योतिष में सौभाग्य), इत्थशाल (ज्योतिष में तीसरा योग),वोल्लाह(विशेष रंग का घोड़ा)। ईरानी शब्द— हिन्दु, बारबाण, ताजिक(ईरानी व्यक्ति), मिहिर (सूर्य) बादाम (भेदा विशेष) बालिश (तकिया), खोल (खर्बूज) तथा नि:शाण(जलुस), आदि। तुर्की शब्द— तरुष्क, खच्चर। चीनी शब्द— संस्कृत में कुछ शब्द चीनी से भी आए हैं, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं हैं: चीन (चीनांशुक, चीनचोलक) तथा मसार (एक रत्न)।

बोलियाँ—वैदिक भाषा के प्रसंग में पश्चिमोत्तरी(या पश्चिमी या उत्तरी), मध्यदेशी(या मध्यवर्ती) तथा पूर्वी, इन तीनों बोलियों का उल्लेख किया जा चुका है। मेरा अनुमान है कि संस्कृत—काल में आर्यभाषा—भाषी प्रदेश में कदाचित् एक दक्षिणी रूप में भी जन्म ले चुका था।

लौकिक संस्कृत में ही विश्व का श्रेष्ठतम आध्यात्मिक साहित्य लिखा गया है। इसी भाषा में रामायण एवं महाभारत जैसे विश्व प्रसिद्ध कालजयी महाकाव्यों की भी रचना हुई है। भाषा और शैली की दृष्टि से महाभारत रामायण से पुराना है। यद्यपि रामायण विषय रामचरित त्रेतायुग का है और महाभारत का विषय कौरव—पाण्डव—युद्ध द्वापर युग का है। महाभारत में कई बार परिवर्धन हुआ और इसका अन्तिम रूप ई.पू. तीसरी चौथी शताब्दी में निश्चित हो गया होगा। इसमें कई अंश प्रक्षिप्त हैं, जो संभव है कि इसी सन् के बाद जोड़े गये हैं। महाभारत में 18 पर्व हैं और इन पर्वों में बहुत से आख्यान भरे पड़े हैं। ज्ञान—विज्ञान की दृष्टि से यह ऐसा भण्डार है कि इसमें मनुष्य की जिज्ञासा को तुप्त करने के लिए प्रायः सारी साग्रमी मिल जाती है इसीलिए इसको पाँचवा वेद भी कहते हैं। इसी ग्रन्थ का एक अंश 'भगवद्गीता' है, जिसमें 18 अध्याय हैं। निश्चय ही यह 18 अध्यायों की गीता— युद्धभूमि में नहीं सुनायी जा सकी होगी। कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश को सारभूत मानकर महाभारत की यह रचना है। नलोपाख्यान, शकुन्तलोपाख्यान, सावित्री कथा आदि सहस्रों विषय महाभारत में मिलते हैं, जिनके आधार पर उत्तरकाल के ललित साहित्य की रचना हुई।

'रामायण' को आदिकाव्य की संज्ञा दी गयी है और ऋषि वाल्मीकि इसके रचियता है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद से बाहर छन्द की रचना सर्वप्रथम इन्होंने की 'रामायण' में सात कांड हैं। कुछ पश्चिमी आलोचकों की दृष्टि में प्रथम अर्थात् बालकाण्ड और अंतिम, अर्थात् उत्तरकाण्ड बाद के जोड़े हुए अंश हैं। 'रामायण' भी 'महाभारत' की तरह आख्यानग्रन्थ है और इसके आधार पर उत्तरकाल के ललित साहित्य में बहुतेरी रचनाएँ हुई हैं। संस्कृत के ललित साहित्य को कई वर्गों में विभाजित करते हैं— महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाट्यसाहित्य, गद्यकाव्य, चम्पू कथा साहित्य आदि। महाकाव्य प्रारंभ 'रामायण' से ही होता है। इसके नायक धीरोदात्त राम हैं और सातों काण्डों में बहुत से सर्ग हैं। प्रकृति और मानव का विशद वर्णन है। उत्तम काव्य प्राप्त है। इसके उपरान्त अश्वघोष के दो महाकाव्य 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' आते हैं और तत्पश्चात् कालिदास के दो ग्रंथ 'कुमार सम्भव' और 'रघुवंश'। भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशु पालवध' और श्रीहर्ष का 'नैषधीचरि' इस श्रेणी के उत्तम ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से महाकाव्यों की रचना हुई है। इन्हीं में द्वयर्थक तथा राघवपाण्डय काव्य भी आते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों के आदर्श पर प्राकृत में भी महाकाव्यों की रचना हुई। इनमें प्रवरसेना का 'सेतुबन्ध' और वाक्पति का 'गौडबध' अधिक प्रसिद्ध हैं।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

1. वैदिक छन्दों के रूप विधान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. वैदिककालीन प्राचीन आर्यभाषा को बोलियों पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
3. 'महाभारत' महाकाव्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

खण्डकाव्य में नायक के सम्पूर्ण चरित्र का चित्रण नहीं होता वह महाकाव्य का विषय है। इसमें नायक के जीवन से सम्बद्ध कोई अंश ही लिया जाता है। खण्डकाव्यों में सर्वप्रथम ग्रंथ कालिदास का 'मेघदूत'

NOTES

हैं, जिसमें शापग्रस्त एक यक्ष ने अलका स्थित अपनी प्रेयसी पत्नी के पास मेघ द्वारा संदेश भेजा था। यह कालिदास की अभूतपूर्व कल्पना है। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द में उत्तम प्रकृति-वर्णन और मानवीय भावों का चित्र है। सम्पूर्ण ग्रंथ में प्रायः सवा सौ पद्य हैं, किन्तु इस संक्षिप्त रूप में कालिदास ने इतना काव्य-सौन्दर्य भर दिया है कि यदि उनकी अन्य कोई कृति न भी उपलब्ध होती तो भी उनकी गिनती संसार के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। 'मेघदूत' के ही आदर्श पर अन्य दूतकाव्य, यथा धोयी कवियों का 'पवनदूत' और वेदान्त देशिक का 'हंससंदेश' आदि बने। दूतकाव्यों के अतिरिक्त अन्य खण्डकाव्य भी है। इनमें 'श्रृंगार तिलक', 'घटक परकाव्य', 'अमरूपकशतक', 'भर्तृहरिशतक', 'योगिनी विलास', 'आर्यासप्तशती', गोत गोविन्द' आदि की गणना होती है।

भारतीय परम्परा के अनुसार नाट्य के प्रथम रचयिता भरतमुनि है जिन्होंने जनसाधारण के उपकारार्थ नाट्यवेद बनाया गया। इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध 'नाट्यशास्त्र' नाम का ग्रंथ प्राप्त है, जो भाषा और शैली आदि की दृष्टि से ईसवी तीसरी शताब्दी के पूर्व का नहीं माना जाता। नाट्य के किसी – न किसी रूप के सर्जन का प्रथम उल्लेख हमें पतंजलि के 'महाभाष्य' में मिलता है और उपलब्ध नाट्य साहित्य में अश्वघोष का 'शारद्वती पुत्र-प्रकरण' (सारितपुत्र-प्रकरण) और कालिदास की कृतियाँ (अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालवविकाग्निमित्र) सर्वप्रथम आती है। कालिदास न केवल भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि है, बल्कि सर्वश्रेष्ठ नाट्यरचयिता भी है। इनके स्थितिकाल के विषय में मतभेद, किन्तु अधिकांश विद्वान उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय (चतुर्थ शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध और पंचम के पूर्वार्द्ध) के समय का मानते हैं। कालिदास ने भास, सौमिल्य, कविपुत्र आदि नाट्यकारों का उल्लेख किया है, इनमें से भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' का एक संस्करण 'स्वप्ननाटक' के नाम से गणपति शास्त्री को प्राप्त हुआ था। इसके साथ 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'चारुदत्त' आदि 12 अन्य नाट्य ग्रन्थ भी मिले थे। शास्त्री जी इन सबको भासकृत रहे हों। शैली की दृष्टि से 'मृच्छकटिक' भी पुराना रूपक है और इसकी रचना का समय कालिदास के कुछ ही बाद माना जाता है श्रीहर्ष का एक नाटक 'नागानन्द' और नाटिकाएँ 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' प्रसिद्ध है। ये श्रीहर्ष महाराज हर्षवर्धन ही हैं। इनके उपरान्त भवभूति आते हैं, जिनका स्थान नाटककार की दृष्टि से कालिदास के बाद आता है। इनके दो नाटक 'महावीर चरित' और 'उत्तररामचरित' तथा एक प्रकरण 'मालतीमाधव' उपलब्ध है। ये यशोवर्मा के समकालीन थे। इनके अतिरिक्त भट्टनारायण का 'वेणीसंहार', 'विशाखादत्त' का 'मुद्राराक्षस' मुरारि का 'अनर्धराधव', जयदेव को 'प्रसन्नराधव' आदि अन्य प्रसिद्ध नाटक हैं। नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत में 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि रूपकात्मक नाटक और 'धर्मशर्माभ्युदय' आदि छायानाटक भी हैं। 'हनुमन्नाटक' भी एक लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ है, यद्यपि वह नाटक नहीं है। संस्कृत के आदर्श पर प्राकृत में भी नाट्यसाहित्य बना। इसमें सर्वप्रसिद्ध रचना राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' है। संस्कृत में गद्य का सबसे प्राचीन आविर्भाव हमें यजुर्वेद-संहिता में मिलता है। इसके उपरान्त ब्राह्मण-ग्रन्थों, आख्यान को और उपनिषदों में सरल, सुबोध गद्य की प्रचुर मात्रा है। आगे चलकर आचार्यों ने गद्य की आचार्यों ने विशेषताएँ ओज गुण और समास प्रचुर शैली बतायी। इस दृष्टि से सुषन्धुकृत 'वासवदत्ता' दण्डी का 'दशकुमारचरित' और बाण भट्ट का 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' रीतिबद्ध ललित साहित्य की उत्तम रचनाएँ हैं। इनमें भी 'कादम्बरी' का मुख्य स्थान है।

गद्य और पद्यामिश्रित रीतिबद्ध रचना को चम्पू कहते हैं। इस विशेष श्रेणी का सबसे प्राचीन ग्रन्थ त्रिविक्रम भट्टरचित 'नलचम्पू' अथवा 'दयमन्ती कथा' है और इसका समय दसवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इसी के आदर्श पर 'यशस्तिलक', 'रामायणचम्पू', भागवतचम्पू आदि ग्रन्थ हैं। संस्कृत का कथा-साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक संहिताओं में भी जहाँ-तहाँ कथाएँ मिलती हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों और अरण्यकों में इनकी मात्रा और अधिक हो गयी। इस श्रेणी के साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'वृहत्कथा' है। इसकी रचना पैशाची प्राकृत में गुणाढ्य ने की थी। इस ग्रन्थ का मूल रूप अप्राप्य है, किन्तु इसके दो संक्षिप्त संस्करण 'वृहत्कथामंजरी' और कथासरित्सागर के लेखक सोमदेव 11वीं शताब्दी ईसवी में हुए। इन दो प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वृहत्कथा' पर आधारित बुद्धस्वामी का

श्लोक संग्रह है, जिसमें क्षेमेन्द्र और सोमदेव की कथा सभेद है। इनके अतिरिक्त 'अवदानशतक' और आर्य सूंस्कृत 'जातकमाला' बौद्ध धर्मप्रचारक बोधीसत्व के चरितों के कथा संग्रह, 'वेतलापंचविंशतिका', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका', 'शुकसप्तपि' और भोजप्रबन्ध अन्य कथा संग्रह है, जिसमें कल्पना और अतिमानवचरित मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

भारतवर्ष की कथाओं में पशु, पक्षी, देव, मनुष्य, असुर—सभी ऐसी भाषा बोलते हैं, जिसे एक—दूसरे समझ सकते हैं। इसी दृष्टि से नीतिकथा—ग्रन्थों की रचना हुई है। इस श्रेणी का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' है, जिसमें पशुपक्षियों की कथाओं द्वारा मनुष्य को शिक्षा दी गयी है। 'पंचतन्त्र' का अनुवाद फारस के बादशाह नौशेखॉ ने पहलवी भाषा में कराया। इसका अनुवाद सीरिया की भाषा में 570 ई. में हुआ फिर इसका अनुवाद हिब्रू, लैटिन, जर्मन, इटालियन, ग्रीक आदि संसार की सभी प्रसिद्ध भाषाओं में हुआ। मूल 'पंचतन्त्र' अब अप्राप्य है। प्रचलित 'पंचतन्त्र' से पहलवी अनुवाद काफी भिन्न है। इसके अतिरिक्त 'तन्त्राख्यातिका' मिली है जो 'पंचतन्त्र' की सीरियाई अनुवाद से अधिक मेल खाती है। 'हितोपदेश', 'पंचतन्त्र' का ही एक उत्तरकालीन संस्करण है।

नीतिकथा के प्रचुर ग्रन्थ जैन और बौद्ध साहित्यों में मिलते हैं। कथाओं के द्वारा हर एक सम्प्रदाय ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार जन समाज में किया और इसके सूक्ष्म अध्ययन से पत्ता चलता है कि प्रत्येक सम्प्रदाय ने बहुधा एक ही कथा को अपने—अपने सम्प्रदाय की दृष्टि से भिन्न—भिन्न रूप दे दिया। आरम्भ में काव्य अलंकार पर आश्रित था और यदि वाक्य में उपमा, अतिशयोक्ति आदि कोई अलंकार प्राप्त हो तो उसे ही काव्य की संज्ञा दी जाती थी। धीरे—धीरे काव्य शास्त्र पर ग्रन्थ रचे गये। आरम्भ में इन्हें अलंकार शास्त्र कहते थे काव्य के दो प्रमुख अंग हैं— श्रव्य और दृश्य। दृश्य काव्य का सबसे पुराना शास्त्र भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। इसके उपरांत धनंजय का 'दशरूपक' आता है। सम्पूर्ण काव्य के सिद्धान्तों का विवेचन हमें दण्डी के 'काव्यादर्श', वामन के 'काव्यालंकारसुत्र' आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक, मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण और पण्डित राज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' में मिलता है। काव्य के सिद्धान्तों और रसानुभूति के विषय में जैसा विवेचन और विश्लेषण संस्कृत में है, वैसा अन्यत्र अप्राप्त है। संस्कृत वाङ्मय में इतिहास के अतिरिक्त पुराण नाम से 18 ग्रन्थ सम्मिलित हैं। पुराण का लक्षण है— "सर्गश्चप्रतिसर्पश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराण पंचलक्षणम्"। इस लक्षण के अनुसार पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति, उसका संहार, वंशावली, मन्वन्तरों का वर्णन और प्रसिद्ध राजवंश(सूर्यवंश और चन्द्रवंश) के राजाओं का उल्लेख और उनके चरित्र का वर्णन पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उनमें अनेक कथाएँ, भारतवर्ष के मौर्य, शुंग आदि राजवंशों का वर्णन आदि बहुत—सी सामग्री मिलती है। कई पुराणों में ज्योतिष, शरीरविज्ञान अलंकारशास्त्र, व्याकरण आदि विषय भी पाये जाते हैं। इनकी शैली वर्णनात्मक है, किन्तु 'भागवत' आदि कुछ पुराणों में यत्र—तत्र उत्तम काव्य की शैली भी मिलती है।

इन पुराणों की रचना भिन्न—भिन्न समय में हुई होगी। इनकी कुछ सामग्री काफी पुरानी है। पुराणों का निर्माण काल ईसवी सन् दूसरी तीसरी शताब्दी से लेकर आठवीं—नवीं शताब्दी तक समझा जाता है। पुराणों के कर्त्ता व्यास माने जाते हैं। सम्भव है, इनकी देख—रेख में प्राचीन पुराणों का संकलन हुआ हो और बाद के पुराण भी इन्हीं के नाम से प्रचलित हो गये हों। 18 पुराणों के अतिरिक्त 18 उपपुराण भी हैं। इनके भी कर्त्ता व्यास ही माने जाते हैं। पुराण—साहित्य का महत्व उसकी सामग्री के कारण है, जिसका उपयोग भारतवर्ष के इतिहास भूगोल, पुरातत्त्व, सभ्यता और संस्कृति आदि के अध्ययन के लिए किया जा सकता है, किन्तु इसकी सामग्री ऐसे रूप में है, जिससे भ्रम हो जाने की अधिक सम्भावना है।

दर्शन के मूल तत्त्वों का बीज हमें वैदिक संहिताओं में ही मिल जाता है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में इसका विशेष स्थान है। सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्तु ये 6 दर्शन आस्तिक—दर्शन माने जाते हैं। इसके सूत्रग्रन्थ उपलब्ध हैं और इनके भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ प्रचुर मात्रा में

NOTES

वर्तमान है। इनके अतिरिक्त संस्कृत में जैन-दर्शन बौद्ध-दर्शन पर भी यथेष्ट ग्रन्थ है। भारत में चार्वाक-दर्शन प्रसिद्ध रहा है। बहुत कुछ इन्हीं दर्शनों के अनुसार भारत में भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों का अस्तित्व है। ऊपर वैदिक ग्रन्थों के धर्म सूत्रों का उल्लेख हो चुका है। धर्मसूत्रों के अतिरिक्त स्मृतियाँ हैं। इनमें सबसे प्राचीन 'मनुस्मृति' है। अनुमान है कि यह किसी धर्मसूत्र (मानव धर्म सूत्र) का वृहत्त संस्करण है। इसका निर्माणकाल ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी समझा जाता है। इसके अतिरिक्त 'याशवल्क्यस्मृति', 'नादरस्मृति', और 'पराशर स्मृति' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वेदों और वेदांगों के अतिरिक्त चार उपदेव हैं। इनके नाम हैं आयुर्वेद गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, अथर्ववेद। आयुर्वेद के सबसे पुराने ग्रन्थ 'चरकसंहिता' और 'सुश्रुत-संहिता' है। 'सुश्रुतसंहिता' में शल्य चिकित्सा को विशेष महत्व है। आयुर्वेद का अध्ययन भारतवर्ष में बहुत पुराना है और 'चरकसंहिता' का समय ईसापूर्व दूसरी शताब्दी समझा जाता है। गान्धर्ववेद का बीज सामवेद में ही है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में इसका विशेष विवरण मिलता है। धनुर्वेद का कोई पुराना ग्रंथ नहीं मिलता। अथर्ववेद पर सबसे प्राचीन ग्रंथ कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। विश्वास है कि कौटिल्य और चाणक्य एक ही व्यक्ति के नाम हैं। अर्थशास्त्र में राज्यप्रबन्ध राजनीति, समाज का आर्थिक संघटन आदि का विषय सम्मिलित है।

वैदिक शब्दों का कोश निघण्टु था और उसकी व्याख्या निरुक्त इसी परम्परा में लौकिक भाषा के भी कोश बने। प्राप्त कोशग्रंथों में सबसे प्राचीन अमर सिंह का 'अमर कोश' है। इसका निर्माण काल ईसवी सन् की चौथी-पाँचवी शताब्दी समझा जाता है। इसके उपरांत और बहुत से कोश बने। संस्कृत वाङ्मय पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता चलता है कि इसमें मानव-जाति से सम्बद्ध प्रत्येक विषय की सामग्री है। यह वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध और उपादेय है। वर्तमान भारत के साहित्य का स्रोत सर्वथा संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। मनुष्य को उन्नत करने के लिए जो सामग्री संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य संसार की सभी भाषाओं में सर्वोच्च है।

हिन्दी के विद्यार्थी को जिस वर्णमाला से परिचित कराया जाता है, वह वास्तव में प्राचीन आर्यभाषा की है, हिन्दी की नहीं। संस्कृत में ऐ-औ का अइ-अउ उच्चारण होता है, वैदिक में आइ-आउ था। उक्लिप्त-प्रतिवेष्टित ळ और ठ और ल् वैदिक भाषा की विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जो किन्हीं जनभाषाओं में आज तक चल रही हैं किन्तु संस्कृत में नहीं रहीं। वास्तव में ऋ, ॠ, लृ, लृ भी वैदिक ध्वनियाँ हैं। वैदिक में अद्योष ख और फ क्रमशः जिह्वामूलीय उपध्यानीय ध्वनियाँ कहलाती थीं, संस्कृत में लुप्त हो गयी। वैदिक में गीतात्मक स्वराघात और बलात्मक स्वराघात दोनों थे, किन्तु संस्कृत में केवल बालाघात रह गया। सुराघात भोजपुरी आदि बोलियों में शेष हैं। सन्धि और समास वैदिक में तो प्रायः दो शब्दों के होते थे और वे भी इच्छाधीन थे परन्तु संस्कृत में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि 10-10, 15-15 और इससे भी अधिक पंक्तियों का एक सन्धि-समास-युक्त पद बनने लगा। वैदिक में रूपों की विविधता अधिक थी (छंदसि बहुलम्) जैसे द्विवचन में द्वा सुपर्णा भी और द्वौ सुपर्णा भी, कर्ता बहुवचन में देवाः और देवासः दोनों चलते थे। कारण एकवचन में 'देव्या' के अतिरिक्त 'देवी' भी था और करण बहुवचन में 'देवैः' के अतिरिक्त 'देवेभिः' भी। अधिकरण एकवचन में 'मधौ' के साथ 'मधवि', 'तन्वि' के साथ 'तनू' वैदिक ही में मिलते हैं। चर्मन्, धन्वन् व्योमन् आदि मूल शब्द अधिकरण एकवचन में भी प्रयुक्त होते थे। नपुंसक लिंग के रूप कर्त्ता-कर्म में भी पुल्लिंग की तरह विकल्प से हो जाते थे- विश्वानि दुरितानि, विश्वानि अद्भूता विश्वः अद्भूता सब ठिक माने जाते थे। धीती, सती आदि ऐसे शब्द भी थे जो बिना किसी कारक-चिह्न के किसी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हो सकते थे। संस्कृत में नियमों के द्वारा व्याकरणात्मक एकरूपता स्थापित की गयी। उपवाद तथा भेद कम हो गये। प्राचीन आर्यभाषा में सर्वनामों के रूप अधिक जटिल थे। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में लिंगभेद नहीं था, किन्तु अन्यपुरुष से सम्बद्ध संकेतवाची, प्रश्नवाची सम्बन्धवाची सभी सर्वनामों में लिंगभेद था। वैदिक और संस्कृत में निम्नलिखित अन्तर उल्लेखनीय है-

वैदिक	संस्कृत		
उत्तम पुरुष	द्विवचन	वाम्	आवाम्
उत्तम पुरुष	कर्म एकवचन	मा	माम्
उ०पु० सम्प्रदान	एकवचन	मह्य	मह्यम्
उ०पु० सम्बन्ध	मामक	मामक	
अस्माक	अस्माकम्		
उ०पु० अधिकरण	बहुवचन	अस्मे	अस्मासु
मध्यम पुरुष	द्विवचन कर्ताकर्म	युवम्	युवाम्
मध्यम पुरुष	द्विवचन कारण	युवभ्यम्	युवाभ्याम्
मध्यम पुरुष	द्विवचन सम्बन्ध	युवोः	युवयोः
मध्यम पुरुष	एकवचन कारण	त्वा	त्वया
मध्यम पुरुष	एकवचन अपादान	युवत्	युष्मत्
मध्यम पुरुष	एकवचन सम्बन्ध	युष्माक	युष्माकम्
अन्यपुरुष	एकवचन अधिकरण	तस्मिन्	तस्मिन्
अन्यपुरुष	एकवचन कर्ता	ता	सः

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की धातुएँ दस गणों में विभक्त थीं और प्रत्येक में काल-रचना में लगने वाले विकरण अलग-अलग थे, अर्थात् ति तः अन्ति आदि से पहले निम्नलिखित ध्वनियाँ जोड़ ली जाती थीं-

भ्वादि अदादि जुहोत्यादि दिवादि स्वादि

अ० द्वित्व य नु

तुदादि रूधादि तनादि कयादि चुरादि

अनउ ना अय

प्रत्येक गण की धातुओं का रूपान्तर या तो परस्मैपद में होता था, या आत्मनेपद में। कुछ एक धातुएँ उभयपद थीं। तीन वाच्य थे (कर्तृ, कर्म, और भाव)। दस क्रियाभेद थे जिन्हें लकार कहते हैं। इनमें लट् (वर्तमान), लिट् (परोक्ष या सम्पन्न) लङ् (अनद्यतन या असम्पन्न) लङ् (सामान्य भूत) और लुट् (असम्पन्न भविष्यत्) एवं लृट् (सामान्य भविष्यत्) ये छह काल और लोट् (आज्ञा) विधिलिङ् (संभावनार्थ) आशीर्लिङ् लृङ् (हेतु हेतुमद्भाव निर्देश), लेट् (अभिप्राय) और लेङ् (निर्बंध) ये छह भाव थे। वैदिक में भविष्यत् काल प्रायः नहीं था, उसकी जगह लङ् (असम्पन्न) का प्रयोग चलता था और संस्कृत में अभिप्राय तथा निर्बंध भाव नहीं थे- अर्थात् वैदिक में चारकाल और छह भाव थे तो संस्कृत में छह काल और चार भाव। लकारों की कुल संख्या दस ही थी। इनके अतिरिक्त सन्नन्त (इच्छार्थक) यङ् लुगन्त (अतिशयार्थक), गिजन्त (प्रेरणार्थक) और नाम धातु प्रत्ययान्त धातुएँ बनायी जाती थी।

वैदिक में आज्ञार्थक रूप धि, हि, आन्, तात्, आम्, तम्, ताम्, त, अथाम् आदि कई विभिन्न चिहनों से बनते थे, संस्कृत में इनकी छँटाई हो गई। तुमुनन्त रूप भी वैदिक में बहुत अधिक थे, संस्कृत में एक दो रह गये।

स्व-प्रगति की जाँच करें-

4. खण्ड काव्य किसे कहते हैं?
5. पंचतन्त्र का संक्षिप्त परिचय दीजिये।
6. संस्कृत वाङ्मय में कितने पुराणों का उल्लेख है? पुराण का लक्षण क्या है? स्पष्ट कीजिए।

NOTES

वैदिक में असमापिका(पूर्वकालिक) क्रिया तथा क्रिया विशेषण के भी विविध रूप हैं। प्राचीन आर्यभाषा में धातुओं में लगने वाले कृत् प्रत्ययों और धातुओं से भिन्न शब्दों अर्थात् संज्ञा, विशेषण सर्वनाम में लगने वाले तद्धित प्रत्ययों की संख्या कई सौ थी। शब्द-निर्माण की इतनी भारी सामर्थ्य के कारण ही संस्कृत बहुत समृद्ध और उन्नत भाषा बन गई थी और उसकी इस सामर्थ्य से आज तक नाना भाषाओं को लाभ हो रहा है। वैदिक भाषा में उपसर्ग क्रिया से अलग स्वतंत्र शब्दों के रूप में भी प्रयुक्त होते थे जैसे 'परिद्यावापृथिवी यन्ति सद्यः' में परि। वैदिक में सन्धि कम हैं। संस्कृत की बहुत सारी ऐसी शब्दावली से हिन्दी के विद्यार्थी भलीभाँती परिचित हैं जो हिंदी में यथावत् चली आई हैं।

सारांश यह है कि संस्कृत ही व देववाणी है जिसमें रामायण और महाभारत जैसे विश्वप्रसिद्ध महान ग्रंथ लिखे गए। यही वह संस्कृत है जिसमें आचार, धर्मशास्त्र कामशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आदि का गंभीर ज्ञान संचित है। यही वह संस्कृत है जिसमें कल्पना के स्वर्णिम तारों से बुनी नव-नव उपमाओं के फूलों से गुथी कवि कुल गुरु की अनुपम साथ है, यही वह संस्कृत है जिसमें मर्म द्राविनी क्षमता वाले भवभूति के नाटक हैं। यही वह संस्कृत है जिसमें ललित पदावली से गुंफित जयदेव का गीतिकाव्य है। यही वह संस्कृत है जिसमें वर्णन के बहाव में ले चलने वाले बाणभद्र की आख्यायिका है। यही वह संस्कृत है जिसमें पंडितों के गर्व को घर्षित करने वाले श्री हर्ष का महाकाव्य चित्रित है। मानव की मेधा जिस ऊँचाई तक पहुँच गयी, हृदय की भावना जिस गहराई तक जा सकी—यदि विश्व की किसी भाषा में इसके पुष्कल प्रमाण मिलते हैं तो वह संस्कृत है। अपनी व्यापकता, अपनी गंभीरता, अपनी सुंदरता तथा अपनी संदृष्टि परकता के कारण संस्कृत साहित्य संसार की भाषाओं में सर्वोपरि है।

सार-संक्षेप

भारतीय आर्य भाषा समूह का प्राचीनतम रूप वैदिक के नाम से जाना जाता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चार की गणना होती है। वैदिक भाषा क्लिष्ट योगात्मक है। उसकी रूप-रचना में विविधता और जटिलता है। वैदिक भाषा से ही संस्कृत का विकास हुआ है। वैदिक में संस्कृत स्वराघात समाप्त प्राय हैं। शब्द रूपों की बहुलता में बहुत कुछ एकरूपता आ गई है। भावों के क्रिया रूप कम हो गए हैं। वैदिक भाषा के स्वतंत्र उपसर्ग प्रायः क्रिया के साथ संयुक्त हैं। अतः संस्कृत वैदिक की अपेक्षा अधिक सरल, स्पष्ट एवं स्थिर हैं। संस्कृत को देववाणी भी कहा गया है। इस भाषा के माध्यम से भारतीय संस्कृति आधुनिक भाषाओं में निरंतरता का रूप ग्रहण किए हुए हैं। इस भाषा ने अखिल भारत वर्ष को एक सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान किया है और वह स्वरूप भारत वर्ष की प्रत्येक आधुनिक भाषा में चाहे वह आर्य परिवार की हो या आर्यतर परिवार मूर्त हुआ है। संस्कृत भाषा हमें सांस्कृति धरोहर के रूप में प्राप्त है और हिन्दी भी उसके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. वैदिक छन्दों के रूपविधान में तत्कालीन वातावरण की स्वच्छन्दता और अविजाड़ित धारणाशक्ति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है। वैदिक युग की सामाजिक तथा अध्यात्मिक चेतना के वे समर्थवाहक हैं और उसी से अनुप्राणित होकर उनका विकास हुआ है। परिणामस्वरूप वैदिक छन्द परवर्ती संस्कृत साहित्यिक छन्दों की तुलना में अधिक स्वच्छन्द और अधिक मुक्त प्रतीत होते हैं। उनमें न वर्णों के गुरु-लघु क्रम का निश्चित नियोजन मिलता है और न चरणों या पादों की संख्या ही व्यवस्थित है। केवल वर्णों की संख्या निर्धारित रहती है। इस प्रकार एक छन्द में अनेक पाद और पादों में भिन्न वर्ण संख्या निर्धारित रहती है। इस प्रकार एक छन्द में अनेक पाद और पादों में भिन्न वर्णसंख्या वैदिक छन्दों में बराबर मिलती है। उनके बहुत से उपेक्षा का आधार यह वैविध्य ही है। छन्दों के मिश्रण से भी अनेक छन्दों की सृष्टि हुई है। स्वराघात के साथ गेयता

- वैदिक छन्दों की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। सामवेद छन्दों बद्ध वैदिक मन्त्रों के गान के लिए सुविख्यात है।
- ब्राह्मण ग्रन्थों से इस बात का पता चलता है कि वैदिक काल में प्राचीन आर्यभाषा के कम से कम तीन रूप या तीन बोलियाँ—अवश्य थे। पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी। पहला अफगानिस्तान से लेकर पंजाब तक था, दूसरा पंजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक, तथा तीसरा उसके पूर्व। यदि र्-ल् ध्वनियों को ही आधार माने तो कह सकते हैं कि पश्चिमोत्तरी बोली र्-प्रधान थी, मध्यवर्ती में र्-ल् दोनों थे, और पूर्वी ल्-प्रधान थी। ऋग्वेद में पश्चिमोत्तरी बोली का ही प्रतिनिधित्व हुआ है। पश्चिमोत्तरी बोली में स्थानीय प्रभाव प्रायः बहुत कम पड़ा था, क्योंकि स्थानीय आर्योत्तर जातियाँ कुछ अपवादों को छोड़कर वहाँ से भागकर दक्षिण तथा पूरब चली गई थीं। इसी कारण पश्चिमोत्तरी बोली को आदर्श माना गया।
 - लौकिक संस्कृत में ही विश्व का श्रेष्ठतम आध्यात्मिक साहित्य लिखा गया है। इसी भाषा में रामायण एवं महाभारत जैसे विश्व प्रसिद्ध कालजयी महाकाव्यों की भी रचना हुई है। भाषा और शैली की दृष्टि से महाभारत रामायण से पुराना है। यद्यपि रामायण विषय रामचरित त्रेतायुग का है और महाभारत का विषय कौरव-पाण्डव-युद्ध द्वापर युग का है। महाभारत में कई बार परिवर्तन हुआ और इसका अन्तिम रूप ई.पू. तीसरी चौथी शताब्दी में निश्चित हो गया होगा। इसमें कई अंश प्रक्षिप्त हैं, जो संभव है कि इसी सन् के बाद जोड़े गये हैं। महाभारत में 18 पर्व हैं और इन पर्वों में बहुत से आख्यान भरे पड़े हैं। ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से यह ऐसा भण्डार है कि इसमें मनुष्य की जिज्ञासा को तुप्त करने के लिए प्रायः सारी साग्रमी मिल जाती है इसीलिए इसको पाँचवा वेद भी कहते हैं। इसी ग्रन्थ का एक अंश 'भगवद्गीता' है, जिसमें 18 अध्याय हैं। निश्चय ही यह 18 अध्यायों की गीता— युद्धभूमि में नहीं सुनायी जा सकी होगी। कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश को सारभूत मानकर महाभारत की यह रचना है। नलोपाख्यान, शकुन्तलोपाख्यान, सावित्री कथा आदि सहस्रों विषय महाभारत में मिलते हैं, जिनके आधार पर उत्तरकाल के ललित साहित्य की रचना हुई।
 - खण्डकाव्य में नायक के सम्पूर्ण चरित्र का चित्रण नहीं होता वह महाकाव्य का विषय है। इसमें नायक के जीवन से सम्बद्ध कोई अंश ही लिया जाता है। खण्डकाव्यों में सर्वप्रथम ग्रंथ कालिदास का 'मेघदूत' है, जिसमें शापग्रस्त एक यक्ष ने अलका स्थित अपनी प्रियसी पत्नी के पास मेघ द्वारा संदेश भेजा था। यह कालिदास की अभूतपूर्व कल्पना है। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द में उत्तम प्रकृति-वर्णन और मानवीय भावों का चित्र है। सम्पूर्ण ग्रंथ में प्रायः सवा सौ पद्य हैं, किन्तु इस संक्षिप्त रूप में कालिदास ने इतना काव्य-सौन्दर्य भर दिया है कि यदि उनकी अन्य कोई कृति न भी उपलब्ध होती तो भी उनकी गिनती संसार के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। 'मेघदूत' के ही आदर्श पर अन्य दूतकाव्य, यथा धोयी कवियों का 'पवनदूत' और वेदान्त देशिक का 'हंससंदेश' आदि बने। दूतकाव्यों के अतिरिक्त अन्य खण्डकाव्य भी हैं। इनमें 'शृगार तिलक', 'घटक र्परकाव्य', 'अमरुपकशतक', 'भर्तृहरिशतक', 'योगिनी विलास', 'आर्यासप्तशती', 'गोत गोविन्द' आदि की गणना होती है।
 - भारतवर्ष की कथाओं में पशु, पक्षी, देव, मनुष्य, असुर—सभी ऐसी भाषा बोलते हैं, जिसे एक-दूसरे समझ सकते हैं। इसी दृष्टि से नीतिकथा-ग्रन्थों की रचना हुई है। इस श्रेणी का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' है, जिसमें पशुपक्षियों की कथाओं द्वारा मनुष्य को शिक्षा दी गयी है। 'पंचतन्त्र' का अनुवाद फारस के बादशाह नौशेख़ाँ ने पहलवी भाषा में कराया। इसका अनुवाद सीरिया की भाषा में 570 ई. में हुआ फिर इसका अनुवाद हिब्रू, लैटिन, जर्मन, इटालियन, ग्रीक आदि संसार की सभी प्रसिद्ध भाषाओं में हुआ। मूल 'पंचतन्त्र' अब अप्राप्य है। प्रचलित 'पंचतन्त्र' से पहलवी अनुवाद काफी भिन्न है। इसके अतिरिक्त 'तन्त्राख्यायिका' मिली है जो 'पंचतन्त्र' की सीरियाई अनुवाद से अधिक मेल खाती है। 'हितोपदेश', 'पंचतन्त्र' का ही एक उत्तरकालीन संस्करण है।

NOTES

6. संस्कृत वाङ्मय में इतिहास के अतिरिक्त पुराण नाम से 18 ग्रन्थ सम्मिलित हैं। पुराण का लक्षण है— “सर्गश्चप्रतिसर्पश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराण पंचलक्षणम्”। इस लक्षण के अनुसार पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति, उसका संहार, वंशावली, मन्वन्तरों का वर्णन और प्रसिद्ध राजवंश(सूर्यवंश और चन्द्रवंश) के राजाओं का उल्लेख और उनके चरित्र का वर्णन पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उनमें अनेक कथाएँ, भारतवर्ष के मौर्य, शुंग आदि राजवंशों का वर्णन आदि बहुत-सी सामग्री मिलती है। कई पुराणों में ज्योतिष, शरीरविज्ञान अलंकारशास्त्र, व्याकरण आदि विषय भी पाये जाते हैं। इनकी शैली वर्णनात्मक है, किन्तु ‘भागवत’ आदि कुछ पुराणों में यत्र-तत्र उत्तम काव्य की शैली भी मिलती है।

इन पुराणों की रचना भिन्न-भिन्न समय में हुई होगी। इनकी कुछ सामग्री काफी पुरानी है। पुराणों का निर्माण काल ईसवी सन् दूसरी तीसरी शताब्दी से लेकर आठवीं-नवीं शताब्दी तक समझा जाता है। पुराणों के कर्त्ता व्यास माने जाते हैं। सम्भव है, इनकी देख-रेख में प्राचीन पुराणों का संकलन हुआ हो और बाद के पुराण भी इन्हीं के नाम से प्रचलित हो गये हों। 18 पुराणों के अतिरिक्त 18 उपपुराण भी हैं। इनके भी कर्त्ता व्यास ही माने जाते हैं।

अभ्यास—प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय दीजिए।
2. लौकिक एवं वैदिक संस्कृत के अन्तर उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. वैदिक संस्कृत एवं उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
4. लौकिक संस्कृत एवं उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
5. रूप रचना प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- मध्यकालीन आर्यभाषाएँ (ई.पू. 500 से 1000 ई.तक)
- पालि
- प्राकृत
- अपभ्रंश
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

1. मध्यकालीन एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को समझ सकेंगे।
2. हिंदी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से पूर्णतः परिचित होकर उसकी भाषिक प्रकृति के प्रति समझ विकसित कर सकेंगे।

NOTES

परिचय

साहित्य आद्यंत एक भाषिक संरचना है; साहित्य के गंभीर के गंभीर अध्ययन तथा वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए भाषिक विधान का सुस्पष्ट ज्ञान आवश्यक है; हिन्दी एक विराट भाषा है। भाषा वैज्ञानिक आधार पर हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकासक्रम का ज्ञान उसके अध्येताओं के लिए अत्यंत उपयोगी है। हिंदी हिंद की भाषा है। ऐसी स्थिति में हिंद अथवा भारतवर्ष के समुचित ज्ञान के लिए भी हिन्दी भाषा के स्वरूप – वैशिष्ट्य का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है; बाच्चार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत से सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति, वस्तु तथा हिंद भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्रविड़ तथा अन्य कुल की भारतीय भाषाओं के लिए हो सकता है; किन्तु इस प्राचीन व्यापक, अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अब प्रचलित नहीं है; वर्तमान भारतीय साहित्य में यह शब्द भारतीय संघ की राजभाषा (संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी— भारतीय संविधान धारा 343:1) तर्हि राष्ट्रभाषा के नाम का द्योतक है। हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि अतिशय व्यापक एवं सुदीर्घ है; इसके सम्यक अध्ययन के लिए सर्वप्रामि प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं वैदिक तथा लौकिक संस्कृत की विशेषताओं से अवगत होगा होगा। तदुपरांत मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के भाषिक-वैशिष्ट्य का विश्लेषण अपेक्षित है; इसी क्रम में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का परिचय देते हुए उनको वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाएगा। इकाई 6 में कथित भाषाओं के भाषा वैज्ञानिक विवेचन की सापेक्षता में हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निरूपण किया गया है।

मध्यकालीन आर्यभाषाएँ (ई.पू. 500 से 1000 ई.तक)

भारतीय आर्यभाषाओं का द्वितीय चरण मध्यकालीन आर्यभाषा काल के नाम से जाना जाता है। अब तक संस्कृत व्याकरण नियमों की अतिशयता एवं कठोरता के कारण जनभाषा से भिन्न हो चुकी थी। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल में जनभाषा पर आधारित 'वैदिक' एवं 'लौकिक' भाषा के ये दो रूप साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। दूसरे रूप- लौकिक, संस्कृत-को पाणिनि ने अपने व्याकरण में जकड़कर उसे सदा-सर्वदा के लिए एक स्थायी रूप दे दिया, किन्तु जनभाषा भला इस बन्धन को कहा मानती? वह अबाध गति से परिवर्तित होती रही, बढ़ती रही। इस जनभाषा के मध्यकालीन रूप को 500 ई.पू. से 1000 ई. तक का अर्थात् डेढ़ हजार वर्षों का है। इसे 'मध्यकालीन आर्यभाषा' की संज्ञा दी गयी है। मध्यकालीन आर्यभाषा को प्राकृत भी कहा गया है। 'प्राकृत' शब्द के सम्बन्ध में दो मत हैं

(क) कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति 'प्राक + कृत' अर्थात् (संस्कृत से) पहले की बनी हुई है, या पहले की की हुई' मानते हैं। दूसरे शब्द से प्राकृत 'नैसर्गिक' 'प्रकृत' या अकृत्रिम भाषा है, और इसके विपरीत संस्कृत कृत्रिम या संस्कार की हुई भाषा है। नमि साधु ने 'काव्यालंकार' की टीका में लिखा है: प्राकृतेति, सकल-जगज्जन्तूनां व्याकरणादि भिरना हतसंस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृति तत्र भवः से व वा प्राकृतम्'। इस रूप में प्राकृत पुरानी भाषा है, और संस्कृत उसका संस्कार करके बनाई हुई बाद की भाषा। ग्रियर्सन ने इसी को प्राइमरी प्राकृत कहा है। इसका अर्थ यह है कि इस अर्थ में 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग उस जनभाषा के लिए है, जो वैदिक एवं

संस्कृतकाल में जन भाषा थी और जिसका कुछ परिनिष्ठित एवं पंडितों द्वारा मान्य रूप वैदिक है, एवं परवर्ती काल में जिसका सुसंस्कृत साहित्यिक रूप 'संस्कृत' है। अर्थात् वह वैदिक की भी जननी है, और उसी का कुछ परवर्ती रूप संस्कृत की जननी है।

NOTES

(ख) दूसरे लोग प्राकृत की उत्पत्ति और ढंग से करते हैं। जैसे—प्रकृति संस्कृत तत्र भव प्राकृतभूच्यते—मार्कण्डेय (प्रकृति या मूल संस्कृत है, उससे जन्मी भाषा को प्राकृत कहते हैं)। प्रकृति: संस्कृत। तत्र भवं तदागत। वा प्राकृतम— हेमचन्द्र (प्राकृत या मूल संस्कृत है, और संस्कृत से जो आई है, प्राकृत है)। ये (क,ख) मत एक दूसरे के विरोधी हैं। वस्तुतः अपने—अपने स्थान पर ये दोनों ही मत ठीक हैं। यदि हम उस जनभाषा को प्राकृत कहते हैं, जिसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप संस्कृत है, दूसरे शब्दों में जिससे संस्कृत उत्पन्न है तो पहला मत ठीक है, अर्थात् प्राकृत संस्कृत की जननी है, किन्तु यदि हम संस्कृत—कालीन जनभाषा को भी संस्कृत ही कहें—जो मूलतः वही था, केवल संस्कृत साहित्यिक भाषा थी और वह जनभाषा तो दूसरा मत सही है, क्योंकि 500 ई.पू. से 1000 ई. तक बोली जाने वाली प्राकृत भाषा उसी का विकसित रूप है, अतः इसे, अर्थात् प्राकृत को हम 'संस्कृत से उत्पन्न' मान सकते हैं। हाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यह प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक, संस्कृत से उद्भूत नहीं है, अपत्ति तत्कालीन जनभाषा से उद्भूत है या उसका विकसित रूप है। इन 1500 वर्षों की प्राकृत भाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है:— 1. प्रथम प्राकृत (500 ई.पू. से 1 ई. तक) 2. द्वितीय प्राकृत (1 ई. से 500 ई. तक) 3. तृतीय प्राकृत (500 ई.से 1000 ई. तक)

पालि

पालि बौद्ध धर्म (विशेषतः दक्षिणी बौद्धों) की भाषा है। मोटे रूप से इसका काल 5वीं सदी ई.पू. से पहली सदी तक है। मोटे रूप से इसका काल 5वीं सदी ई.पू. से पहली सदी तक है। 'पालि' नाम—'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। 'पालि' शब्द के पुराने प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में नहीं मिलते। इनका प्राचीनतम प्रयोग 4वीं सदी में लंका में लिखित ग्रंथ 'दीपवंस' में हुआ है। वहाँ इनका अर्थ 'बुद्धवचन' है। बाद में प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष ने भी इसका प्रयोग लगभग इसी अर्थ में किया है। तब से लेकर काफी बाद तक 'पालि' शब्द का प्रयोग पालि साहित्य में हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ में नहीं। भाषा के अर्थ में वहाँ मगध भाषा, मागधी, मागधिक भाषा आदि का प्रयोग हुआ है। सिंहल के लोग इसे अब भी मागधी कहते हैं। भाषा के अर्थ 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। यहाँ कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है। एक मत के अनुसार वैदिक और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी और 'पालि' शब्द 'पल्लि' का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा' 'पालि' का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा', 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार संस्कृत 'पंक्ति' (झ पन्ति झ पत्ति झपटिट झपल्लि झपालि) से है। भण्डाकर तथा वाकरनागल के अनुसार पालि शब्द 'प्राकृत' (झ पाकट झ पाअड झपाअल झपालि) का ही विकसित रूप है। वस्तुतः ये ध्वन्त्यात्मक विकास बहुत तर्कसम्मत नहीं है। कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पाल्' अर्थात् 'रक्षा करना' से है। इसने बुद्ध के उपदेशों को सुरक्षित रखा है, इसलिए यह नाम पड़ा है, 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगों ने 'पा' में 'लि' प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। अर्थात् यह अर्थों की रक्षा करती है, अतः पालि है। किन्तु यह भी कल्पना की दौड़ मात्र है डॉ. मैक्स बेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। किन्तु सबसे प्रामाणिक व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा दी गई है। प्रायः बहुत से भारतीय विद्वान इससे सहमत हैं। इनके अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध 'परियाम' (सं. पर्याय) से है। 'धम्म—परियाय' या 'परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास—परम्परा परियाय पालियाम पालियाम पालि है।

NOTES

यह प्रश्न कम विवादास्पद नहीं है कि पालि मूलतः किस प्रदेश की भाषा थी। इस प्रश्न पर प्रायः दो दर्जन विद्वानों ने विचार किया है। श्रीलंका के बौद्धों तथा चाइल्डर्स आदि की यह धारणा है कि यह मगध की बोली थी। किन्तु भाषा की विवेचना करने पर यह बात अशुद्ध ठहरती है। ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से इसका मागधी से साम्य नहीं है। वेस्टरगार्ड तथा स्टेनकोनों आदि पालि को उज्जयिनी या विंध्यप्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं। ग्रियर्सन ने इसे मागधी माना था, यद्यपि इस पर पैशाची की भी प्रभाव स्वीकार किया था। ओल्डेनवर्ग ने पालि को कलिंग की भाषा कहा था। रीज डैविड्स ने इसे कोशल की बोली कहा है। ल्युडर्ज पालि को पुरानी अर्धमागधी से सम्बन्ध मानते थे। इन मतों से एक बात स्पष्ट है कि पालि में विभिन्न प्रदेशों की बोलियों के तत्व हैं, इसी कारण विभिन्न लोगों ने इसे विभिन्न स्थानों से सम्बन्ध किया है। वस्तुतः अपने मूल में पालि मध्यप्रदेश की भाषा है। यों उस समय वह पूरे भारत में एक अंतः प्रांतीय भाषा—जैसी थी, इसी कारण उसमें प्राथमिक बोलियों, विशेषतः बुद्ध की अपनी भाषा होने से मागधी के भी कुछ तत्व मिल गए। इस प्रकार अपने मूल रूप में पालि को शौर सेनी प्राकृत का पूर्व रूप मान सकते हैं।

पालि साहित्य का सम्बन्ध प्रमुखतः भगवान बुद्ध से है, यो कोष, छन्दशास्त्र तथा व्याकरण की भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं। परम्परागत रूप से पालि साहित्य को पिटक और अनुपिटक दो वर्गों में बाँटते हैं, जिनमें जातक (जिसे ग्रंथ न कहकर ग्रंथ—समूह कहना उचित है), धम्मपद, मिलिन्दप.. हों, बुद्धघोष की अट्टकथा तथा महावंश आदि प्रमुख हैं। पालि साहित्य का रचना काला 483 ई.पू. से लेकर आधुनिक काल तक लगभग ढाई हजार वर्षों में फला हुआ है।

पालि के प्रसिद्ध वैयाकरण कच्चायन के अनुसार पालि में या ध्वनियाँ थी— 'अक्खरापादयो एकचत्तालिस'। दूसरे प्रसिद्ध वैयाकरण मोग्गलान के अनुसार 43 ध्वनियाँ थी— अयादयो तितालिस वण्णा'।

ध्वनि—विषयक इसकी मुख्य बातें हैं:

- (1.) स्वरों में ह्रस्व ऐ, ओं दो नए विकसित हो गये हैं।
- (2.) ऋ, ॠ, लृ स्वर पूर्णतः समाप्त हो गये।
- (3.) ऐ', औ स्वर नहीं रहे।
- (4.) व्यंजनों में, वैदिक की तरह ही, पालि में भी व्य, ळ् ध्वनियाँ थी।
- (5.) विसर्ग, जिह्वामूलीय, अपध्मानीय भी नहीं रहे।
- (6.) वैदिक तथा संस्कृत में श्, ष्, स् तीन थे। पालि में तीनों के स्थान में स् हो गया।
- (7.) अनुसार पालि में स्वतंत्र ध्वनि है, जिसे पालि वैयाकरण ने निज्गहीत नाम से अभिहित किया है।
- (8.) ध्वनि—परिवर्तन की दृष्टि से घोषीकरण (माकन्दिय>मागन्दिय, उताहो>उदाहु), अधोषीकरण (यह प्रवृत्ति अधिक नहीं है। जो है, उसका कारण संभवतः पैशाची प्रभाव है: मृदगं>मुत्तिंग, परिध् >पारिख, अगुरु>अकलुं, कुसीद> कुसीत, घगल>छकल), महाप्राणीकरण (सुकुमार> सुखुमाल, परशु> फरसु, कील> खील, पल> फल), समीकरण (यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है: चत्वर>चच्चर, निम्न>निन्म, सर्व>सब्ब, मार्ग>मग्ग, धर्म>धम्म, कर्म>कम्म, जीर्ण>जिण्ण), र्-ल् का आपसी परिवर्तन (तरुण>तषुण, किल>किट), महाप्राण का ह हो जाना (भवति> होति, लघु>लघु, रुधि र>रुहिर) आदि की प्रवृत्ति मिलती है।

पालि में स्वराघात की स्थिति विवादास्पद है। टर्नर के अनुसार, पालि में वैदिकी भाँति ही संगीतात्मक एवं बलात्मक, दोनों स्वराघात था। ग्रियर्सन पालि में केवल बलात्मक स्वराघात मानते हैं, जूल ब्लाक

को पालि में किसी भी स्वराधात के होने के बारे में संदेह है। मेरे विचार में पालि में मुख्यतः बलात्मक स्वराधात ही था, यद्यपि संगीतात्मक के भी कुछ अवशेष रहने की संभावना है।

पालिभाषा, व्याकरणिक दृष्टि से, वैदिक संस्कृत की भाँति ही स्वच्छंद एवं विविध रूपोंवाली है। किन्तु साथ ही वैदिक या संस्कृत की तुलना में उसमें पर्याप्त सरलीकरण भी हुआ। यह सरलीकरण उच्चारण में समीकरण आदि के रूप में तो हुआ ही है, साथ ही सादृश्य के आधार पर विकास के कारण व्याकरण के क्षेत्र में भी हुआ है।

- (1) व्यंजनांत प्रातिपादिक प्रायः नहीं है। अंत्य व्यंजनलोप के सामान्य नियम के कारण या तो अंत्य व्यंजन लुप्त हो गये हैं। (विद्युत>विज्जु) या अंत्य स्वरागम के कारण शब्द स्वरांत (शरद—सरद) हो गए हैं।
- (2) सादृश्य के कारण भिन्न स्वरांत शब्दों के बहुत से रूप भी समान हो गये हैं। इस दिशा में अकारांत शब्दों ने अपने प्रयोग—बाहुल्य के कारण अन्यों को प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ शब्दों ने अपने प्रयोग—बाहुल्य के कारण अन्यों को प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ, इकारांत (अग्गि), उकारांत (भिक्षु) के सम्प्रदान एवं सम्बन्ध के रूप आकारांत के समान (अज्जिस्स, भिक्षुस्स) मिलते हैं।
- (3) लिंग तीन है, जैसे 'सुख' के लिए 'सुखों'।
- (4) दे, उभी जैसे दो—एक रूपों को छोड़कर पालि में द्विवचन नहीं है।
- (5) वैदिक की तरह रूपाधिक्य भी पालि में है। उदाहरणार्थ, धर्म का सं. में सप्तमी एक में केवल 'धर्मे' होगा, किन्तु पालि में धम्मे के अतिरिक्त धम्मस्ति तथा धम्महि भी हैं।
- (6) पालि सर्वनाम प्रायः पूर्ववर्ती सर्वनाम रूपों के ही ध्वनि—नियमों के अनुकूल विकसित है। इनमें एक ही अन्तर है, और वह मामूली नहीं है कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में, सारे के सारे मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप 'य' से शुरू होती है।

(Conceptual knowledge), संखार (Synthetic Mental stages), विज्ञान (Consciousness) इन संघात की अवस्थाओं को ही 'धम्म' कहते हैं। अभिधम्मपिटक के सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ 'धम्मसंणिनि' में इन धर्मों का पूर्ण विश्लेषण एवं विभाजन किया गया है। जैसे—'कुसलाधम्मा अफसलाधम्मा, अफसलाधम्मा अव्याकता धम्मा' आदि। 'अधिधम्म—पिटक' के शेष छः ग्रन्थों में इन्हीं धर्मों के स्वरूप तथा परस्पर संबंध पर विचार किया गया है। धर्मों का वर्गीकरण भी चार भाग में किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित गाथा उल्लेखनीय है— "तत्थ वृत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्तं चेतसिकं, रूप, निबानमिति सब्बाधा" अर्थात् परमार्थ की दृष्टि से अभिधर्म के चार विषय बतलाये गये हैं:—

1. (किसी वस्तु का जानने वाला) चित्त।
2. (चित्त से संयुक्त रहने वाला) चैतासिक,
3. (विकार, स्वभाव वाला) रूप और
4. (तृष्णा से विमुक्त) निर्वाण।

त्रिपिकेतर साहित्य के दो युग—प्रथम युग और द्वितीय युग किये जा सकते हैं।

प्रथम युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना 'मिलिन्द पंच हो' (मिलिन्द प्रश्न) है। इसमें राजा मिलिन्द तथा भिक्षु, नागसेन के प्रश्नोत्तर हैं। इस ग्रंथ की गणना त्रिपिटक के अन्तर्गत नहीं है, फिर भी इसकी प्रामाणिकता उससे कम नहीं मानी जाती। अठ्ठ कथाचार्य बुद्धघोष तक ने कई बातों को पुष्ट करने

NOTES

के लिए स्थान-स्थान पर 'मिलिन्द प्रश्न' का प्रमाण दिया है। यह ग्रंथपूर्ण रूप से स्वविखादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है और बौद्ध जनता में इसका आउर है। यहाँ मिलिन्द से तात्पर्य वैकिट्टया के राजा मिनाण्डर से है। 'मिलिन्दप्रश्न' के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसके प्रणेता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं। इस ग्रंथ की शैली पालिकी अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है।

पालि में त्रिपिटकेतर-साहित्य का दूसरा युग 5वीं से 11वीं शताब्दी तक माना जाता है। इस द्वितीय युग का प्रारंभ त्रिपिटक की अट्ठकथाओं (अर्थकथाओं) से होती है। पालि अट्ठकथाओं का आधार प्राचीन सिहली में लिखित अट्ठकथाएँ हैं। इस अट्ठकथा साहित्य के प्रणेता आचार्य बुद्धघोष बतलाये जाते हैं, जिनका समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी निश्चित है। बुद्धघोष ने निम्नलिखित अट्ठकथाएँ लिखी-1. विनय पिटक- क. समनत-पासादिका-विनयपिटक की अट्ठकथा। ख. कंखावितरणी-पातिमोक्ख की अट्ठकथा। 2. सुत्तपिटक- (ग.) सुमंगल विलासिनी-दीघनिकाय की अट्ठकथा (घ.) पपंचसूदनी-मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा, (ङ) सारत्थपकासिनी-संयुक्त-निकाय की अट्ठकथा, (च.) मनोरथपूरणी-अंगुत्तर निकाय- की अट्ठकथा (छ.) परमत्थजातिका-खुद्वकानिकाय के सुदुकपाठ तथा सुत्त-निपात की अट्ठकथा। 3. अभिधम्म पिटक (ज.) अट्ठसालिनी-धम्मसंगिनि की अट्ठ कथा, (झ.) सम्मोह-विनोदिनी विभंग की अट्ठकथा (ञ) पपंचण्णकरण कथा-अभिधम्मपिटका की 'धातु कथा', पुग्गल पजन्ति, 'कथावत्थु', 'यमक तथा पट्ठानप्पकरण' की अट्ठकथा।

अट्ठकथाओं के अतिरिक्त बुद्धघोष की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'विसुद्धिजा', (विशुद्धिमार्ग) है इसमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है। यदि इसे बौद्ध-सिद्धान्तों का कोश कहा जा सकता कि 'जातकट्ठकथा' (जातक की अर्थकथा) के प्रणेता भी आचार्य बुद्धघोष ही हैं। बुद्धघोष के साथ-साथ बुद्ध दत्त का भी उल्लेख आवश्यक है। परम्परानुसार ये बुद्धघोष के समकालीन थे। कहा जाता है कि इन्होंने 'बुद्धवंश' पर मधुरत्थविलासिनी अथवा 'मधुरत्थपकासीननी' नामक अट्ठकथा की रचना की थीं। इनकी अन्य अनेक रचनाएँ भी कहीं जाती हैं; बुद्धत्त के बाद आनन्द का नाम आता है। ये भारतीय थे और 'मूलटीका' तथा 'अनिधम्मटीका' के रचयिता थे। धम्मपाल की 'परमत्थदीपनी' टीका और उसके अन्य ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं।

बुद्धघोष के पश्चात धम्मपाल ही पालि-साहित्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाकार हैं। बहुत सम्भव है कि धम्मपाल नाम के अन्य टीकाकार भी हुए हो और उनकी कृतियाँ विख्यात टीकाकार धम्मपाल के नाम से प्रचलित हो गयी हो। धम्मपाल का समय भी विवादग्रस्त है।

पालि साहित्य के प्राचीन टीकाकारों की सूची में चुल्ल धम्मपाल, उपसेन महानाम, कस्सप, वजिरबुद्धि, खेन, अनुरुद्ध आदि अन्य नाम भी गिनाने योग्य हैं। विनयपिटक सम्बन्धी दो और ग्रंथों का उल्लेख भी आवश्यक है। ये हैं- धम्मसिरिकृत 'खुद सिक्खा' तथा महासामिन द्वारा रचित 'मूल सिक्खा'। इनमें भिक्षुओं के लिए संघ-सम्बन्धी नियमों के संग्रह हैं और कण्ठाग्र करने के लिए पद्य-बद्ध किये जये हैं। इनकी भाषा तथा शैली से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनाएँ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं हैं।

पालि साहित्य में 'दीपवंस' तथा 'महावंस' इतिहास सम्बन्धी ग्रंथ हैं। ये दोनों वस्तुतः सिंहल के इतिहास हैं। इन दोनों के विषय भी एक ही हैं। दोनों में केवल विषय की ही समानता नहीं है। बल्कि दोनों का वर्णन-क्रम भी एक ही है। 'महावंस' 'दीपवंस' के पीछे की रचना है, परन्तु काव्य की दृष्टि से 'दीपवंस' जहाँ नीरस और शुष्क है, वहाँ 'महावंस' एक सरस तथा श्रेष्ठ महाकाव्य है।

त्रिपिटक साहित्य विशाल है। बर्मी, सिहली, श्यानी तथा रोमन लिपियों में मूल त्रिपिटक प्रकाशित हो चुका है, किन्तु नागराक्षरों में यह उपलब्ध नहीं है। इधर जबसे कलकत्ता तथा सारनाथ में बौद्ध विहार बने और भारत के कतिपय निवासियों ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ली, तब से मूल त्रिपिटक और उसके अनुवाद को हिन्दी में प्रकाशित करने का प्रश्न स्वाभाविक रूप में उनके सामने आया। ऐसे लोगों में

राहुल सांकृत्यान अग्रणी है। सर्वप्रथम आपने 'सुत्तपिटक' के दो निकायों—मज्झिम तथा दीघ—एवं विनय पटिककका हिन्दी अनुवाद, महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित किया। इसके अनन्तर वर्मा के भिक्षु, उत्तम की सहायता से आपने 'खुद्धक निकाय' के ग्यारह ग्रंथों को मूल रूप में भी प्रकाशित किया। राहुल के मार्ग का अनुसरण भदन्त आनन्द कौसल्यामन ने किया। आपने 'जातक' का हिन्दी अनुवाद लगभग छः खण्डों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित किया। अभी तक यह कार्य पूरा नहीं हो सका है। इधर राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से त्रिपिटक को नागराक्षरों में प्रकाशित करने का भार भारतीय सरकार ने अपने ऊपर ले लिया है। यह कार्य 'नालन्दा' पालि 'इंस्टीट्यूट' के तत्त्वावधान में चल रहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पालि प्राकृत का ही आरंभिक रूप है, जो संस्कृत से सरल है। पालि भाषा के अतिरिक्त इस काल में भाषा के अन्य रूप भी मिलते हैं। इस दृष्टि से अभिलेखनीय प्राकृत, नित्यप्राकृत और अध्यघोष के नाटकों की भाषा उल्लेखनीय है। अभिलेखीय भाषा में सूक्तियों का विशेष महत्त्व है। इस भाषा के अन्तर्गत अशोक के शिलालेखों, साँची और भरहुत के अभिलेखों, सारनाथ के कनिष्क कालीन अभिलेखों आदि की भाषाओं की गणना होती है। ये लेख तीसरी शताब्दी ई.पू. और पन्द्रहवीं ई.शती के बीच विभिन्न समयों एवं स्थानों में लिखे गए हैं। इनमें अशोक के शिलालेख भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं, जिनको लघु शिलालेख, चतुर्दश शिलालेख, कलिंग लेख तथा गुफालेख आदि आठ खण्डों में विभक्त किया गया है। ये शिलालेख जन साधारण के लिये अनेक बोलियों में लिखे गये हैं, जिनमें प्रमुख तीन हैं—

1. शाहाबाजगढ़ी एवं मानसेरा शिलालेखों की पश्चिमोत्तरी जनभाषा,
2. गिरनार आदि अभिलेखों की पश्चिमी—दक्षिणी जनभाषा और
3. धौली, सारनाथ, भाबू आदि शिलालेखों की प्राच्य जनभाषा।

इनमें प्राच्यभाषा प्रमुख है, और उसका प्रभाव प्रथम दोनों पर ही है। अतः पारस्परिक अन्तर होते हुए भी अपनी प्रमुख विशेषताओं में ये तीनों भाषाएँ एक हैं। पालि के स्वरूप पर विचार करते हुए डॉ. हरदेव बाहरी ने लिखा है कि, "ब्राह्मणों की देववाणी और विद्रोहियों की जनवाणी में शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा—कभी संस्कृत का तो कभी प्राकृत का पक्ष सबल होकर देश में व्याप्त रहा। उत्तर—पश्चिमी भारत में संस्कृत को संस्कृति, साहित्य और राजनीति के अनेक केन्द्रों में प्रतिष्ठित किया गया और मध्यप्रदेश की इस भाषा का दबदबा सारे भारत में ही नहीं, बल्कि बाहरी देशों में भी माना जाता था। किन्तु, जनभाषा तो अमर हुआ करती है। पूर्व में जनभाषा को उठाने का जो पराक्रम महात्माबुद्ध और महावीर जैन ने किया वह जारी रहा। पाटलिपुत्र एक बहुत बड़े राज्य की राजधानी बना और चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमी, सत्ताओं को दबाकर मगध की सत्ता को प्रसारित किया। चन्द्रगुप्त की विजयों के बाद उनके पौत्र सम्राट अशोक ने देश के निर्माण का कार्य किया। जिस भाषा नीति को धर्म सफलतापूर्वक अग्रसर नहीं कर सका, उसे अशोक ने राजसत्ता द्वारा आगे बढ़ाया। उसने धर्म और शासन सम्बन्धी अपने आदेश साम्राज्य के विभिन्न भागों में पहुँचाने के लिए शिलाओं, स्तम्भों और भित्तियों पर खुदवाये। ये अभिलेख कलिंग, नेपाल की तराई, जिला चम्पारन, सहसराम, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर, कौशाम्बी, कालसी, दिल्ली, अम्बाला, मेरठ, इलाहाबाद, सारनाथ, साँची, जबलपुर, जयपुर, रावलपिंडी, पेशावर इत्यादि स्थानों के निकट पाये गये हैं। यद्यपि इससे तत्कालीन तीन आर्य बोलियों का परिचय मिलता है— उत्तर पश्चिमी, मध्य देशीय और प्राच्य, किन्तु वास्तव में सर्वत्र पाटलिपुत्र की राजभाषा का रूप छाया हुआ है। मौर्यकाल के अंत तक पूर्वी भाषा का दबदबा रहा है, फिर भी उसे उतनी व्यापकता अथवा मान्यता कभी प्राप्त नहीं हुई, जितनी मध्य देशीय आर्यभाषा को।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी के उद्गम की स्थितियों में अशोक के अभिलेखों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, और दूसरी बात यह है कि पूर्व का जो प्रभाव अभिलेखीय भाषा में लक्षित होता

है, वह पश्चिम की जनभाषा अथवा साहित्यिक भाषा पर नहीं पड़ा। इस काल की भाषा को देखकर एक—दो बातें अवश्य सामने आती हैं— प्रथम तो यह कि उत्तर पश्चिम में ल की अपेक्षा र का और न की अपेक्षा ण का अधिक प्रयोग होता था और दूसरे यह कि व—ब तथा स—श बराबर चलते थे। ऐसा लगता है कि व्याकरण के सरलीकरण की प्रक्रिया जारी रही। साथ ही, साहित्यिक प्राकृतों के विकास को समझने के लिए पालि के ऐतिहासिक महत्त्व को समझना जरूरी है।

प्राकृत

मध्यकालीन आर्य भाषा के प्रारंभ में पीछे 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। ऐसा अनुमान लगता है कि जनभाषा का संस्कार करके जब उसे 'संस्कृत' संज्ञा में विभूषित किया गया तो वह जनभाषा, जो उसकी तुलना में असंस्कृत थी और पण्डितों में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध, जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में बोली जाती थी, सहज ही 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी। 'प्राकृत' शब्द के दो अर्थ हैं। पहले अर्थ में यह 5वीं सदी ई.पू. से 1000 ई. तक की भाषा है, जिसमें प्रथम प्राकृत में 'पालि' और अभिलेखी प्राकृत है।, द्वितीय प्राकृत में भारत और भारत के बाहर प्रयुक्त में अपभ्रंश एवं तथाकथित अवहट्ट आती है। दूसरे, केवल द्वितीय प्राकृत के लिए भी प्राकृत नाम का प्रयोग होता है। यहाँ, 'प्राकृत' शब्द इसी दूसरे अर्थ में ही प्रयुक्त किया जा रहा है।

प्राकृतों के धर्म, प्रदेश, प्रयोग, लेखन—आधार आदि के आधार पर कई भेद किए गए हैं। जिनमें मुख्य शौरसेनी, पेशाची, महाराष्ट्रीय, अर्थमागधी, मागधी, केकय, टक्क, ब्राचड, खच आदि हैं। यह प्राकृत मूलतः मथुरा या शूरसेन के आस—पास की बोली थी। इसका विकास वहाँ की पालिकालिन स्थानीय बोली से हुआ था। मध्यप्रदेश की भाषा होने के कारण इसे कुछ लोग संस्कृत की भाँति उस काल की मानक भाषा मानते हैं। मध्यप्रदेश संस्कृत का केन्द्र था, इसी कारण शौरसेनी उससे बहुत प्रभावित है। इस प्रभाव के कारण शौरसेनी में अपेक्षाकृत प्राचीनता है तथा यह कुछ कृत्रिम है। संस्कृत नाटकों की गद्य की भाषा शौरसेनी ही है। कपूरमंजरी का गद्य इसी में है। इसका प्राचीनतम रूप अवश्वघोष के नाटकों में मिलता है। जैनों (दिगम्बर सम्प्रदाय) ने अपने सम्प्रदायिक ग्रंथों के लेखन में भी इसका प्रयोग किया है। शौरसेनी में तत्सम शब्द अपेक्षाकृत अधिक हैं। शौरसेनी की प्रमुख विशेषाएँ ये हैं:

1. असंयुक्त तथा दो स्वरों के बीच आने वाला सं त् इसमें द् हो गया है और थ्, ध् (गच्छति, गच्छदि, कथम, कधीहि)
2. क्ष का विकास सामान्यतः क्स् में हुआ है (इक्षु, इक्खु, कुक्षि, कुक्खि)। यह उल्लेख है कि महाराष्ट्री में यह च्छ (इक्ष, उच्छु) हो जाता है।
3. ऋ का विकास इ है: (गद्ध, गिद्ध)
4. संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण की प्रवृत्ति है, किन्तु अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री आदि से कम (कतुम, कादु, उत्सव, उस्सव, ऊसव)। यह भी उल्लेख है कि ऐसी स्थिति में क्षतिपूर्वक दीर्घीकरण (अ, आ, उ, ऊ) की प्रवृत्ति भी है।
5. आदरार्थ आज्ञा के रूप महाराष्ट्री एवं अर्द्धमागधी की भाँति—एज्ज—लगाकर (वट्टेज्ज) नहीं बनते। वे संस्कृत के अनुसार है: सं. (बतैत, वट्टे)।
6. केवल परस्मैपद का प्रयोग मिलता है, आत्मनेपद का प्रायः नहीं।
7. रूपों की दृष्टि से यह कुछ बातों में संस्कृत की ओर झुकी है, जो मध्यप्रदेश में रहने का प्रभाव है, किन्तु साथ ही, महाराष्ट्रीय का भी इससे काफी साम्य है।

भार में 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। ये उत्तर पश्चिम में कश्मीर के पास रहते थे। ग्रियर्सन पेशाची को वहीं की 'दरद' से प्रभावित भाषा मानते हैं। हार्नले इसे द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत मानते हैं।

पुरुषोत्तम देव ने अपने प्राकृतानुशासन में संस्कृत और शौरसेनी का इसे विकृत रूप माना है। इस प्रकार इसको लेकर काफी विवाद है। पैशाची में साहित्य नहीं के बराबर है। यों ऐसा अनुमान लगाने का आधार है कि कभी इसमें काफी साहित्य था। गुणादय का वृहत् कथा-संग्रह 'वृहत्कथा' मूलतः इसी में था। इसके अब केवल दो संस्कृत रूपांतर ही-वृहत्कथामंजरी, कथासरितसागर-शेष है। हम्मिरगर्दन तथा कुछ अन्य नाटकों में कुछ पात्रों ने इसका प्रयोग किया है। इसकी मुख्य विशेषता है: दो स्वरों के बीच में आने वाला स्पर्श वर्गों के तीसरे और चौथें घोष व्यंजनों का क्रमशः पहला और दूसरा अर्थात् अघोष हो जाना: गगन, गरून, मेघः, मेखो, दामोदर, तामोतर, राजा, राजा, राचा। किसी भी भाषा में अघोषिकरण के कुछ उदाहरण तो मिलते हैं, किन्तु ऐसी सामान्य प्रवृत्ति नहीं मिलती।

इस प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है। जूल ब्लाक ने मराठी का विकास इसी के बोलचाल के रूप में माना है। कुछ लोग इसे केवल महाराष्ट्र तक सीमित न मानकर महाराष्ट्र, अर्थात् पूरे भारत की भाषा मानते रहे हैं। महाराष्ट्री प्राकृत साहित्य की दृष्टि से बहुत धनी है। यह काव्य-भाषा रही है। गाहा सत्सई (हाल), रावण वहो (रावरसेन) तथा वज्जालग्न (जयवल्लभ) इसकी कृतियाँ हैं। महाराष्ट्री की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ये हैं: 1. इसमें दो स्वरों के बीच आनेवाला अल्पप्राण स्पर्श (क्, तृ, प, द, ग, आदि प्रायः लुप्त हो गए हैं। (प्राकृत, पाउअ, गच्छति, गच्छई)। 2. उसी स्थिति में महाप्राण स्पर्श (ख, थ, फ, ध, घ) का केवल 'ह' रह गया है (क्रोधः, कोहो, कथयति, कहेर, मुख, मुह)। 3. ऊष् ध्वनियों (स, श) का प्रायः 'ह' हो गया है (तस्य, ताह, पाषाण, पाहाण)

अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच में है, अर्थात् यह प्राचीन कोसल के आस-पास की भाषा हैं इसमें मागधी की प्रवृत्तियाँ पर्याप्त मात्रा में (तथा कुछ शौरसेनी की) मिलती हैं। इसीलिए इसका नाम अर्धमागधी है। इसका प्रयोग प्रमुखतः जैन साहित्य में हुआ है। इसकी कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं:

1. ष, श् के स्थान पर प्रायः स् (श्रावक, सावग, वर्ष, वास) का प्रयोग।
2. अनेक स्थलों पर दंत्य ध्वनियों को मूर्धन्य हो जाना (स्थित-टिय, कृत्वा-कट्टु)। यह प्रवृत्ति अन्य प्राकृतों की तुलना में इसमें अधिक है।
3. चवर्ग के स्थान पर कहीं-कहीं तवर्ग मिलता है। (चिकित्सा-तेइच्छा)।
4. जहाँ कुछ अन्य प्राकृतों में स्वरों के बीच स्पर्श का लोप मिलता है, (सागर, सामर, स्थित, ठिय)
5. गद्य और पद्य की भाषा के रूपों में अन्तर है। सं.-अः (प्रथमा एकवचन) के स्थान पर प्रायः गद्य में मागधी की तरह 'ए' का प्रयोग हुआ है, और प्रायः पद्य में शौरसेनी के समान 'ओ' का।

मागधी का मूल आधार मगध के आसपास की भाषा है। लास्सन महाराष्ट्री एवं मागधी को एक मानते थे। कुछ लोग इसका सम्बन्ध महाराष्ट्र से मानते हैं। मागधी में कोई स्वतंत्र रचना नहीं मिलती। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष में मिलता है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:-

1. इसमें स्, ष, के स्थान पर 'श' मिलता है। (सप्त, शत्, पुरुष, पुलिश)। 2. इसमें 'र' का सर्वत्र 'ल' हो जाता है (राजा, लाजा)। 2. प्रथमा एकवचन में संस्कृत-अः के स्थान पर यहाँ ए मिलता है। (देवः देव, सः शे) के कय प्राकृत का क्षेत्र प्राचीन केकय प्रदेश था, जहाँ आज लहँदा (पाकिस्तान में) बोली जाती है। इसकी विशेषताओं के संदर्भ में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। टक्क प्राकृत का क्षेत्र वह है जो मूलतः पंजाबी का क्षेत्र है, अर्थात् भारत का पंजाब तथा पाकिस्तान के पंजाब प्रांत का कुछ भाग। इसके सम्बन्ध में भी कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। इसी तरह खास-नाम की प्राकृत का भी कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु सुनीति कुमार चटर्जी तथा कुछ अन्य लोग हिमालय प्रदेश, गढ़वाल, कुमायूँ तथा नेपाल में बोली जाने वाली पहाड़ी बोलियों का विकास 'खस' अपभ्रंश से मानते हैं। यदि

NOTES

वहाँ कोई खस अपभ्रंश थी तो उसकी पूर्वजा प्राकृत को 'खस प्राकृत' कहा जा सकता है। इस क्षेत्र में शौरसेनी प्राकृत का ही एक उत्तरी रूप था, जो कुछ स्थानीय विशेषताओं में ही परिनिष्ठित शौरसेनी से भिन्न था। ग्रियर्सन का यह मानना की पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी का विस्थापित रूप हैं, मेरी उपर्युक्त मान्यता का समर्थन करता है। ब्राह्मण उपभ्रंश की पूर्वजा प्राकृत के लिए इस नाम का प्रयोग किया जा रहा है। इसका क्षेत्र प्राचीन सिंध-क्षेत्र था। कल्पित नामा इस प्राकृत के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है।

प्राकृतभाषा की कुछ सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं— ध्वनि की दृष्टि से प्राकृत भाषाएँ पालि के पर्याप्त निकट है। इसमें भी पालि की तरह ह्रस्व ए और ओ और व्, वह का प्रयोग चलता रहा। ऐ, औ, श्रृह, लृ का प्रयोग नहीं हुआ। ऋ का प्रयोग लिखने में तो हुआ किन्तु भाषा में यह ध्वनि थी नहीं। उष्मों में पालि में केवल 'स' का प्रयोग था। प्राकृत में पश्चिमोत्तरी क्षेत्र में श्, ष, स् तीनों ही कुछ काल तक थे। मागधी में केवल 'श' है। अन्य बहुतों में पालि की तरह प्रायः केवल 'स' (जैसे अर्धमागधी में) मिलता है, और कुछ में श्, ष (पैशाची) प्राकृतों में 'न' का विकास प्रायः 'ण' रूप में हुआ है। ध्वनियों के विकास के कुछ विशेष रूप भी इस काल में दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि वे सार्वभौम न होकर प्रायः क्षेत्रीय अधिक हैं: (क) स्वर— मध्यग—अधोष अल्प्राण स्पर्श का घोष (मूक: मूगो, लेष्टु, लेड्डु) (ख) स्वरमध्यम घोष और अधोष अल्प प्राण स्पर्श का लोप (सागर, साअर), (ग) महाप्राण, भवति, होति, मुख, मुह, कथा, कहा। प्राकृतों में व्यंजनान्त शब्द प्रायः नहीं है। द्विवचन के रूपों का प्रयोग (संज्ञा, क्रिया आदि में) प्राकृतों में नहीं मिलता। 'नीय' प्राकृत अपवाद है जिसमें कुछ द्विवचन के रूप हैं। वैदिकी और संस्कृत संयोगात्मक भाषाएँ थी। पालि में भी यह विशेषता सुरक्षित है, किन्तु प्राकृत-काल पे भाषा अयोगात्मक या वियोगात्मकता की ओर तेजी से बढ़ने लगी। प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोग में नहीं आ गयी। अपने नैसर्गिक रूप में यह वैदिक काल के पूर्व भी वर्तमान थी। वैदिक भाषा को स्वयं उस काल में प्रचलित प्राकृत बोलियों का साहित्यिक रूप माना जाता रहा। प्राकृत महाकाव्य 'गुडवहो' का यह उल्लेख "समालाओ इसं वाया विसन्ति एतों य गति बायाओं एति समुद्धचित पोंति सामरोओच्चिम चलाई" अर्थात् जिस प्रकार जल में समुद्र में प्रवेश करता है और भाप बनकर पुनः समुद्र के बाहर आता है, उसी प्रकार प्राकृत से सब भाषाओं का उद्गम होता है और उसी में सभी भाषा फिर समाहित हो जाती हैं। यह बात सर्वथा ठीक जान पड़ती है। यह प्राकृत का व्यापक अर्थ है। भाषा का यही स्वच्छन्द रूप स्वानगत ओर कालगत विभिन्नताओं के कारण 500 ई. पू. से 1,000 ई. तक पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के रूप में विकसित हुआ। प्राकृत उस काल में लोकप्रिय भाषा बन गयी थी, जैसा राजशेखर ने स्पष्ट भी किया है कि प्राकृत भाषा स्त्री के सदृशसुकुमार और संस्कृत पुरुष के समान कठोर है। वैयाकरणों ने संभवतः संकुचित अर्थ में साहित्यिक प्राकृत का मूल आधार संस्कृत भाषा को माना है। यद्यपि यहाँ पर संस्कृत का आशय प्राचीन भाषा और आर्यभाषा के स्वच्छन्द रूप वैदिक गतिण से लेना युक्ति संगत होगा, क्योंकि संस्कृत तो स्वयं ही लोक-भाषा का संस्कार किया हुआ रूप है। व्यापक अर्थ के अनुसार प्राकृत का प्रारंभिक रूप पालि, मध्यकालीन रूप के अन्तर्गत साहित्यिक प्राकृत एक विशिष्ट रूप है। मध्यकालीन रूप प्राकृत तथा उत्तरकालीन रूप अपभ्रंश कहा गया है इसके मुख्य भेद शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि हैं, जिनका उद्भवकाल 100 ई.से. 600 ई. तक माना जाता है। इसके अतिरिक्त नाटकीय प्राकृत, शिलालेखी प्राकृत, नित्यप्राकृत का भी विभाजन किया गया है। संस्कृत के शब्दों में पर्याप्त ध्वनि परिवर्तन, विभक्तियों में एकीकरण, कतिपय व्यायाकरण—सिद्ध रूपों का हास आदि प्राकृत की मुख्य विशेषताएँ हैं। तृतीया, चतुर्थी, पंचमी तथा षष्ठी की समान विभक्तियाँ मिलती हैं।

प्राकृत, अर्धमागधी यह शौरसेनी प्रभावित मागधी प्राकृत है, पूर्ण मागधी न होने के कारण इसे यह संज्ञा दी गयी है। इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच का क्षेत्र माना जाता है। अपनी साहित्यिक तथा धार्मिक महत्ता के कारण यह 'आर्ष' प्राकृत— के नाम से अभिहित की गयी है। इसके पुराने और

नये, दो रूपों का अनुमान किया गया है। जैन धर्म की यह प्रधान भाषा थी। विशुद्ध जैन साहित्य का प्राकृत वाङ्मय में अत्यधिक महत्त्व है। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मों को व्यापक बनाने में इस भाषा का विशेष हाथ रहा है।

वैयाकरणों ने पैशाची को शौरसेनी—प्रभावित भाषा माना है। यह प्राचीन प्राकृत मानी गयी है। पिशाच क्षेत्र में प्रचलित होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। पिशाच संभवतः में अनार्य जाति थी और द्रविड़ों से इनका घनिष्ठ संबंध था। इसका क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर भागवा बोलियाँ तथा भाषाएँ कश्मीरी, सीना, दरदी, काफरी, चित्राली, इसकी उत्तराधिकारिणी कही गयी है। इसकी प्राचीन रचना गुणादय—रचित 'वृहत्कथा' का उल्लेख परवर्ती आचार्यों और लेखकों की कृतियों में हुआ है। किन्तु यह अब उपलब्ध नहीं होती। क्षेमेन्द्र—रचित 'बृहत्कथा मंजरी, सोमदेव कृत, 'कथासरित सागर' बुद्धस्वामिन—रचित 'बृहत्कथा लोक संग्रह' आदि ग्रंथों में इसके संस्कृत रूपां तरिते अंश मिलते हैं। इसका एक उपभेद चूलिका पैशाची भी है।

प्राकृत, महाराष्ट्री को महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा मान लेना युक्तिसंगत न होगा। हार्नले के मतानुसार 'महाराष्ट्र' का आशय महान राष्ट्र से लेना चाहिए। यह ठीक भी है, क्योंकि मध्यकाल में महाराष्ट्री व्यापक क्षेत्र की भाषा थी। वैयाकरणों ने संभवतः इसलिए महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत मानकर अन्य प्राकृतों की कतिपय निजी विशेषताएँ देकर शेष को महाराष्ट्री के सदृश कह दिया है। "शेषण महाराष्ट्रीयवत"। महाराष्ट्री को स्टैण्डर्ड प्राकृत भी कहते हैं। संभवतः महाराष्ट्रीय सदृश प्राकृत को लक्ष्य करके ही संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत को सुकुमार भाषा की संज्ञा दी गयी। विद्वानों द्वारा यह महाराष्ट्री उत्कृष्ट प्राकृत मानी गयी है। "महाराष्ट्रसमां भाषां प्रकृष्ट। प्राकृतम विदुः"। महाराष्ट्री का पद्य साहित्य का सम्पन्न है। सुरों का बाहुल्य होने के कारण काव्य रचना के लिए यह बहुत उपयुक्त भाषा सिद्ध हुई। इसमें लौकिक तथा धार्मिक, दोनों प्रकार की विशेष साहित्यिक रचनाएँ मिलती हैं। इसका विस्तृत परिचय प्राकृतों—के साहित्यिक प्रकरण में दिया गया है।

प्राकृत मागधी पूर्व में बिहार प्रदेश के प्राचीन 'मगध' राज्य के नाम पर इसका नामकरण हुआ। अर्वाचीन बिहारी बोलियों में मगही का इससे नाम साम्य है। पूर्वी क्षेत्रों में मागधी व्यापक प्राकृत थी। यह गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा कही जाती है। इसका स्वतंत्र साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखों तथा संस्कृत नाटकों में भिन्न श्रेणी के पात्रों की भाषा के रूप में यह सुरक्षित है। इसके उपभेद साकारी, चाण्डाली, ढक्की शाबरी मुख्य है। व्याकरणों में इसका मुख्य आध गार शौरसेनी प्राकृत माना है। प्राकृत शौरसेनी प्राचीन आर्य—भाषाओं के काल में मध्य देश शिष्ट तथा साहित्यिक भाषा का क्षेत्र रहा है। अतः वहाँ की भाषा 'मध्यदेशी' के नाम से अभिहित की गयी। यही बाद में शौरसेवी प्राकृत का क्षेत्र हुआ। प्राचीन 'शुरसेन' जनपद के नाम पर इसका नामकरण किया गया। मथुरा इसका केन्द्र था। इसी क्षेत्र में शौरसेनी का कालान्तर में विकास आर्वाचीन लोकव्यापी, ब्रजभाषा के रूप में हुआ। शौरसेनी न केवल अपने क्षेत्र की व्यापक भाषा थी वरन् अन्य प्राकृतों के भाषा, क्षेत्रों को भी इसने यथिष्ट रूप में प्रभावित किया तथा कई उत्तर और पश्चिमोत्तर भाषाओं के उद्भव में सहायता की। इस क्षेत्र में अधिक राजनीतिक उथल—पुथल होने के कारण इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल संस्कृत नाटकों तथा जैन धर्म के ग्रंथों में यह सुरक्षित मिलती है। वररुचि तथा हेमचन्द्र ने जैन धर्म के ग्रंथों में इसकी विशेषताओं का विस्तृत परिचय दिया है। प्राकृत (साहित्य) ब्राह्मण धर्म के हास के साथ—साथ संस्कृत भाषा का महत्त्व भी घटा और लोकप्रचलित भाषाओं को प्रश्रम मिला।

वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने अर्धमागधी प्राकृतों को अपने उपदेशों को माध्यम बनाया तथा शिक्षित वर्ग में भी प्राकृत भाषा का प्रयोग होने लगा। अतः भारतीय मध्ययुग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि तथ्यों की सम्यक जानकारी प्राकृत वाङ्मय से जितनी संभव है, उतना किसी अन्य साहित्य से नहीं। प्राकृत साहित्य का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

1. मध्यकालीन आर्य भाषा 'प्राकृत' का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. 'पालि' भाषा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. प्राकृत भाषा की सामान्य विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

NOTES

शौरसेनी महाराष्ट्री, मगधी, मर्द्धमागधी, पैशाची मुख्य प्राकृत-भाषाएँ हैं। इन प्राकृतों के अतिरिक्त महाराष्ट्रीयकरण का उपभेद जैन-महाराष्ट्री तथा शौरसेनी का जैन-शौरसेनी है, जिनका नामकरण पाश्चात्य विद्वान हरमन भाकोषी ने किया। प्राकृत के अन्य भी कई भेद उपभेद हैं। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। अनेक शिलालेख भी प्राकृत भाषा में मिलते हैं, किन्तु इनकी गणना प्राकृत के साहित्यिक रूप के अन्तर्गत नहीं की जाती। संस्कृत और प्राकृत के संक्रान्तिकला में संस्कृत प्रभावित प्राकृत का रूप 'गाथा' अथवा पापुलर संस्कृत के नाम से अभिहित किया गया है, किन्तु उसमें उपलब्ध साहित्य शुद्ध प्राकृत साहित्य के अंतर्गत परिगणित नहीं होता। उस काल में जैन धर्म तथा जनसाधारण के कार्य व्यवहार की भाषा प्राकृत थी। उपलब्ध धार्मिक तथा लौकिक प्राकृत साहित्य न्यून ही है, उसका कुछ साहित्य आज काल कवलित हो चुका है अथवा अन्धकार के गर्भ में लुप्त पड़ा है।

धार्मिक साहित्य किसी भी भाषा के साहित्य का महत्वपूर्ण अंग होता है। उसकी अपेक्षा किसी प्रकार नहीं की जा सकती। प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत इसका और भी महत्व है, क्योंकि तत्संबंधी उपलब्ध साहित्य प्रचुर मात्रा में है और साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का है। लगभग 100 ई. से लेकर 700 ई. तक साहित्यिक प्राकृत का उद्भव काल माना जा सकता है यद्यपि इसके बाद सात-आठ शताब्दियों तक प्राकृत ग्रंथ लिखे जाते रहे। महावीर स्वामी की स्थिति तो बहुत पहले की है, किन्तु उनके उपदेशों का संकलन बहुत बाद में हुआ। ई. शताब्दी के बाद से इन ग्रंथों का रचना-काल निर्धारित किया जा सकता है। जैन धर्म से संबंधित विविध-विषयक रचनाएँ जो गद्य तथा पद्य शैलियों में समय-समय पर रची गयीं। काफी सम्पन्न हैं। अनेक प्रबंध तथा मुक्तक काव्य भी इस काल में स्वतंत्र रूप में लिखे गये, जिनकी टक्कर की रचनाएँ संस्कृत में नहीं मिलती। इनके अतिरिक्त प्राकृत भाषा का प्रयोग संस्कृत नाटककारों ने अपने नाट्यग्रंथों में किया। कुछ नाटक तो पूर्णतया प्राकृत में ही लिखे गये। अतएव प्राकृत साहित्य का विभाजन लौकिक काव्य तथा धार्मिक साहित्य के रूप में किया जा सकता है। यहाँ सर्वप्रथम लौकिक काव्य के प्रमुख ग्रंथों पर विचार किया जा रहा है।

पहले कहा जा चुका है कि उस काल में महाराष्ट्री, काव्य की प्रधान भाषा के रूप में प्रचलित हो गयी थी। काव्य-रचनाएँ प्रायः महाराष्ट्री में ही उपलब्ध होती हैं। प्रबंध-काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य तथा खण्डकाव्य- 'रावण बहो', 'लीलाबाई', 'सिर-चिधकव्य', 'उसाणिरुद्धकंसवहो' आदि दोनों प्रकार के ग्रंथ उपलब्ध हैं। 'गाहासत्तसई', 'बज्जालगंग' आदि के अतिरिक्त फुटकर गीतों का कतिपय संकलन रीति-शास्त्र के ग्रंथों तथा संस्कृत एवं प्राकृत नाटकों में मिलता है। इनका अभी समुचित संग्रह नहीं हुआ है।

'रावणवहो' (रावधवध) महाराष्ट्री प्राकृत का अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसका अनुवाद संस्कृत में 'सेतुबन्ध' के नाम से हुआ है। इसका अन्य नाम 'दहमुहवहो' भी है। यह सातवीं शताब्दी के पूर्व की रचना है, क्योंकि बाण-रचित 'हर्ष-चरित' की भूमिका में 'सेतु' नाम से इसका उल्लेख मिलता है। दण्डी ने 'काव्यदर्श' में इसे बाण से काफी पूर्व की रचना मानते हैं। कश्मीर के राजा प्रवरसेन द्वितीय को इसका लेखक माना जाता है। कुछ राज्याश्रित कवि की कृति को मानते हैं, राजा प्रवरसेन के किसी राज्याश्रित कवि है। ग्रंथ 15 आशवासों में विभाजित है। पूर्वाध में सेतु बाँधने का वर्णन है और उत्तरार्ध में मानवीय प्रकृति के सूक्ष्म चित्रण में कवि की कुशलता प्रकट होती है। ग्रंथ में समासप्रधान शैली तथा आर्या छन्द को प्रश्रय मिला है। वर्ण्यविषय, भाषा तथा शैली की दृष्टि से प्राकृत साहित्य की यह अनुपम रचना है। इसका प्रकाशन संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओं में हुआ है। महाराष्ट्री प्राकृत का दूसरा 'गडवडवहो' है, जिसके रचयिता 'बप्पइराअ' (वाकपतिराज) है। ये कन्नौज के राजा यशोवर्मन के आश्रित कवि थे। जिनका उल्लेख कवि ने छन्द-संख्या 799 में किया है। ग्रंथ का रचना काल आठवीं शताब्दी माना जाता है। यह 1209 आर्या छन्दों में लिखी हुई उत्कृष्ट रचना है। वर्ण्य विषय ऐतिहासिक है। इसमें राजा यशोवर्मन द्वारा गौड देश पर आक्रमण तथा मार्ग में पड़नेवाले कई

पूर्वी प्रदेशों के विजय आदि का वर्णन किया गया है। ग्रंथ में घटना—योजना संश्लिष्ट और क्रमबद्ध रूप में न होने के कारण इसे सफल महाकाव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता, फिर भी भाषा, अलंकार तथा चित्ताकर्षक वर्णनों का इसमें सुन्दर संघटन मिलता है। कवि की दूसरी प्राकृत रचना—‘महुमहविअअ’ उपलब्ध नहीं है। इस कृति का उल्लेख स्वयं कवि के काव्य तथा ‘ध्वन्यालोक’, ‘सरस्वतीकण्ठा भरण’ आदि काव्यशास्त्र के ग्रंथों में मिलता है।

‘लीलावर्द्ध’ ग्रंथ में कवि का वंश परिचय तो मिलता है, कोई नाम नहीं मिलता। किन्तु कुछ छन्दों में ‘कौऊहल’ की छाप तथा एक टीकाकार के उल्लेख के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि इसके रचयिता महाराष्ट्र निवासी ‘कुतुहल’ नाम के कोई ब्राह्मण है। इसका रचना—काल 1000 ई. अनुमान किया जाता है। यह एक पेम—काव्य है, जिसमें मुख्यतः प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा सिंहल की राजकुमारी की प्रेमकथा का भी विस्तार है। साथ ही गन्धर्वलोक के कतिपय पात्रों की प्रेमकथा का भी इसमें प्रासंगिक वर्णन है। इसलिए कवि ने स्वयं ही अपनी कृति को ‘दिव्य—मानुषी’ बताया है। सर्गबद्ध न होने पर भी ग्रंथ में कवि की अनोखी प्रबन्ध—पटुता प्रकट होती है। मानव—प्रेम तथा प्राकृतिक, छटा के वर्णन में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

सिरिचिन्ध (श्रीचिह्न) प्रबंध—काव्य है, जिसके आठ सर्ग कवि कृष्ण लीलाशुक तथा अन्तिम 4 सर्ग कवि के शिष्य दुर्गाप्रसाद द्वारा रचे गये हैं। इसमें कृष्णलीला के साथ कतिपय प्राकृत व्याकरणों की व्याख्या भी है। कृष्णलीला से संबंधित ‘सोरि—चरित्र’ है, जिसकी भाषा कृत्रिम और भाव दुरुह है।

खण्डकाव्य के अन्तर्गत ‘उषाणिरूह’ तथा ‘कंसवहो’ मुख्य रचनाएँ हैं, जिनके रचयिता केरल निवासी रामपाणिवाद हैं। इनका रचना काल 1750 ई. के लगभग माना जाता है। पहले में उषा—अनिरुद्ध के प्रेम—प्रसंग तथा विवाह का वर्णन 280 छन्दों तथा दूसरों में कृष्ण की बाल क्रीड़ा तथा कंसवध का वर्णन 233 छन्दों में हुआ है। प्राकृत के अन्य प्रबंध—ग्रंथों का नामोल्लेख मिलता है, जैसे ‘हरिविजय’, ‘रावण विजय’, ‘कुणाल याश्वचरित’ आदि, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ये ग्रंथ या तो नष्ट हो गये या कहीं लुप्त पड़े हैं और इनकी खोज की आवश्यकता है।

मुक्तक काव्य के अन्तर्गत ‘गाहासत्तसई’ (गाथासप्तशती), ‘वज्जालंग’ प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। दोनों में सात सौ से ऊपर गाथाएँ संग्रहित हैं। ‘गाहासत्तसई’ किसी एक कवि की रचना न होकर कई कवियों की कृतियों का संग्रह है। इसके संग्रहकर्ता दक्षिण के कोई महाराज सातवाहन अथवा कवि वत्सल (हाल) माने जाते हैं, जिनका उद्भव काल 69 ई. माना गया है। इसकी गाथाओं का उल्लेख अलंकार—ग्रंथों में हुआ है।

इसी के अनुकरण पर संस्कृत में ‘आर्यासप्तशती’ लिखी गयी। इसमें विविध नायक—नायिका सम्बन्धी श्रृंगारिक वर्णनों की प्रधानता है। प्राकृतिक दृश्यों की छटा भी दर्शनीय हैं। नीति तथा साधारण ज्ञान सम्बन्धी तथ्यों की भी चर्चा है। विषय की मौलिकता तथा भाषा एवं अलंकार—सौष्ठव की दृष्टि से यह एक अनुठी कृति हैं दूसरी रचना ‘बज्जालंग’ है। इसके एक छन्द से स्पष्ट होता है कि यह ग्रंथ अनेक कवियों की रचनाओं का संग्रहमात्र है और संकलनकर्ता जयवल्लभ हैं। इसके अनेक छन्दों का उल्लेख अलंकार—ग्रंथों में हुआ है। ग्रंथ के 795 छन्द 48 परिच्छेदों में विभाजित हैं। इसमें श्रृंगार के अन्तर्गत आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, नख—सिख आदि का विशद वर्णन मिलता है। साथ ही नीति—नीति, सज्जन, दुर्जन आदि तथा मानव—स्वाभाव से संबंधित प्रसंगों का विस्तार से चित्रण किया गया है। अनेक सुभाषित छन्द भी अनुकरणीय हैं।

आनन्दवर्धनाचार्य—रचित ‘विषमबाणलीला’ का उल्लेख ‘ध्वन्यालोक’ में हुआ है। जैसा ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है कि यह श्रृंगार रस की रचना है, किन्तु यह अनुपलब्ध है। इसमें 81 छन्दों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त प्राकृत के अनेक फुटकर पद्य, कई अलंकार—ग्रंथों—‘ध्वन्यालोक’ ‘सरस्वतीकण्ठा भरण’, ‘दशरूपक’, ‘काव्यालंकार’, ‘काव्यादर्श’, ‘काव्यानुशासन’, ‘रस—गंगाधर’ आदि में उपलब्ध होते

NOTES

है। ये पद्यात्मक रचनाएँ विविध विषयात्मक है, जिनमें श्रृंगार और नीति की प्रधानता मिलती है। भरत-रचित 'नाट्य-शास्त्र', में भी महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत के सैकड़ों छन्द मिलते हैं, जिनमें स्पष्ट होता है कि 100 ई. में लगभग प्राकृत भाषा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी थी। उक्त सभी प्रसिद्ध रचनाओं का अनुवाद संस्कृत तथा जर्मन आदि भाषाओं में किया गया है। इसमें प्राकृत काव्य की विशिष्टता का बोध होता है।

जैन धर्म संबंधी अधिक रचनाएँ अर्धमागधी प्राकृत में उपलब्ध होती हैं। इसमें सिद्धान्त-ग्रंथों तथा टीकाएँ दोनों सम्मिलित हैं। विद्वानों ने सिद्धान्त-ग्रंथों का आगम साहित्य ; बंधवदपबंधसद्ध तथा इत्तर सिद्धान्त-ग्रंथों के अगमेट (Non-Canonical) साहित्य के अन्तर्गत विभाजित किया है। वर्धमान महावीर ने अर्धमागधी में अपने उपदेश दिये, इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। आगम ग्रंथों का विभाजन अंग, उपांग सुत्र आदि भेदों में मिलता है। अंग की संख्या 12 है। इसमें गद्य-पद्य, दोनों का व्यवहार किया गया है। दृष्टान्तों द्वारा जैन धर्म की व्यवहारोपयोगी बातों या तीर्थकरों की जीवनी, ब्राह्मण तथा अन्य धर्मों के खण्डन, निर्वाण, मोक्ष आदि का विवेचन मिलता है। उक्त अंगों के 12 उपांग हैं। इसमें मृत्यु, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, आत्मा, नक्षत्रलोक, भूगोल, स्वर्ग, नरक आदि दृष्टान्तों सहित विवेचना की गयी है।

सिद्धान्त-ग्रंथों के अन्तर्गत छेयसुत्र और मूल सूत्र हैं। प्रथम की संख्या छः है। इनमें जैन धर्म सम्बन्धी आचार-व्यवहार, तप आदि का विधान प्रस्तुत किया गया है। मूल सूत्र चार हैं। इनमें व्रत, अनुशासन आदि धार्मिक विषयों का विशद वर्णन है। पड़ण (प्रकीर्ण)-ग्रंथों की संख्या 10 है। इनमें मनुष्य के जन्म, रोग संबंधी उपचार, त्याग, मरण, जीवन आदि की विधियाँ दी गयी हैं। दो चूलिका सूत्र हैं। इन्हें जैन धर्म का ज्ञानकोश कहा जा सकता है। ये सभी आगम ग्रंथ साहित्यिक दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण हैं। इनमें से अनेक में आलंकारिक भाषा तथा समास शैली का प्रयोग हुआ है।

कालान्तर में जैन-धर्म श्वेताम्बर तथा दिगम्बर-दो शाखाओं में बँट गया। श्वेताम्बर शाखा के अनुयायियों ने महाराष्ट्रीय तथा दिगम्बर ने शौरसेनी प्राकृत में साहित्य का निर्माण किया। इन प्राकृतों को जैन-महाराष्ट्री तथा जैन-शौरसेनी की संज्ञा दी गयी है। इनमें गद्य-पद्य सभी प्रकार की रचनाएँ लिखी गयी हैं। गद्य साहित्य का विभाजन निबंध, आख्यायिका, उपन्यास, कथाचरित्र आदि विधाओं में किया गया है।

जैन-महाराष्ट्री में कथासाहित्य के अन्तर्गत 'समराइच्चकहा' (समरादित्यकथा), 'कथाकोशप्रकरण', धूर्तारख्यान', 'कथामहोदधि', 'विजयचन्द्र के पलिन' आदि प्रसिद्ध आख्यायिका-ग्रंथ हैं। इनमें बाण की कादम्बरी के समान समासशैली के उत्कृष्ट नमूने यत्र-तत्र मिलते हैं। 'तरगवती', 'सुरसुन्दरीचरित्र', कालकाचार्य कथानक', 'सिरिसरिवाल कहा' (श्रीपाल कथा), 'रमनसेहर कहा' (रत्नशेष रकथा) आदि प्रसिद्ध कथा ग्रंथ हैं, जिनमें कहीं-कहीं पद्यात्मक शैली का भी प्रयोग है। चरित्र-साहित्य के अन्तर्गत 'पउमचरिय' (पद्यचरित्र), 'वसुदेवहिण्डी', 'कुमार पाल चरित' आदि मुख्य रचनाएँ हैं। इन रचनाओं का काल तीसरी शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी तक निर्धारित किया गया है। जैन-शौरसेनी में दिगम्बर साम्प्रदायिकों की कई प्रसिद्ध रचनाएँ मिलती हैं। पकयणसार (प्रवचनसार), 'समयसागर', 'नियमसार', 'मूलाराधना', श्रापकाचार, दर्शनसार, आराधनासार, जीवविचार, आदि पद्यात्मक रचनाएँ हैं। 'षट्खण्डागम, 'काषाय' प्रभृति प्रसिद्ध सूत्र ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों में जैन धर्म के सिद्धान्तों का विशदनिरूपण मिलता है। प्राकृत में महावीर स्वामी तथा अन्य तीर्थकरों तथा जैन-गुरुओं से सम्बन्धित स्तुति-ग्रंथ (स्त्रोत) भी लिखे गये, जैसे- 'ऋषभ-पंचासिका', 'महावीर', शक्ति-नाथस्तवन, आदि। जैन धर्म संबंधी अन्य रचनाएँ, जैसे- स्त्रोत, नाटक आदि संस्कृत में भी मिलती हैं। यद्यपि संस्कृत लोक-व्यापक भाषा नहीं रह गयी थी, फिर भी उसका प्रयोग सीमित वर्ग के द्वारा बराबर होता रहा। कालान्तर में गुप्तवंश के राजाओं ने ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया तथा संस्कृत भाषा को विशेष प्रश्रय दिया। किन्तु वे अन्य धर्मों तथा प्राकृत भाषाओं के प्रति उदार थे। अतः जैन-धर्म संबंधी ग्रन्थ उस काल भी लिखे

गये।

शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतों की स्वतंत्र रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती। किन्तु संस्कृत नाटकों में इनका व्यापक व्यवहार हुआ है। तत्कालीन समाज में कतिपय वर्ग के लोगों की भाषा प्राकृत थी और इसलिए संस्कृत नाटककारों ने उन पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का ही प्रयोग कराया है। नाटकों में निम्न स्तर के लोग जैसे—मछुए, दुष्ट, चाण्डाल, राक्षस, महावत, नाई, म्लेच्छ आदि प्रायः मागधी बोलते हैं तथा महिलाएँ, विदूषक, गुप्तचर, गणिका, अप्सराएँ, राजमहिषी, चेट्टी, आदि की भाषा, शौरसेनी प्राकृत है। राजा, राजगुरु, मंत्री आदि की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। राजा, राजगुरु, मंत्री आदि की भाषा संस्कृत है। कहीं—कहीं इसका अपवाद भी मिलता है। कुछ स्वतंत्र नाटक भी प्राकृत में लिखे गये होंगे, किन्तु संस्कृत में रूपान्तरित होने के बाद सम्भवतः वे नष्ट हो गये। इसलिए वे आज उपलब्ध नहीं होते। अश्वघोष—रचित 'सारपुत्रप्रकरण' (सारिपुत्र—प्रकरण), राजशेखर रचित 'कर्पूरमंजरी', ऐसी ही रचनाएँ थी, यह अनुमान किया जाता है। भास रचित 'चारुदत्त', कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' श्रीहर्ष के 'प्रियदर्शिका' 'रत्नावली', शुद्रक के 'मृच्छकटिक' आदि नाटकों में प्राकृत का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा का व्यवहार स्वाभाविक कहा जा सकता है। क्योंकि उनके काल में प्राकृत लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। नाटक का एक भेद सदृक है, जिसमें स्त्री—पात्रों की प्रधानता होती है और पूर्ण रचना प्राकृत में होती है। 'कर्पूरमंजरी', 'रम्भामंजरी', 'चन्द्रलेहा' (चन्द्रलेखा), शृंगार मंजरी, 'आनन्द—सुन्दरी' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा का प्रयोग एक शैली—रूप में प्रचलित हो गया था, इसलिए जब लोक भाषा नहीं रह गयी तो भी संस्कृत नाटकों में कतिपय पात्रों के द्वारा भाषा का प्रयोग कृत्रिम रूप में कराया जाता था। प्राकृत के कृत्रिम प्रयोग सम्बन्धी कई ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

प्राकृत में ऐसे अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनमें भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की विशद सामग्री मिलती है। भाषा शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन में इनका विशेष महत्व है। 500 ई.पू. के लगभग जो राजनीतिक तथा धार्मिक उथल—पुथल प्राकृत के उद्वव का कारण हुई, वैसी ही 1100 ई. की उथल—पुथल आधुनिक आर्य भाषाओं के उद्भव और विकास का कारण बनी। भारतीय आर्य भाषाओं का आधार लेकर 600 ई. के लगभग अनेक अपभ्रंश भाषाओं का उद्भव हुआ और उन्हीं अपभ्रंशों के विकसित होकर आज आर्वाचीन आर्य—भाषाओं का एक जाल—सा बिछ गया है।

लोकभाषा प्राकृत से भाषा के साहित्यिक रूपों का तथा साहित्य रूपों से पुनः लोकभाषा विकास कैसे संभव होता है, यह हमें प्राकृत साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है। प्राकृत के कथा—साहित्य, सत्त सई—साहित्य आदि का प्रभाव संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं पर तो पड़ा ही, साथ ही आधुनिक आर्य—भाषाओं पर उनका प्रभाव मिलता है। इस प्रकार हिन्दी के ऐतिहासिक विकास तथा काव्य—परम्पराओं की पूरी जानकारी प्राकृत साहित्य के अध्ययन से सम्भव है। हिन्दी का प्रेमाख्यानक काव्य तथा सतसई साहित्य इसी से अनुप्राणित है।

अपभ्रंश

मध्यकालीन आर्यभाषा का तृतीय उत्थान अपभ्रंश के रूप में जाना जाता है। इसे प्राकृत का स्वाभाविक विकास कहा जा सकता है। अपभ्रंश का अर्थ है 'गिरा हुआ', 'बिगड़ा हुआ'। प्राकृत की तुलना में भी जिस भाषा में ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणिक परिवर्तन हो गया था। उसे पंडितों ने 'अपभ्रंश' या 'अपवह' ('अपभ्रंश') नाम से अभिहित किया। अपभ्रंश प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है। कुछ थोड़े से लोगों की धारणा यह है कि अपभ्रंश प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी नहीं है, अपितु वह भी प्राकृतकालन ही एक क्षेत्रीय भाषा है या एक प्राकृत है। किन्तु ऐसी संभावना है नहीं। अपभ्रंश प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी

NOTES

यो तो 'प्राकृत-सर्वस्व' ग्रंथ में अपभ्रंश के 27 भेद स्वीकार किए गए हैं, किन्तु मुख्य अपभ्रंश के कम, टक्क, ब्राचड, शौरसेनी, महारष्टी, अर्धमागधी, मागधी मानी जा सकती है, जिनके स्थान वे ही थे जिनका उल्लेख पीछे प्राकृतों के प्रसंग में हो चुका है। डॉ. चटर्जी ने खस नाम की एक अपभ्रंश की भी कल्पना की है जिसका स्थान पर्वतीय क्षेत्रों में माना है। यों या कोषी ने अपभ्रंश के चार भेद, तगारे ने तीन भेद तथा नामवर सिंह ने दो भेद किए हैं। किन्तु ये भेद साहित्य में प्रयुक्त भाषा के आधार पर किए गए हैं। प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी के रूप में अपभ्रंश के 6-7 भेद मानने ही पड़ेंगे (1) 'अ' का पूर्व तथा पश्चिमी अपभ्रंशों में संवृत-विवृत का भेद था। (2) ऋ का लिखने में प्रयोग था, किन्तु उसका उच्चारण 'रि' होता था। (3) श का प्रचार केवल मागधर (सम्भवतः पूर्वी मागधी) में था। (4) ल् माहाराष्ट्री में तो था ही, साथ ही उड़ीसा में बोली जाने वाली शौरसेनी में भी था। ल्ह भी कहीं-कहीं था। (5) स्वरों का अनुनासिक रूप (ऋ का नहीं) प्रयुक्त होने लगा था। (6) संगीतात्मक स्वराघात समाप्त हो चुका था। बलात्मक स्वराघात विकसित हो चुका था। (7) अपभ्रंश एक प्रकार-बहुला भाषा थी। यों तो 'ललितविस्तार' तथा 'प्राकृत धम्मपद' आदि ग्रंथों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु वहाँ यह प्रवृत्ति अपने बीज रूप में है। अपभ्रंश में यह बहुत अधिक है, जहाँ ब्रजभाषा या अवधी आदि को मिली है। (जैसे एक्कु, कारण, पियासु, अगु, मूलू और जगु आदि।) (8) ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से जो प्रवृत्तियाँ (लोप, आगम, विपर्यय, महाप्राण का है आदि) पालि में शुरु होकर प्राकृत में विकसित हुई थी, उन्हीं का यहाँ आकर और विकास हो गया। (9) य का ज, म का वँ, व का ब; ला का न्ह, क्ष का क्ख था च्छ, आदि रूपों में ध्वनि-विकास की बहुत-सी अन्य प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। (10) (विशेषतः परवर्ती अपभ्रंश में) समीकरण के कारण उत्पन्न दित्व में एक व्यंजन बच गया है और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया। (सं. तस्य, प्रा. तस्स, अप.तासु)। (11) भाषा काफी वियोगात्मक हो गई। (12) नपुंसकलिंग समाप्त हो गया। (13) रूपों की संख्या कम हो गई। उदाहरण के लिए संस्कृत में एक संज्ञा के कारकीय रूप लगभग 20 होते थे। उदाहरण के लिए, संस्कृत में एक संज्ञा के कारकीय रूप लगभग 20 होते थे, अब 5-6 ही रह गए।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी तथा कई अन्य विद्वानों ने अपभ्रंशों और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की कड़ी को 'अपहट्ट' कहा है। मेरे विचार में ऐसी मान्यता निराधार है। मूलतः संस्कृत से भ्रष्ट हुई भाषा को 'अपभ्रंश' और 'अपभ्रष्ट' कहा गया। 'अपभ्रंश' शब्द का विकास 'अबहंस' रूप में हुआ तो 'अपभ्रष्ट का अबहट्ट' रूप में और इन दोनों ही नामों का प्रयोग उस भाषा के लिए होता रहा। वास्तविकता यह है कि इस दृष्टि से एकरूपता नहीं मिलती। अदहमाण (12 वीं सदी) ने 'अबहट्ट' कहा, ज्योंतिरेश्वर ठाकुर (14वीं सदी) ने 'अपहट्ट' कहा, दामोदर पंडित (12वीं सदी) ने 'अपभ्रंश' कहा, विद्यापति (14वीं सदी) ने 'अबहट्ट' कहा तो रविकर (16वीं सदी) ने इसे एक स्थान पर 'अपभ्रंश' कहा तो दूसरे स्थान पर 'अपभ्रष्ट'। इस तरह 'अपभ्रंश' और 'अबहट्ट' मेरे विचार में एक ही भाषा के दो नाम हैं।

अपभ्रंश के स्वरूप पर उस समय के विद्वानों ने भी विचार किया था। पंतजलि ने (150 ई.पू.) इसे देवभाषा से भिन्न असाधु भाषा के अर्थ में प्रयुक्त किया था। भरत (तीसरी शती) इसे शाबर, आभीर तथा गुर्जर आदि की भाषा बतलाते हैं। दण्डी भी इसे 'आभीरादि गिरः कहते हैं।' चण्ड ने 'प्राकृत लक्षणम्' में अपभ्रंश को एक विभाषा कहा है जिससे ज्ञात होता है कि तब तक यह प्रामाणिक आर्यभाषा के योग से व्यापक हो गई थी। वलभी के राजा धरसेन के शिलालेख से स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत के अलवा अपभ्रंश में भी रचना होने लगी थी, भले ही इसका आरम्भ सौराष्ट्र से हुआ हो। भामह (सातवीं शती) और रुद्रट (नवीं शती) ने भी अपभ्रंश काव्य की चर्चा की है। टीकाकार पुरुषोत्तम (ग्यारहवीं शती) और काव्यमीमांसाकार राजशेखर (दसवीं शती)

का कहना है कि मध्यदेश और उसके पश्चिम में अपभ्रंश शिष्टवर्ग की भाषा थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि तीसरी शताब्दी तक अपभ्रंश आभीरादि की भाषा थी, क्रमशः वह लोकभाषा, धीर-धूरे शिष्टभाषा और बाद में साहित्यिक भाषा हो गई। पहले यह गुर्जर प्रदेश, हिमवत् सौवीर और सिन्धु प्रदेश तक सीमित थी, बाद में मालवा, राजस्थान, पंजाब, दिल्ली और बुन्देलखण्ड तक फैल गई और बारहवीं शती में समस्त उत्तर-भारत में व्याप्त हो गई। इसके तीन रूप नागर, उपनागर और ब्राचडर मार्कण्डेय के अनुसार अथवा नागर, ग्राम्य और उपनागर (नेमिसाधु के अनुसार) पश्चिमी भारत की अपभ्रंश के ही थे। समय पाकर एक-एक प्राकृत के विकसित रूप को भी उसका अपभ्रंश कहा जाने लगा। मसलन, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश मागधी अपभ्रंश इत्यादि इस काल में इधर-उधर की जो भारतीय आर्य भाषाएँ थीं और जिनसे आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास माना जाता है, उन सबका अपभ्रंश नाम से अभिहित किया गया है; जैसे केकम, टाक्क,लाट और यहाँ तक कि कार्णट और द्रविड़ अपभ्रंश भी मानी गई हैं।

जहाँ तक बोलचाल की अपभ्रंश का सवाल है तो उसके विषय में ठीक से कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु साहित्यिक अपभ्रंश की विशेषताएँ इस प्रकार निर्धारित की जा सकती हैं—

(1) अपभ्रंश ने प्राकृत की ध्वनि माला में कोई परिवर्तन नहीं किया, स्वर और व्यंजन वही रहे। (2) संस्कृत शब्दों के आदि स्वर को यथावत् सुरक्षित रखा गया। (3) प्राकृत में संस्कृत के अंत्यस्वरों के लोप अथवा ह्रस्वीकरण की जो प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी, उसका व्यापक और पूर्ण रूप से निर्वाह हुआ। (4) उपन्त्यस्वर कहीं तो सुरक्षित रहा और कहीं ह्रस्व हो गया। (5) प्राकृत के दीर्घ (द्विवो) व्यंजन को अपभ्रंश में ह्रस्व (एक) व्यंजन करके आद्यक्षर के स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति आरम्भ हो गई, जो हिन्दी बोलियों में जारी रही। (6) प्राकृत के बीच में समीवर्ती स्वरों को मिलाकर एक स्वर किया गया। (7) आदि व्यंजन यथावत् सुरक्षित रहे। (8) प्राकृत की तरह अपभ्रंश ने संस्कृत शब्दों के अन्त्य व्यंजनों को लुप्त करने की प्रवृत्ति की ओर आगे बढ़ाया। (9) टवर्ग को छोड़कर मध्य अल्पप्राण व्यंजनों का लोप होता रहा और महाप्राण व्यंजनों की जगह ह रहा गया। प्राकृत में अपवाद अधिक थे, अपभ्रंश ने अपवाद कम कर दिए। (10) मध्य ट् ट् के स्थान पर ड् ड् और तदुपरांत ड् ड् का विकास अधिक होने लगा। (11) संयुक्त द्वित्व व्यंजन की जगह अपभ्रंश में एक व्यंजन रह गया।

इसी क्रम में जब हम अपभ्रंश के व्याकरण पर विचार करते हैं तो हमारे समक्ष निम्नलिखित विशेषताएँ आती हैं— (1) संस्कृत के नपुंसकलिंग शब्द पुल्लिंग हो गए और इस तरह पुल्लिंग शब्दों की संख्या बहुत अधिक हो गई। (2) कारक—चिह्नों में सरलता आ गई; न तो स्त्रीलिंग—पुल्लिंग के कारक—प्रत्ययों में कोई भेद रह गया और न ही एकवचन—बहुवचन के कारक चिह्नों में। (3) कारकों की संख्या कम हो गई और भाषा विश्लेषणात्मक हो गई। (4) विशेषण प्रत्यय में लिंगभेद अथवा वचन भेद हटने लगा। (5) क्रियाओं के रूप में विशेष परिवर्तन हुआ तिङन्तरूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का व्यवहार हुआ। इससे काव्य रचना अत्यन्त सरल हो गई।

अपभ्रंश में देशी और तदभव शब्दों की भरमार देखकर इसकी स्वतंत्र और विद्रोही प्रकृति का ठीक-ठीक अनुमान होता है। साहित्यिक शब्दों की अपेक्षा बोलचाल के शब्दों का अधिक व्यवहार उत्तरकालीन साहित्य में भी जारी रहा। अपभ्रंश भाषा के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

अपभ्रंश, उपनागर—

अपभ्रंश का वह रूप जिसे मार्कण्डेय और नेमिसाधु आदि वैयाकरणों ने नागर और ग्राम्य अपभ्रंश का सम्मिलित रूप कहा है और जिससे राजस्थानी का विकास हुआ है। नेमिसाधु (रुद्रट के टीकाकार—ग्यारहवीं शती) लिखते हैं कि प्राकृत और आभारी के मेले से ग्राम्य अपभ्रंश का विकास हुआ और तदुपरान्त आसपास की भाषाओं के प्रभावों को ग्रहण करती हुई उपनागर अपभ्रंश विकसित हुई। आधुनिक समय के विद्वानों का मत है कि यह नागर और ब्राचड से स्वतंत्र पूर्वी सौराष्ट्र की भाषा

NOTES

अपभ्रंश केकय

अपभ्रंश का वह रूप जो दक्षिणी कश्मीर और पश्चिमी पंजाब, कोकम अथवा कक्का प्रदेश में प्रचलित रहा। कुछ विद्वानों ने व्यास और सतलज के बीच के प्रदेशों के रूप माना है और कुछ ने चित्राल, स्वात और उसके आस पास के उत्तरी सीमा प्रान्त को। बहुमत ने स्वीकार किया है कि लँहदी भाषा का विकास केकम अपभ्रंश से हुआ है। इसका काल छठी से दसवीं शती तक बताया गया है। पश्चिमोत्तर भारत में राजनीतिक विप्लवों के कारण केकम अपभ्रंश का शवसाहित्य नष्ट हो गया है। अतः इसकी भाषागत विशेषताओं के विषय में कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। मार्कण्डेय ने केकम का उल्लेख अपनी सूची में किया है।

अपभ्रंश धारा—

हेमचन्द्र (1145 से 1229 वि. सं.), सोमप्रभा चार्य (13वीं शती), अब्दुल रहमान (13वीं शती वि.) जैसे कृति-कारों की अपभ्रंश में निश्चित रूप से, स्वयंभू, पुष्पदन्त आदि की अपभ्रंश की अपेक्षा ऐसे शब्द अधिक मिलते हैं, जिनको आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का लगभग पुराना रूप कहा जा सकता है। यह परिवर्तनकालीन अपभ्रंश है। विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शती में अपभ्रंश का स्थान उसके क्रमशः विकसित रूप ले चुके थे, किन्तु फिर भी अनेक कवि केवल परम्परापालन के लिए अपभ्रंश में रचना करते रहे। विद्यापति की 'कीर्तिलता' भी इसी प्रकार की कृति है, जिसमें अपभ्रंश का परिवर्तित रूप मिलता है। इसके अतिरिक्त जैन कृतिकार तो सोलहवीं-सत्रहवीं शती तक अपभ्रंश में ग्रंथ लिखते रहे। इन कृतिकारों ने धार्मिक परंपरा तथा साहित्यिक परंपरा का पालन करने के लिए ही ये रचनाएँ की हैं। जैन शास्त्र चर्चा और अध्ययन के कुछ ऐसे केन्द्र थे, जहाँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का पठन-पाठन और प्रतिलिपि का कार्य होता रहता था। उदाहरण के लिए गोपालगिरि (गोपाचलगिरि) भट्टारको की गद्दी थी, जहाँ अपभ्रंश के अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपि की गई थी और उसका अध्ययन भी वहाँ होता था। अपभ्रंश कृतियों की प्रतिलिपियों की पुस्तिकाओं में प्रतिलिपि स्थान गोपालगिरि लिखा मिला है। इसी प्रकार के अन्य कई केन्द्र थे। इस प्रकार परंपरा परिचय प्राप्त कर उससे प्रेरणा पाकर अनेक अपभ्रंश कृतियों की रचना हुई होगी। नरसेन (14वीं-15वीं शती) की वर्द्धमान कथा और श्रीपातचरित, सिंह या सिद्धका प्रद्युम्नचरित, धनवाल (15वीं शती) के बाहुबलिचरित और अविष्वदत्त चरित, रङ्गू की पद्यपुराणादि लगभग 25 अपभ्रंश कृतियाँ, यशकीर्ति (15वीं-16वीं शती वि.) की हरिवंशपुराण, चन्द्रप्रभाचरित आदि श्रुतकीर्ति (16वीं शती वि.) की परमेष्ठिप्रकाशसार और हरिवंशपुराण, श्रुतकीर्ति (16वीं शती वि.) कृतनागकुमार चरितादि, भगवतीदास कृत मृंगाकलेखचरित (1700 वि.सं.) आदि इसी प्रकार की कृतियाँ हैं, जो केवल अपभ्रंश के प्रति आग्रह के कारण लिखी गई है। इनमें बहुत-सी कृतियों की भाषा में अपने आप समकालीन साहित्यिक भाषाओं के प्रयोग आ गए हैं। अठारहवीं शती में यह परंपरा आकर बिल्कुल समाप्त हो गई इस परंपरा की मिश्रित अपभ्रंश का अध्ययन बहुत ही मनोरंजन विषय है। साहित्यिक रूप में तो कोई नवीनता नहीं है। कडवक (चौपाई-दोहा) शैली चरितकाव्यों में मिलती है, जहाँ कहीं-कहीं धत्ता का स्थान दोहे ने लिया है तथा कथा कहने का ढंग प्रायः परंपरा के अनुकूल ही रखा गया है।

अपभ्रंश, नागर—

अपभ्रंश का वह भेद, जो गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में प्रचलित था और जिसमें अधिकांश साहित्य उपलब्ध हैं। भरतमुनि (तीसरी शती) ने जिसमें आभीरादि (गुर्जर की भी) भाषा बताया है, वह

यही है। 11वीं शताब्दी नेमिसाधु ने भी नागर को आभीर अपभ्रंश का पर्याय माना है। आभीरों और गुर्जर प्रतिहारों की रजसत्ता के कारण इसका व्यापक प्रयोग होने लग। अपभ्रंश का यही रूप शिष्टवर्ग (नागरिक लोगों) तथा नागर ब्राह्मणों के प्रोत्साहन से प्रामाणिक माना गया। मार्कण्डेय (11वीं शती) ने प्रथम बार 'पाकृत सर्वस्व में अपभ्रंश के भेदों में नागर नाम का व्यवहार किया है। साहित्यिक माध्यम के रूप में यह शौरसेनी प्राकृत की अनुसारिणी कृत्रिम भाषा हैं। हेमचन्द्र (12वीं शती) ने अपने व्याकरण में इसको आदर्श मानकर इसका विश्लेषण किया है और 'देशी सद्द संगहों' नाम से नागर में देशी शब्दों का कोश रचा है। गुजराती भाषा का विकास नागर अपभ्रंश से माना जाता है।

अपभ्रंश बाचड—

अपभ्रंश का एक भेद, जिसका नाम तो 11वीं शती से मिलता है, पर जिसका न तो साहित्य प्राप्त है और न कोई अन्य प्रमाण। सिन्धी भाषा की ब्राचड से उत्पत्ति मानी जाती है। 8वीं शताब्दी से सिन्धी पर अरबों का आधिपत्य रहा और इतिहास साक्षी है कि उनका शासन कार्य तत्कालीन सिन्धी की प्रचलित भाषा में होता था। अतः यदि अरब-शासन काल के सरकारी कागजात उपलब्ध हो सकें और उनसे ब्राचड की भाषागत खोज की जाय तो कुछ तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं।

सारांश यह है कि काव्य समीक्षकों और व्याकरणों द्वारा अपभ्रंश के जो उल्लेख मिलते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश प्रारम्भ में आदर की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी किन्तु सातवीं ई. तक उसमें इतनी और इस प्रकार की साहित्य रचनाएँ हो चुकी थीं कि संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य की चर्चा करने वालों ने भी अपभ्रंश की कृतियों का उल्लेख करना आवश्यक समझा। आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी में वह साहित्यिक उत्कर्ष को प्राप्त हुई और राजदरबारों, कवि सभाओं में उसका आदर होने लगा। आगे की शताब्दियों में भी उसमें साहित्य रचना होती रही, किन्तु वह सामान्य जनभाषा से दूर पड़ गई थी। तत्कालीन जनभाषा में अपभ्रंश की तद्भव-प्रधान शब्दावली से भिन्न तत्सम-प्रयोग प्रधान रचनाएँ होने लगीं और धीरे-धीरे उन्होंने अपना उचित स्थान प्राप्त किया और अपभ्रंश की धारा क्षीण होती चली गई।

हिन्दी साहित्य ने जितना सीधा सम्पर्क अपभ्रंश साहित्य से रखा है उतना कदाचित किसी अन्य प्रान्तीय भाषा ने नहीं रखा है। अपभ्रंश समस्त वाह्य वैभव तथा आंशिक भावधारा का जो चित्र जैन, बौद्ध, ब्राह्मण आदि नाना संप्रदाय, नाना प्रान्तों में रचित अपभ्रंश रचनाओं में मिलते हैं उसे अपभ्रंश की प्रधान उत्तराधि कारिणी हिन्दी ने अपने अनेक रूपों—क्या ब्रज, क्या अवधी, क्या राजस्थानी, क्या मैथिली में अपनाया। हिन्दी के उस युग के कवियों में लोकरुचि और सही मार्ग को समझने की कितनी सूझ और बुद्धि थी यह उनके अपभ्रंश काव्यनाराओं को उसी रूप में अपनाने से स्पष्ट होता है। इन कवियों में सच्चे मार्ग प्रदर्शक की प्रतिभा थी और युगप्रधान कर्मठ नायक के समान साहस था। अपभ्रंश साहित्य का जो भी अंश उपलब्ध हुआ है वह इतना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हिन्दी साहित्य के प्रारंभ युग में प्राप्त काव्यधाराओं का प्रारंभ 13वीं या 14वीं शती से नहीं हुआ किन्तु उस समय हुआ था जब चतुर्मुख, दोग, स्वयंभू, सरहपा, कान्हूपा, योगीन्द्र आदि कवियों ने अपनी रचनाओं को लिखना प्रारंभ किया था। इस प्रकार हिन्दी काव्य की नींव और भी गहरी और दृढ़ है।

भारतीय आर्य भाषाएँ अपनी विकासयात्रा में संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हुई हैं। प्राचीन आर्य भाषा काल में शब्द एवं धातु रूप संश्लिष्ट थे किन्तु मध्यकालीन आर्य भाषाओं के समय परसर्गी एवं सहायक क्रियाओं के अस्तित्व में आने से विश्लिष्ट अर्थात् पृथक्-पृथक् हो गए। जहाँ तक अपभ्रंश का सवाल है तो उसकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं— शब्द एवं धातु रूपों की विविधता में एकता और स्वतंत्र शब्दों का परसर्गों के रूप में प्रयोग। कहना न होगा कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हिन्दी ने सबसे अधिक इन दोनों विशेषताओं को ग्रहण किया है। हिन्दी

स्व-प्रगति की जाँच करें—

4. 'मागधी' भाषा के उपभेदों का उल्लेख करते हुए इसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
5. गाथा सप्तशती तथा आर्यासप्तशती का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
6. अपभ्रंश के 'उपनागर' तथा 'कैकय' रूपों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

NOTES

हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश की विभिन्न काव्य धाराएँ प्रवाहित होती रहीं और केवल आधुनिक काल में खड़ी बोली के साहित्यिक भाषा पद पर आसीन होने से लगभग 1500 वर्ष पुरानी काव्य धाराएँ बिल्कुल एक अनजान दिशा की ओर मुड़ गईं। तो अपभ्रंश के छंद तथा काव्य के ढाँचे ज्यों-के-त्यों समयानुसार परिवर्तनों के साथ आगे बढ़ते चले गए थे। भाषा के विकास की परंपरा उन्हें रोकने में बाधक न हो सकी थी। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के रूप में भारतीय संस्कृति और साहित्य को समझने के लिए एक अत्यंत समृद्ध मनोरत भण्डार प्राप्त होता है और वह अंधकारयुगीन भारत के विभिन्न धार्मिक, भक्तिपरक, सामाजिक, साहित्यिक आंदोलनों को समझने के लिए एक मूल्यवान ज्योति है। जैसे-जैसे इस साहित्य का अध्ययन आगे बढ़ेगा अनेक समस्याओं पर नया प्रकाश पड़ेगा और अनेक धाराओं का सच्चा रूप ज्ञात हो सकेगा। इस तरह मध्यकालीन आर्यभाषाएँ हिन्दी भाषा एवं साहित्य की विशाल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का कार्य करती हैं।

1. मध्यकालीन आर्य भाषा की समय-सीमा क्या है?
2. पाली को संक्षेप में समझाइए।

सार-संक्षेप

भारतीय आर्य भाषा समूह का प्राचीनतम रूप वैदिक के नाम से जाना जाता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चार की गणना होती है। वैदिक भाषा विलिप्त योगात्मक है। उसकी रूप-रचना में विविधता और जटिलता है। वैदिक भाषा से ही संस्कृत का विकास हुआ है। वैदिक में संस्कृत स्वराघात समाप्त प्रायः हैं। शब्द रूपों की बहुलता में बहुत कुछ एकरूपता आ गई है। भावों के क्रिया रूप कम हो गए हैं। वैदिक भाषा के स्वतंत्र उपसर्ग प्रायः क्रिया के साथ संयुक्त हैं। अतः संस्कृत वैदिक की अपेक्षा अधिक सरल, स्पष्ट एवं स्थिर हैं। संस्कृत को देववाणी भी कहा गया है। इस भाषा के माध्यम से भारतीय संस्कृति आधुनिक भाषाओं में निरंतरता का रूप ग्रहण किए हुए हैं। इस भाषा ने अखिल भारत वर्ष को एक सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान किया है और वह स्वरूप भारत वर्ष की प्रत्येक आधुनिक भाषा में चाहे वह आर्य परिवार की हो या आर्यतर परिवार मूर्त हुआ है। संस्कृत भाषा हमें सांस्कृतिक धरोहर के रूप में प्राप्त है और हिन्दी भी उसके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. भारतीय आर्यभाषाओं का द्वितीय चरण मध्यकालीन आर्यभाषा काल के नाम से जाना जाता है। अब तक संस्कृत व्याकरण नियमों की अतिशयता एवं कठोरता के कारण जनभाषा से भिन्न हो चुकी थी। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल में जनभाषा पर आधारित 'वैदिक' एवं 'लौकिक' भाषा के ये दो रूप साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। दूसरे रूप- लौकिक, संस्कृत-को पाणिनि ने अपने व्याकरण में जकड़कर उसे सदा-सर्वदा के लिए एक स्थायी रूप दे दिया, किन्तु जनभाषा भला इस बन्धन को कहा मानती? वह अबाध गति से परिवर्तित होती रही, बढ़ती रही। इस जनभाषा के मध्यकालीन रूप को 500 ई.पू. से 1000 ई. तक का अर्थात् डेढ़ हजार वर्षों का है। इसे 'मध्यकालीन आर्यभाषा' की संज्ञा दी गयी है। मध्यकालीन आर्यभाषा को प्राकृत भी कहा गया है। 'प्राकृत' शब्द के सम्बन्ध में दो मत हैं

(क) कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति 'प्राक + कृत' अर्थात् (संस्कृत से) पहले की बनी हुई है, या पहले की की हुई' मानते हैं। दूसरे शब्द से प्राकृत 'नैसर्गिक' 'प्रकृत' या अकृत्रिम भाषा है, और इसके विपरीत संस्कृत कृत्रिम या संस्कार की हुई भाषा है। नमि साधु ने 'काव्यालंकार' की

टीका में लिखा है: प्राकृतति, सकल—जगज्जन्तूनां व्याकरणादि भिरना हतसंस्कारः सहजो वचन—व्यापारः प्रकृति तत्र भवः से व वा प्राकृतम'। इस रूप में प्राकृत पुरानी भाषा है, और संस्कृत उसका संस्कार करके बनाई हुई बाद की भाषा। ग्रियर्सन ने इसी को प्राइमरी प्राकृत कहा है। इसका अर्थ यह है कि इस अर्थ में 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग उस जनभाषा के लिए है, जो वैदिक एवं संस्कृतकाल में जन भाषा थी और जिसका कुछ परिनिष्ठित एवं पंडितों द्वारा मान्य रूप वैदिक है, एवं परवर्ती काल में जिसका सुसंस्कृत साहित्यिक रूप 'संस्कृत' है। अर्थात् वह वैदिक की भी जननी है, और उसी का कुछ परवर्ती रूप संस्कृत की जननी है।

(ख) दूसरे लोग प्राकृत की उत्पत्ति और ढंग से करते हैं। जैसे—प्रकृति संस्कृत तत्र भव प्राकृतभूच्यते—मार्कण्डेय (प्रकृति या मूल संस्कृत है, उससे जन्मी भाषा को प्राकृत कहते हैं)। प्रकृति: संस्कृत। तत्र भवं तदागत। वा प्राकृतम— हेमचन्द्र (प्राकृत या मूल संस्कृत है, और संस्कृत से जो आई है, प्राकृत है)। ये (क,ख) मत एक दूसरे के विरोधी हैं। वस्तुतः अपने—अपने स्थान पर ये दोनों ही मत ठीक हैं। यदि हम उस जनभाषा को प्राकृत कहते हैं, जिसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप संस्कृत है, दूसरे शब्दों में जिससे संस्कृत उत्पन्न है तो पहला मत ठीक है, अर्थात् प्राकृत संस्कृत की जननी है, किन्तु यदि हम संस्कृत—कालीन जनभाषा को भी संस्कृत ही कहें— जो मूलतः वही था, केवल संस्कृत साहित्यिक भाषा थी और वह जनभाषा तो दूसरा मत सही है, क्योंकि 500 ई.पू. से 1000 ई. तक बोली जाने वाली प्राकृत भाषा उसी का विकसित रूप है, अतः इसे, अर्थात् प्राकृत को हम 'संस्कृत से उत्पन्न' मान सकते हैं। हाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यह प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक, संस्कृत से उद्भूत नहीं है, अपितु तत्कालीन जनभाषा से उद्भूत है या उसका विकसित रूप है। इन 1500 वर्षों की प्राकृत भाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है:— 1. प्रथम प्राकृत (500 ई.पू. से 1 ई. तक) 2. द्वितीय प्राकृत (1 ई. से 500 ई. तक) 3. तृतीय प्राकृत (500 ई.से 1000 ई. तक)

2. पालि बौद्ध धर्म (विशेषतः दक्षिणी बौद्धों) की भाषा है। मोटे रूप से इसका काल 5वीं सदी ई. पू. से पहली सदी तक है। मोटे रूप से इसका काल 5वीं सदी ई.पू. से पहली सदी तक है। 'पालि' नाम—'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। 'पालि' शब्द के पुराने प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में नहीं मिलते। इनका प्राचीनतम प्रयोग 4वीं सदी में लंका में लिखित ग्रंथ 'दीपवंस में हुआ है। वहाँ इनका अर्थ 'बुद्धवचन' है। बाद में प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष ने भी इसका प्रयोग लगभग इसी अर्थ में किया है। तब से लेकर काफी बाद तक 'पालि' शब्द का प्रयोग पालि साहित्य में हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ में नहीं। भाषा के अर्थ में वहाँ मगध भाषा, मागधी, मागधिक भाषा आदि का प्रयोग हुआ है। सिंहल के लोग इसे अब भी मागधी कहते हैं। भाषा के अर्थ 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। यहाँ कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है। एक मत के अनुसार वैदिक और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी और 'पालि' शब्द 'पल्लि' का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा', 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार संस्कृत 'पंक्ति' (झ पन्ति झ पन्ति झपट्टि झपल्लि झपालि) से है। भण्डाकर तथा वाकरनागल के अनुसार पालि शब्द 'प्राकृत' (झ पाकट झ पाअड झपाअल झपालि) का ही विकसित रूप है। वस्तुतः ये ध्वन्त्यात्मक विकास बहुत तर्कसम्मत नहीं है। कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पाल्' अर्थात् 'रक्षा करना' से है। इसने बुद्ध के उपदेशों को सुरक्षित रखा है, इसलिए यह नाम पड़ा है, 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगों ने 'पा' में 'लि' प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। अर्थात् यह अर्थों की रक्षा करती है, अतः पालि है। किन्तु यह भी कल्पना की दौड़ मात्र है डॉ.

NOTES

मैक्स बेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। किन्तु सबसे प्रामाणिक व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा दी गई है। प्रायः बहुत से भारतीय विद्वान इससे सहमत हैं। इनके अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध 'परियाम' (सं. पर्याय) से है। 'धम्म-परियाय' या 'परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास-परम्परा परियाय पालियाम पालियाम पालि है।

3. प्राकृतभाषा की कुछ सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं— ध्वनि की दृष्टि से प्राकृत भाषाएँ पालि के पर्याप्त निकट हैं। इसमें भी पालि की तरह हस्व ए और ओ और व्व, वह का प्रयोग चलता रहा। ऐ, औ, श्रृह, लृ का प्रयोग नहीं हुआ। ऋ का प्रयोग लिखने में तो हुआ किन्तु भाषा में यह ध्वनि थी नहीं। उष्मों में पालि में केवल 'स' का प्रयोग था। प्राकृत में पश्चिमोत्तरी क्षेत्र में श्, ष, स् तीनों ही कुछ काल तक थे। मागधी में केवल 'श' है। अन्य बहुतों में पालि की तरह प्रायः केवल 'स' (जैसे अर्धमागधी में) मिलता है, और कुछ में श्, ष (पैशाची) प्राकृतों में 'न' का विकास प्रायः 'ण' रूप में हुआ है। ध्वनियों के विकास के कुछ विशेष रूप भी इस काल में दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि वे सार्वभौम न होकर प्रायः क्षेत्रीय अधिक हैं: (क) स्वर— मध्यग-अधोष अल्प्राण स्पर्श का घोष (मूक: मूगो, लेष्टु, लेड्डु) (ख) स्वरमध्यम घोष और अधोष अल्प प्राण स्पर्श का लोप (सागर, साअर), (ग) महाप्राण, भवति, होति, मुख, मुह, कथा, कहा। प्राकृतों में व्यंजनान्त शब्द प्रायः नहीं हैं। द्विवचन के रूपों का प्रयोग (संज्ञा, क्रिया आदि में) प्राकृतों में नहीं मिलता। 'नीय' प्राकृत अपवाद है जिसमें कुछ द्विवचन के रूप हैं। वैदिकी और संस्कृत संयोगात्मक भाषाएँ थी। पालि में भी यह विशेषता सुरक्षित है, किन्तु प्राकृत-काल पे भाषा अयोगात्मक या वियोगात्मकता की ओर तेजी से बढ़ने लगी। प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोग में नहीं आ गयी। अपने नैसर्गिक रूप में यह वैदिक काल के पूर्व भी वर्तमान थी। वैदिक भाषा को स्वयं उस काल में प्रचलित प्राकृत बोलियों का साहित्यिक रूप माना जाता रहा। प्राकृत महाकाव्य 'गुडवहो' का यह उल्लेख "समालाओ इसं वाया विसन्तिएत्तो य गति बायाओ एति समुद्धचित पोंति सामरोओच्चिम चलाई" अर्थात् जिस प्रकार जल में समुद्र में प्रवेश करता है और भाप बनकर पुनः समुद्र के बाहर आता है, उसी प्रकार प्राकृत से सब भाषाओं का उद्गम होता है और उसी में सभी भाषा फिर समाहित हो जाती हैं। यह बात सर्वथा ठीक जान पड़ती है। यह प्राकृत का व्यापक अर्थ है। भाषा का यही स्वच्छन्द रूप स्वानगत ओर कालगत विभिन्नताओं के कारण 500 ई. पू. से 1,000 ई. तक पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के रूप में विकसित हुआ। प्राकृत उस काल में लोकप्रिय भाषा बन गयी थी, जैसा राजशेखर ने स्पष्ट भी किया है कि प्राकृत भाषा स्त्री के सदृशसुकुमार और संस्कृत पुरुष के समान कठोर है। वैयाकरणों ने संभवतः संकुचित अर्थ में साहित्यिक प्राकृत का मूल आधार संस्कृत भाषा को माना है। यद्यपि यहाँ पर संस्कृत का आशय प्राचीन भाषा और आर्यभाषा के स्वच्छन्द रूप वैदिक गतिण से लेना युक्ति संगत होगा, क्योंकि संस्कृत तो स्वयं ही लोक-भाषा का संस्कार किया हुआ रूप है। व्यापक अर्थ के अनुसार प्राकृत का प्रारंभिक रूप पालि, मध्यकालीन रूप के अन्तर्गत साहित्यिक प्राकृत एक विशिष्ट रूप है। मध्यकालीन रूप प्राकृत तथा उत्तरकालीन रूप अपभ्रंश कहा गया है इसके मुख्य भेद शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि हैं, जिनका उद्भवकाल 100 ई.से. 600 ई. तक माना जाता है। इसके अतिरिक्त नाटकीय प्राकृत, शिलालेखी प्राकृत, नित्यप्राकृत का भी विभाजन किया गया है। संस्कृत के शब्दों में पर्याप्त ध्वनि परिवर्तन, विभक्तियों में एकीकरण, कतिपय व्यायाकरण-सिद्ध रूपों का हास आदि प्राकृत की मुख्य विशेषताएँ हैं। तृतीया, चतुर्थी, पंचमी तथा षष्ठी की समान विभक्तियाँ मिलती हैं।
4. प्राकृत मागधी पूर्व में बिहार प्रदेश के प्राचीन 'मगध' राज्य के नाम पर इसका नामकरण हुआ। अर्वाचीन बिहारी बोलियों में मगही का इससे नाम साम्य है। पूर्वी क्षेत्रों में मागधी व्यापक प्राकृत थी। यह गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा कही जाती है। इसका स्वतंत्र साहित्य उपलब्ध नहीं

होता। केवल पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखों तथा संस्कृत नाटकों में भिन्न श्रेणी के पात्रों की भाषा के रूप में यह सुरक्षित है। इसके उपभेद साकारी, चाण्डाली, ढक्की शाबरी मुख्य है। व्याकरणों में इसका मुख्य आधार शौरसेनी प्राकृत माना है। प्राकृत शौरसेनी प्राचीन आर्य-भाषाओं के काल में मध्य देश शिष्ट तथा साहित्यिक भाषा का क्षेत्र रहा है। अतः वहाँ की भाषा 'मध्यदेशी' के नाम से अभिहित की गयी। यही बाद में शौरसेवी प्राकृत का क्षेत्र हुआ। प्राचीन 'शुरसेन' जनपद के नाम पर इसका नामकरण किया गया। मथुरा इसका केन्द्र था। इसी क्षेत्र में शौरसेनी का कालान्तर में विकास आर्वाचीन लोकव्यापी, ब्रजभाषा के रूप में हुआ। शौरसेनी न केवल अपने क्षेत्र की व्यापक भाषा थी वरन् अन्य प्राकृतों के भाषा, क्षेत्रों को भी इसने यथिष्ट रूप में प्रभावित किया तथा कई उत्तर और पश्चिमोत्तर भाषाओं के उद्भव में सहायता की। इस क्षेत्र में अधिक राजनीतिक उथल-पुथल होने के कारण इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। केवल संस्कृत नाटकों तथा जैन धर्म के ग्रंथों में यह सुरक्षित मिलती है। वररुचि तथा हेमचन्द्र ने जैन धर्म के ग्रंथों में इसकी विशेषताओं का विस्तृत परिचय दिया है। प्राकृत (साहित्य) ब्राह्मण धर्म के हास के साथ-साथ संस्कृत भाषा का महत्व भी घटा और लोकप्रचलित भाषाओं को प्रश्रम मिला।

वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने अर्धमागधी प्राकृतों को अपने उपदेशों को माध्यम बनाया तथा शिक्षित वर्ग में भी प्राकृत भाषा का प्रयोग होने लगा। अतः भारतीय मध्ययुग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि तथ्यों की सम्यक जानकारी प्राकृत वाङ्मय से जितनी संभव है, उतना किसी अन्य साहित्य से नहीं। प्राकृत साहित्य का इस दृष्टि से विशेष महत्व है।

5. मुक्तक काव्य के अन्तर्गत 'गाहासत्तसई' (गाथासप्तशती), 'वज्जालंग' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। दोनों में सात सौ से ऊपर गाथाएँ संग्रहित हैं। 'गाहासत्तसई' किसी एक कवि की रचना न होकर कई कवियों की कृतियों का संग्रह है। इसके संग्रहकर्ता दक्षिण के कोई महाराज सातवाहन अथवा कवि वत्सल (हाल) माने जाते हैं, जिनका उद्भव काल 69 ई. माना गया है। इसकी गाथाओं का उल्लेख अलंकार-ग्रंथों में हुआ है।

इसी के अनुकरण पर संस्कृत में 'आर्यासप्तशती' लिखी गयी। इसमें विविध नायक-नायिका सम्बन्धी श्रृंगारिक वर्णनों की प्रधानता है। प्राकृतिक दृश्यों की छटा भी दर्शनीय हैं। नीति तथा साधारण ज्ञान सम्बन्धी तथ्यों की भी चर्चा है। विषय की मौलिकता तथा भाषा एवं अलंकार-सौष्ठव की दृष्टि से यह एक अनुठी कृति है दूसरी रचना 'वज्जालंग' है। इसके एक छन्द से स्पष्ट होता है कि यह ग्रंथ अनेक कवियों की रचनाओं का संग्रहमात्र है और संकलनकर्ता जयवल्लभ है। इसके अनेक छन्दों का उल्लेख अलंकार-ग्रंथों में हुआ है। ग्रंथ के 795 छन्द 48 परिच्छेदों में विभाजित है। इसमें श्रृंगार के अन्तर्गत आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, नख-सिख आदि का विशद वर्णन मिलता है। साथ ही नीति-नीति, सज्जन, दुर्जन आदि तथा मानव-स्वाभाव से संबंधित प्रसंगों का विस्तार से चित्रण किया गया है। अनेक सुभाषित छन्द भी अनुकरणीय हैं।

6. अपभ्रंश, उपनागर- अपभ्रंश का वह रूप जिसे मार्कण्डेय और नेमिसाधु आदि वैयाकरणों ने नगर और ग्राम्य अपभ्रंश का सम्मिलित रूप कहा है और जिससे राजस्थानी का विकास हुआ है। नेमिसाधु (रुद्रट के टीकाकार-ग्यारहवीं शती) लिखते हैं कि प्राकृत और आभारी के मेल से ग्राम्य अपभ्रंश का विकास हुआ और तदुपरान्त आसपास की भाषाओं के प्रभावों को ग्रहण करती हुई उपनागर अपभ्रंश विकसित हुई। आधुनिक समय के विद्वानों का मत है कि यह नगर और ब्राह्मण से स्वतंत्र पूर्वी सौराष्ट्र की भाषा का रूप रहा है। उपनागर क्षेत्र गुजरात और सिन्ध से पूर्व का प्रदेश माना जाता है। इसका साहित्य प्राप्त नहीं है, पर प्राचीन हिन्दी के चारण साहित्य के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विश्लेषण से उसकी विशेषताओं को जाना जाता है।

अपभ्रंश के कय- अपभ्रंश का वह रूप जो दक्षिणी कश्मीर और पश्चिमी पंजाब, कोकम अथवा कक्का प्रदेश में प्रचलित रहा। कुछ विद्वानों ने व्यास और सतलज के बीच के प्रदेशों के रूप माना

NOTES

है और कुछ ने चित्राल, स्वात और उसके आस पास के उत्तरी सीमा प्रान्त को। बहुमत ने स्वीकार किया है कि लँहदी भाषा का विकास केकम अपभ्रंश से हुआ है। इसका काल छठी से दसवीं शती तक बताया गया है। पश्चिमोत्तर भारत में राजनीतिक विप्लवों के कारण केकम अपभ्रंश का शवसाहित्य नष्ट हो गया है। अतः इसकी भाषागत विशेषताओं के विषय में कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। मार्कण्डेय ने केकम का उल्लेख अपनी सूची में किया है।

अभ्यास—प्रश्न

1. मध्यकालीन आर्यभाषाओं की विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. मध्यकालीन आर्यभाषाओं की विशेषताएँ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।
3. पाली भाषा की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. अपभ्रंश भाषा के प्रकारों की विवेचना कीजिए।
5. प्राकृत भाषा की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- आधुनिक आर्यभाषाओं का उदय
- आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण
- आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय
- हिन्दी भाषा : उसका उद्भव तथा विकास
- खड़ी बोली का विकास
- खड़ी बोली हिन्दी के विविध रूप
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

1. आधुनिक आर्यभाषाओं के अभ्युदय से परिचित हो सकेंगे।
2. आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण और उसके आधारों को समझ सकेंगे।
3. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं मसलन हिन्दी, सिन्धी, लहँदा, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, असमी तथा उड़िया इत्यादि के भाषिक-स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
4. हिन्दी भाषा के स्वरूप-विकास, उसके प्रभेदों तथा प्रमुख बोलियों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

परिचय

ऐसा माना जाता है कि लगभग 1000 ई. के आसपास आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास हुआ। यह विकास अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से सम्भव हुआ। आधुनिक भाषाओं में भारतीय साहित्य-रचना तो 1100 ई. में या उसके भी बाद शुरू हुई, किन्तु उनका जन्म 1000 ई. के आसपास हो चुका था। वस्तुतः कोई भी भाषा जन्म लेते ही साहित्य की भाषा नहीं बनती। भाषाओं के जन्म लेने के सौ-डेढ़ सौ वर्ष बाद स्वीकृति मिलने तथा उसका स्वरूप कुछ निश्चित होने पर ही लोग उसे साहित्य रचना के लिए अपनाते हैं। यहाँ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अंतर्गत हिन्दी, सिन्धी, लहँदा, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, असमी तथा उड़िया इत्यादि का समावेश किया जा रहा है। इन्हें अपभ्रंश का स्वाभाविक विकास माना जाता है।

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में परिनिष्ठित अपभ्रंश के अतिरिक्त एक ग्राम्य अपभ्रंश का उल्लेख किया है जो निस्संदेह जनभाषा ही है। आगे चलकर रचना करने वालों ने इसे देशी भाषा अथवा अवहट्ट आदि संज्ञाएं दी थीं। इसके आधुनिक अध्येताओं ने परवर्ती अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, प्रारम्भिक हिन्दी आदि नाम दिये हैं। विद्वानों का अधिक झुकाव अवहट्ट की ओर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल की जनभाषा और साहित्यिक भाषा में भेद करने के लिए पहले को 'देशी भाषा' और दूसरे को 'प्राकृताभास' (प्राकृत की रुढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी कहा है। इन दो भाषाओं का मिलन होने से इसे 'संधिकाल' नाम दिया गया है। भाषा की दृष्टि से इसे अवहट्ट काल भी कह सकते हैं। इसकी प्रवृत्ति प्रसारगामी थी। इसलिए इसके देशगत भेद भले ही केवल तीन रहे हों, किंतु उसकी बोलियां अनेक थीं। आगे चलकर इन्हीं बोलियों का पर्यवसान आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप में हुआ।

आधुनिक आर्यभाषाओं का उदय

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उदय कोई आकस्मिक घटना नहीं है। प्रकाश में आने से पूर्व परिवर्तन के साँचे में अवहट्ट और जनभाषा की मिश्रित सामग्री वर्षों ढलती रही है, जिसमें अवांछित प्राचीन नवीन भाषा तत्व छंट गए हैं और आधुनिक रूप में निखर गया है। इस परिवर्तन प्रक्रिया की गति भी सभी भाषाओं में समान नहीं है। यह पूर्वी भाषाओं में तीव्र थी और पश्चिमी भाषाओं में अपेक्षाकृत मन्द। यद्यपि इस विवेचन से हिन्दी के उद्भव की कहानी स्पष्ट हो जाती है, किन्तु वस्तुस्थिति को और साफ करने के लिए दो बातों का उल्लेख तनिक विस्तार से अपेक्षित है। एक तो उसकी उत्पत्ति काल से सम्बन्धित है और दूसरी का सम्बन्ध स्रोत-भाषा से है। व्यक्ति के जन्म तिथि की भाँति किसी भाषा की उत्पत्ति-तिथि नहीं निश्चित की जा सकती है। क्योंकि प्रत्येक नवोदित भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषा की क्रोड़ में बहुत दिनों तक पलती रहती है और पर्याप्त विकसित हो लेने के पश्चात् प्रकाश में आती है। इसलिए उसके बीजकाल से लेकर उदय-काल तक का समय

उसका उद्भवकाल माना जाता है। यही कारण है कि उद्भव के समय में सौ-दो सौ वर्ष का हेरफेर होता है। हिन्दी और अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं के उदयकाल के सम्बन्ध में यही बात है।

दूसरी बात स्रोत-भाषा की है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है और अपभ्रंश का विकास प्राकृतों से। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। इस भ्रान्ति का मूल कारण यह है कि कथ्य भाषाओं की सामग्री अलिखित होने के कारण नष्ट हो जाती है और जो उपलब्ध भी होती है वह परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं के रूप में क्योंकि उनका लिखित रूप उपलब्ध होता है। इसलिए साहित्यिक भाषा को ही परवर्ती नवोदित भाषा की जननी मान लिया गया है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि नवोदित भाषा का विकास ही पूर्ववर्ती भाषा के परिनिष्ठित होकर पृथक पड़ जाने के कारण होता है। वस्तुतः भाषा के दो रूप होते हैं—जनभाषा या बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा या परिनिष्ठित भाषा। वैदिक काल से आज तक विभिन्न कालों में इसके भिन्न-भिन्न रूपों से वैदिक एवं संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के साहित्यिक रूप विकसित हुए हैं। वैदिक, संस्कृत के समय लौकिक संस्कृत, परिनिष्ठित या पाणिनीय संस्कृत के समय प्राकृत, साहित्यिक प्राकृत के समय अपभ्रंश और अपभ्रंश के समय अवहट्ट आदि जनभाषा के सामान्य रूप हैं। अस्तु हिन्दी का सम्बन्ध साहित्यिक नहीं अपितु जनभाषा अपभ्रंश से है।

आधुनिक आर्यभाषाएँ लगभग पूर्णतः अयोगात्मक हो गयी हैं। इनकी ध्वनियों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं, फिर भी लिपि में परम्परा का पालन किया जा रहा है। उदाहरण के लिए 'ष्' का शुद्ध उच्चारण नहीं होता किन्तु लेखन में प्रचलित है। 'ष' का उच्चारण 'श' या 'स' जैसा होता है। अर्द्धमागधी से विकसित भाषाओं के क्षेत्र में 'ष' और 'स' में कोई भेद नहीं किया जाता। 'ऋ' और 'रि' में उच्चारण की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। महाराष्ट्र और उड़ीसा में 'ञ्' का उच्चारण 'रु' हो जाता है। 'ञ्' और 'ण्' का दूसरे वर्णों से संयोग होने पर उच्चारण नहीं होता जैसे दण्ड या चञ्चल का उच्चारण दंड या चंचल होता है, जो अनुस्वार से भिन्न नहीं है। क्, ख्, ग्, ज्, फ् अनेक विदेशी ध्वनियाँ भी स्वीकृत हो गयी हैं किन्तु इनका प्रयोग इने-गिने शिक्षित लोगों द्वारा ही होता है। अपभ्रंश के समान द्वित्व व्यंजन के स्थान पर एक का लोप और पूर्ववर्ती अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घता यहां भी पायी जाती है, जैसे—कर्म—कम्म—काम, निद्रस गिद्दा—नींद, सप्त—सत्त—सात, अद्य—अज्ज—आज। स्वर के बदले बल का प्राधान्य है किन्तु वाक्य में स्वर का प्रयोग भी पाया जाता है। केवल मराठी और गुजराती में तीन लिंग है। अन्यथा शेष भाषाओं में दो ही हैं। वचनों की संख्या सर्वत्र दो ही है। इन भाषाओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन भाषाओं में बहुत सारे विदेशी शब्द प्रविष्ट हो गए हैं जबकि अपभ्रंश-काल तक शब्द-भण्डार देशी था।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

आधुनिक भारतीय भाषा के वर्गीकरण पर विभिन्न लोगों (हार्नले, वेबर, ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा, भोलानाथ तिवारी आदि) द्वारा विभिन्न रूपों में विचार किया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख भाषा का उल्लेख किया जा रहा है— इस प्रसंग में प्रथम नाम हार्नले का लिया जा सकता है। उन्होंने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को चार वर्गों में रखा है— 1. पूर्वी गौडियन— पूर्वी हिन्दी (इसी में बिहारी भी है), बंगला, असमी, उड़िया। 2. पश्चिमी गौडियन— पश्चिमी हिन्दी (राजस्थानी भी), गुजराती, सिंधी, पंजाबी। 3. उत्तरी गौडियन— गड़वाली, नेपाली आदि पहाड़ी। 4. दक्षिण गौडियन— मराठी।

हार्नले ने भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर पिछली सदी में यह सिद्धांत रखा था कि भारत में आर्य कम से कम दो बार आये। पिछले आर्य आधुनिक पंजाब में आकर बसे थे। कुछ दिन बाद दूसरे आर्यों का हमला हुआ। जैसे कहीं कील ठोकने पर कील छेद बनाकर बैठ जाती है, और उस बने छेद के स्थान पर जो चीजें रहती हैं, चारों ओर चली जाती हैं, उसी प्रकार नवागत आर्य उत्तर से आकर

NOTES

प्राचीन आर्यों के स्थान पर जम गये और पूर्वगत पूरब, दक्षिण और पश्चिम में फैल गए। इस प्रकार नवागत आर्य भीतरी कहे जा सकते हैं और पूर्वागत बाहरी। इस भीतरी और बाहरी को ग्रियर्सन ने अंशतः स्वीकार किया और इसी आधार पर उन्होंने अपना पहला वर्गीकरण प्रस्तुत किया, इसमें तीन वर्ग हैं—

1. बाहरी उपशाखा में पश्चिमोत्तरी समुदाय (लहँदा, सिंधी), दक्षिणी समुदाय (मराठी), तथा पूर्वी समुदाय (उड़िया, बंगाली, असमी, बिहारी)।
2. मध्यवर्गी उपशाखा— मध्यवर्ती समुदाय (पूर्वी हिन्दी)।
3. भीतरी उपशाखा में केन्द्रीय समुदाय (पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली खानदेशी), पहाड़ी समुदाय (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी) बाद में ग्रियर्सन ने एक नया वर्गीकरण सामने रखा जो इस प्रकार है— मध्यदेशी— (पश्चिमी हिन्दी) अन्तवर्ती— पश्चिमी हिन्दी से विशेष घनिष्ठता वाली पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी (पूर्वी, पश्चिमी, मध्य), बहिरंग से सम्बद्ध (पूर्वी हिन्दी), बहिरंग भाषाएं— 1. पश्चिमोत्तरी (लहँदा, सिंधी), 2. दक्षिणी (मराठी), 3. पूर्वी (बिहारी, उड़िया, बंगला, असमी)।

ग्रियर्सन का वर्गीकरण ध्वनि, व्याकरण या रूप तथा शब्द—समूह इन तीन बातों पर आधारित है। डॉ. सुनीति कुमारा चटर्जी ने इन तीनों की हो आलोचना की है। उन्हीं के आधार पर ग्रियर्सन के कुछ प्रमुख आधार संक्षिप्त आलोचना के साथ यहाँ दिये जा रहे हैं।

ध्वनि— ग्रियर्सन के वर्गीकरण के ध्वन्यात्मक आधार लगभग पन्द्रह है जिनमें केवल प्रमुख चार—पाँच है। ग्रियर्सन के अनुसार 'र' का 'ल' या 'ड़' के लिए प्रयोग केवल बाहरी भाषाओं में मिलता है, किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। अवधी, ब्रज, खड़ी बोली आदि में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, जैसे बर (बल), गर (गला), जर (जल), वीरा (बीड़ा), भीर (भीड़) आदि। ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में 'द' का परिवर्तन 'ड' में हो जाता है। वस्तुतः यह बात भीतरी में भी मिलती है। हिन्दी में डीठि (दृष्टि), ड्योढ़ी (देहली), डेढ़ (द्वयर्द्ध), डाभ (दर्भ), डाढ़ा (दग्ध), डंडा (दंड), डोली (दोलिका) डोरा (दोरक), डँसना (दंश) आदि देखे जा सकते हैं। ग्रियर्सन का कहना है कि 'म्ब' ध्वनि का विकास बाहरी भाषाओं में 'म' रूप में हुआ है तथा भीतरी में 'ब' रूप में, किन्तु इसके विरोधी उदाहरण भी मिलते हैं। पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में 'जम्बुक' का 'जामुन' या 'निम्ब' का नीम मिलता है। दूसरी ओर बंगला में 'निम्बूक' का 'लेबू' या 'नेबू' मिलता है। ऊष्म ध्वनियों को लेकर ग्रियर्सन का कहना है कि भीतरी में इनका उच्चारण अधिक दबाकर किया जाता है और वह 'स' रूप में होता है, किन्तु बाहरी में यह श, ख या ह रूप में मिलता है। बंगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में निर्बल होकर यह 'श' हो गया है। पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमोत्तर में 'ह' हो गया है। जहां तक स्वरों के बीच में 'स' के 'ह' हो जाने का सम्बन्ध है, वह बाहरी के साथ भीतरी भाषाओं में भी पाया जाता है। सं. एक—सप्तति, पं. हिन्दी इकहत्तर, सं. द्वादश, पं. हि. बारह, सं. करिष्यति, हि. करिहइ। साथ ही बाहरी में 'स' भी कहीं—कहीं है, जैसे लहँदा करेसी (करेगी)। 'ख' वाला विकास बड़ा सीमित है और मात्र पूर्व क्षेत्रीय है। उसके आधार पर धुर पूर्व और पश्चिम की भाषाएं एक वर्ग में नहीं रखी जा सकती। 'श' वाली विशेषता बंगला आदि में भागधी प्राकृत से चली आ रही है और वह प्रायः निर्बन्ध है। मराठी में वह वाद का विकास है और सापेक्ष है (इ, ई, ए, य, आदि तालव्य ध्वनियों के प्रभाव से) इस रूप में तो भीतरी की गुजराती में भी यह विकास है, जैसे कर्शे (करिष्यति)। इस प्रकार यह भी भेदक तत्व नहीं है। महाप्राण ध्वनियों का अल्मप्राण हो जाना भी ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में है, भीतरी में नहीं। हिन्दी में भगिनी का बहिन, प्राकृत कल्पित रूप इंठा (सं. इष्टक) का ईट, प्राकृत कल्पित रूप ऊँठ (सं. उष्ट्र) का ऊँट इसके विरोध में जाते हैं।

व्याकरण या रूप—रचना— ग्रियर्सन ने इस प्रसंग में पाँच—छः रूप—विष—यक आधारों का उल्लेख किया है जिनमें से तीन यहाँ लिखे जा रहे हैं। ग्रियर्सन 'ई' स्त्री प्रत्यय के आधार पर बाहरी वर्ग की पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं की एक वर्ग की सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु वस्तुतः यह तर्क तब सही माना जाता जब भीतरी वर्ग में यह बात न मिलती। हिन्दी में इस प्रत्यय का प्रयोग क्रिया (गाती, दौड़ी), परसर्ग (की) संज्ञा (लड़की, बेटी), विशेषण (बड़ी, छोटी) आदि कई वर्ग शब्दों में खूब होता है, अतः इसे इस प्रकार

के वर्गीकरण का आधार नहीं मान सकते। भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक होती है और कुछ विद्वानों के अनुसार वियोगात्मक फिर संयोगात्मक। गियर्सन का कहना है कि संयोगात्मक भाषा संस्कृत से चलकर आधुनिक भाषाएँ (कारक रूप में) वियोगात्मक हो गई हैं, किंतु आधुनिक में भी बाहरी भाषाएँ विकास में एक कदम और आगे बढ़कर संयोगात्मक हो रही हैं। जैसे हिन्दी 'राम की किताब' बंगाली 'रामेरबोर्ड'। गियर्सन का यह भी कहना है कि भीतरी में यदि कुछ संयोगात्मक रूप मिलते भी हैं तो वो प्राचीन के अवशेष मात्र हैं, अर्थात् प्रवृत्ति नहीं है, अपवाद है। इस प्रकार बाहरी-भीतरी भाषाओं में यह एक काफी अंतर है। किंतु गियर्सन का यह अन्तर भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जैसा कि डॉ. चटर्जी ने दिखाया है, तुलनात्मक ढंग से जब हम बाहरी और भीतरी के कारक रूपों का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि संयोगात्मक रूपों का प्रयोग भीतरी में बाहरी से कम नहीं है, अतः इस बात को भी भेदिक तत्व नहीं माना जा सकता। ब्रजःपूतहिं (कर्म), मनाहि, भौनहिं (अधिकरण)। गियर्सन विशेषणात्मक प्रत्यय 'ल' को केवल बाहरी भाषाओं की विशेषता मानते हैं, यद्यपि भीतरी में भी यह पर्याप्त है, जैसे रंगीला, हठीला, भड़कीला, चमकीला, गठीला, खर्चीला, आदि।

शब्द-समूह—इसके आधार पर भी गियर्सन बाहरी भाषाओं में साम्य मानते हैं, किंतु विस्तार से देखने पर यह बात भी ठीक नहीं उतरती। मराठी-बंगाली-सिंधी में बंगाली हिन्दी से अधिक साम्य नहीं है। इस प्रकार गियर्सन जिन बातों के आधार पर बाहरी-भीतरी वर्गीकरण को स्थापित करना चाहते थे, वे बहुत संपुष्ट नहीं हैं।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी का वर्गीकरण इस प्रकार है— उदीच्य (सिंधी, लहँदा, पंजाबी), प्रतीच्य (गुजराती, राजस्थानी), मध्यदेशीय (पश्चिमी हिन्दी), प्राच्य (पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, असमिया, बंगाली), दक्षिणात्य (मराठी) डॉ. चटर्जी पहाड़ी को राजस्थानी का प्रायः रूपांतर सा मानते हैं। इसीलिए उसे यहां अलग स्थान नहीं दिया गया है।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने चटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर ही अपना वर्गीकरण दिया है— उदीच्य (सिंधी, लहँदा, पंजाबी), प्रतीच्य (गुजराती), मध्यदेशीय (राजस्थान, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी), प्राच्य (उड़िया, असमिया, बंगाली), दक्षिणात्य (मराठी)। इसी वर्गीकरण में हिन्दी के प्रमुख चारों रूपों को मध्यदेशीय माना गया है।

श्री सीताराम चतुर्वेदी ने सम्बन्ध सूचक परसर्ग के आधार पर का (हिन्दी, पहाड़ी, जयपुरी, भोजपुरी), दा (पंजाबी, लहँदा), जो (सिन्धी, कच्छी), नो (गुजराती), एर (बंगाली, उड़िया, आसामी) वर्ग बनाये हैं। यथार्थतः यह कोई वर्गीकरण नहीं है। ऐसे तो 'ल', 'र' या 'स', 'श' ध्वनियों के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं।

वस्तुतः वर्गीकरण का आशय यह है कि उसके आधार पर भाषाओं की मूलभूत विशेषताएँ स्पष्ट हो जाये। उपर्युक्त किसी भी वर्गीकरण में यह बात नहीं है, ऐसी स्थिति में वे बहुत सार्थक नहीं हैं। इसके आधार पर कोई भाषा-वैज्ञानिक निर्णय नहीं निकाला जा सकता। इससे अच्छा तो है कि इनकी अलग-अलग प्रवृत्तियों का ही अध्ययन कर लिया जाए, या यदि वर्गीकरण जरूरी ही समझा जाए तो दो बातें कहीं जा सकती हैं। प्रवृत्तियों के आधार पर इन भाषाओं में इतना वैभिन्न्य है कि सभी बातों का ठीक तरह से विचार करते हुए वर्गीकरण हो ही नहीं सकता। हां, उत्पत्ति या सम्बद्ध अपभ्रंशों के आधार पर इनके वर्ग अवश्य बनाये जा सकते हैं, किंतु यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के वर्गों में ध्वनि या गठन सम्बन्धी साम्य बहुत कम दृष्टियों से मिल सकता है। इस वर्गीकरण का रूप मेरे अपने विचार से यह हो सकता है, मध्यवर्ती वर्ग (पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी), पूर्वीय वर्ग (बिहारी, बंगाली, आसामी, उड़िया), मध्यपूर्वीय वर्ग (पूर्वी हिन्दी), महाराष्ट्री (मराठी), पश्चिमोत्तरी वर्ग (सिंधी, लहँदा, पंजाबी)। गियर्सन ने भोजपुरी, मैथिली और मगही को एक साथ रखकर बिहारी नाम दिया था, किंतु यह नाम वैज्ञानिक नहीं है, कारण जिस प्रकार बंगला एक भाषा है, उसी प्रकार बिहारी कोई एक भाषा नहीं है। बिहार की तीनों भाषाओं में पर्याप्त अन्तर है। दूसरी

NOTES

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों से हुआ जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

- (1) **सिन्धी**— सिन्धी आज पाकिस्तानी प्रदेश सिन्ध की भाषा है। इसे पाकिस्तानी आर्यभाषा कहना अधिक समीचीन होगा। इसके प्रमुख भाषाभाषी मुसलमान हैं। सिन्धी ब्राह्मण की अपभ्रंश से विकसित हुई है। लिपि लण्डा है जो फारसी लिपि की विकृति है। प्रमुख पाँच बोलियों—विचोली, सिरैकी, लारी, थरेली और कच्छी में विचोली साहित्यिक भाषा है। साहित्य नाममात्र का है। भारत में सिन्धी—भाषी बीस लाख के करीब हैं। सिन्धी फारसी लिपि के एक विकृत रूप में लिखी जाती है।
- (2) **लहँदा** — यह पंजाबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है सूर्यास्त की दिशा अर्थात् पश्चिम। पश्चिमी पंजाब इसका क्षेत्र है जो आज पाकिस्तानी प्रदेश है। इसको भी पाकिस्तानी आर्यभाषा कहना अनुचित न होगा। लहँदा को पश्चिमी पंजाबी, जटकी, मुल्तानी, हिन्दी की, चिभाली इत्यादि नामों से भी अभिहित करते हैं। इसका सम्बन्ध के कय अपभ्रंश से जोड़ा जा सकता है। यह पैशाची भाषाओं से प्रभावित है। इसका स्थान बहुत कुछ उर्दू भाषाओं ने ले लिया है। लहँदा की लिपि भी सिन्धी की भाँति 'लण्डा' है किन्तु प्रयोग में फारसी लिपि आती है। साहित्य के नाम पर केवल 'जनम साखी' आदि कुछ सिक्खों की धार्मिक रचनाएं उपलब्ध होती हैं। इसके अन्तर्गत चार बोलियाँ हैं— केन्द्रीय लहन्दा, मुल्तानी, पोठवारी और धन्नी। इसमें साहित्य न के बराबर है।
- (3) **पंजाबी या पूर्वी पंजाबी** — पंजाबी पश्चिमी हिन्दी से जहाँ अलग है वहाँ लहँदा से मिली हुई है किन्तु पाकिस्तान के साथ लहँदा के अलग हो जाने से दोनों का भेद स्पष्ट हो रहा है। अभी इससे पैशाची भाषा का प्रभाव बिल्कुल नहीं हटा है। यह 'टक्क' अपभ्रंश से विकसित हुई है। उपबोलियों में केवल जम्मू और काँगड़ा की बोली डोंगरी उल्लेखनीय है, जो 'ठक्करी' लिपि में लिखी जाती है। अमृतसर के समीप की पंजाबी ही शुद्ध पंजाबी है। इसकी लिपि 'लंडा' है जो अपूर्ण है। गुरु अंगद ने इसी को सुधारकर गुरुमुख लिपि बनायी है। इस समय इसी का प्रयोग होता है। इस पर उर्दू और फारसी का विशेष प्रभाव था किन्तु आजकल हिन्दी के प्रचार से यह प्रभाव कम हो रहा है। इसमें साहित्य का अभाव है और जो कुछ है भी वह हाल का है। नया पंजाबी साहित्य आज बड़े योग्य और समर्थ हाथों में है।
- (4) **गुजराती**— इसका क्षेत्र गुजरात, बड़ौदा और समीपवर्ती भू-भाग है। पहले गुजराती और राजस्थानी एक थीं और आज भी यह अभिन्नता बहुत कुछ पारस्परिक साम्य पर बनी हुई लेकिन डॉ. तेस्सीतोरि के अनुसार ईसा की सोलहवीं शताब्दी प्रारंभ होते-होते इसने पृथक् होकर अपना स्वतंत्र विकास किया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता अपने विकास—क्रम को सुरक्षित रखने की है। इसको लिखने के लिए देवनागरी लिपि प्रयुक्त होती थी, किन्तु अब उसकी अपनी लिपि 'गुजराती' है जो कैथी के आधार पर देवनागरी का विकृत किया हुआ रूप है। इस लिपि की अपनी विशेषता शिरोरेखा विहीनता है। गुजराती अंग्रेजी की भाँति महाजनी (व्यवसायी) भाषा है। इसकी साहित्य परम्परा काफी समृद्ध है। इसके प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता हैं। मीरा आदि अन्य भक्तों की रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं। इसका आधुनिक साहित्य तो काफी विकसित है। गुजराती की व्युत्पत्ति के बारे में कई मत हैं परंतु सर्वमान्य मत आज यह

माना जाता है गुर्जर+त्रा= गुर्जरत्रा—गुज्जरत्ता—गुजरात। गुजरात प्रदेश की भाषा होने के कारण इसका नाम गुजराती पड़ा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ गुजराती का विशेष सम्बन्ध है। दोनों एक माता की—शौर सेनी अपभ्रंश की पुत्रियाँ हैं। प्रारम्भ से दोनों पर एक—दूसरे का प्रभाव पड़ा है। ब्रजभाषा का प्रचार गुजरात में काफी था। गुजरात के अनेक वैष्णव कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएँ की हैं। भुज, कच्छ में ब्रजभाषा की बहुत बड़ी पाठशाला थी, जहाँ उत्तर भारत से भी लोग पढ़ने के लिए आते थे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि गोविन्द गिलाभाई सौराष्ट्र के शिहोर गांव के थे। लल्लूलाल जी गुजराती थे। गुजराती कवि दयाराम ने सैकड़ों रचनाएँ ब्रजभाषा में की हैं। आज के नवोदित कवि—लेखक, गुजराती के साथ—साथ हिन्दी में भी कविताएँ, कहानियाँ तथा उपन्यास आदि लिख रहे हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिलाने में अहिन्दी भाषियों का प्रमुख हाथ रहा है। उसमें भी गुजराती का हाथ कम नहीं है। स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी के नामों का उल्लेख इस संदर्भ में पर्याप्त होंगे। राष्ट्रभाषा—प्रचार क्षेत्र में तथा राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में भी सबसे बड़ी संख्या गुजरातियों की है।

साहित्य के प्रवाह को देखें तो भी विलक्षण साम्य नजर आता है। वीरगाथा काल तथा भक्तिकाल में जैसी रचनाएँ हिन्दी में मिलती हैं, वैसी गुजराती में भी मिलती हैं, रीतिकाल का गुजराती में अभाव है। भारतेन्दु मण्डली ने जो काम जिस समय हिन्दी में किया, वही काम उस समय नर्मद मण्डली ने किया। आधुनिक कविता में हिन्दी में जिन वादों की कविताएँ लिखी गयी हैं, यद्यपि गुजराती कविता में वादों के लेबल कभी नहीं लगे। गुजराती शब्द—समूह और हिन्दी के 75 प्रतिशत शब्द—समूह में समानता है। खड़ी बोली में ब्रजभाषा के तथा अपभ्रंश के शब्द अब हटते जा रहे हैं किंतु ऐसे शब्द गुजराती में हैं।

- (5) **उड़िया** — यह उड़ीसा प्रदेश की भाषा है। प्राचीन काल में उत्कल की भाषा होने के नाते उसे उत्कली भी कहते हैं। इसके पुराने शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों के आधार पर ज्ञात कि 13वीं शती तक उड़िया बोली भाषा का रूप धारण कर चुकी थी। बहुत दिनों तक यह बंगला भाषा की एक बोली मानी जाती रही। किंतु अब इसका पृथक अस्तित्व स्वीकार हो चुका है। इसका विकास भी बंगला की भाँति मागधी अपभ्रंश से हुआ है। इसमें तेलगू और मराठी के काफी शब्द मिलते हैं। साहित्य विशेषतः कृष्ण को लेकर रचा गया है। लिपि उड़िया है जो काफी जटिल है। 'उड़िया' शब्द का सर्वप्रथम व्यवहार कब हुआ, यह ठीक—ठीक कहना तो मुश्किल है। भाषा—तात्विक दृष्टि से विचार करने पर यह पता चलता है कि आर्य द्रविड़ और मुण्डारी भाषाओं के मेल से इसकी उत्पत्ति हुई है।
- (6) **बंगला**— बंगला भाषा के आदि स्वरूप की रचना आठवीं से बारहवीं शती के बीच हुई। इसका साहित्य समृद्ध है। बंगला का क्षेत्र गंगा का मुहाना और उसके पश्चिमोत्तर का मैदानी भू—भाग है। पश्चिमी और पूर्वी दो प्रमुख विभाषाएँ हैं। साहित्यिक बंगला का विकास पश्चिमी बंगला से हुआ है और यही आदर्श भाषा है। पूर्वी बंगला का मुख्य स्थान ढाका इस समय पूर्वी पाकिस्तान में सम्मिलित है। साहित्यिक बंगला में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है। बंगला साहित्य आधुनिक भाषाओं में सबसे अधिक समृद्ध है। बंगला लिपि नागरी का ही एक विकसित रूप है। बंगाली उच्चारण की विशेषता 'अ' का 'ओ' तथा 'स' का 'श' कर देना प्रसिद्ध है। गांव तथा नगर के बंगालियों की बोली में बहुत अंतर है। मध्यकालीन बंगला काव्य पर हिन्दी का प्रभाव काफी गहरा है।
- (6) **असमिया**— असम अथवा आसाम प्रदेश की भाषा होने के नाते इसका नाम असमी या असमिया है। यह भी उड़िया की भाँति बंगला के समीप होते हुए अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। कुछ ध्वनि—चिन्हों के हेरफेर से इसकी भी लिपि बंगला ही है। इसमें बंगला जैसा उत्कृष्ट साहित्य

NOTES

तो नहीं हैं, किंतु कृष्ण सम्बन्धी रचनाएं अवश्य उत्तम हैं। इतिहास सम्बन्धी ग्रंथ इसकी अपनी विशेषता है, जो अन्य भाषाओं में प्रायः नहीं मिलते। यद्यपि असमिया भाषा की उत्पत्ति, इसकी वर्णमाला और लिपि के विकास में आर्यभाषा का ही पूर्णतः सहयोग रहा तथापि वह अपनी उद्गम भूमि की दूसरी भाषाओं के शब्दों और ध्वनि रूपों के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सकी। अतः असमिया वर्णमाला का उच्चारण दूसरी भारतीय भाषाओं के वर्णमाला के उच्चारण से भिन्न है।

- (8) **मराठी**— मराठी भाषा बोलने वाले अधिकतर महाराष्ट्र में रहते हैं। यह शब्द 'महाराष्ट्रीय' से विकसित है। मराठी की उत्पत्ति महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुई है। इसका क्षेत्र बंबई एवं बरार का प्रदेश तथा पूना और नागपुर के आसपास का भू-भाग है। देशी, कोंकड़ी, हलवी आदि प्रमुख विशेषताएं हैं, जिनमें नागपुर की देशी मराठी में साहित्य की रचना हुई है। वैसे इसके लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होता है, किंतु सामान्यतः लिखने में मोड़ी लिपि काम करती है। मराठी की साहित्यिक परम्परा काफी पुरानी है। संत नामदेव और तुकाराम इसके प्रसिद्धि कवि हैं। शब्दों की दृष्टि से यह तद्भव-बहुला भाषा है, जिसकी विशेष प्रवृत्ति अनुरक्षण एवं झंकृति मूलक शब्दों के निर्माण की है। हिंदी और मराठी ने एक-दूसरे को बहुत प्रभावित किया है। निर्गुण अद्वैत का प्रसार, सगुण भक्ति से ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति, सज्जनता, नीतिमत्ता तथा शीलसंरक्षण की रक्षा, उपदेश आदि विचारों में हिन्दी साहित्य तथा मराठी साहित्य में काफी समानता है।

इसके अलावा सिंहली तथा जिप्सी भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में आती हैं। लेकिन आज वे भारत में प्रयुक्त नहीं होती अतः यहां उनका परिचय अपेक्षित नहीं है। नेपाली (पहाड़ी का तीसरा रूप पूर्वी पहाड़ी) भी इसी में है, किन्तु उसके कुछ ही बोलने वाले भारत में हैं। इसका मुख्य क्षेत्र नेपाल की है। ग्रियर्सन ने खानदेशी (खानदेश में बोली जाने वाली) तथा भीली (राजस्थान की सीमा पर बोली जाने वाली) को भी अलग स्थान दिया था, किंतु अब इन्हें अलग भाषाएं नहीं माना जाता। इस तरह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएं संख्या में काफी हैं और वे आधुनिक भारत की जनाकांक्षा का सार्थक प्रतिबिंब कर रही है।

हिन्दी भाषा : उसका उद्भव तथा विकास

मानक हिन्दी 'खड़ी बोली' का आधार—एक प्रश्न उठता है कि मानक हिन्दी खड़ी बोली का आधार क्या कौरवी अर्थात् मेरठ के आसपास बोली जाने वाली खड़ी बोली है? बीम्स ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा आदि अधिकांश भाषाशास्त्रियों का मत यही है। कोलबुल इसका आधार कनौजी, इस्टविक हसन खॉ हरियानी को मानते हैं। जहां तक कौरवी का प्रश्न है, व्यंजन—हिव्व (बेट्टा, जात्ता, खात्ता) स्वर—माध यम ड, ढ (गाड़ी, पढ़ाई) अनेक शब्दों में 'ल' के स्थान पर ळ (बाळक) आदि ऐसी बातें हैं जो खड़ी बोली (मानक हिन्दी) से मेल नहीं खातीं। इसी प्रकार कनौजी, ब्रजभाषा तथा हरियानी की अनेक ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणिक विशेषताएं मानक हिन्दी खड़ी बोली से मेल नहीं खाती। इस प्रकार उपर्युक्त मतों में किसी भी एक को मानना कठिन है। मुझे ऐसा लगता है कि मुसलमान शासक पंजाब से होते आगरे में केन्द्रित हुआ और फिर दिल्ली आया। इस प्रकार पंजाबी, हरियानी, ब्रज और दिल्ली की खड़ीबोली इन तीनों की विशेषताओं का मिश्रित रूप, जो दिल्ली में राजभाषा फारसी की कोमल छाया में विकसित हुआ, आज की मानक हिन्दी खड़ी बोली है, जिसकी तीन शैलियाँ (हिन्दुस्तानी, उर्दू, हिन्दी) हैं। यों इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न भाषाओं के मिश्रण के बावजूद इसमें प्राधान्य दिल्ली तथा उसके आसपास बोली जाने वाली कौरवी या खड़ी बोली का ही है।

खड़ी बोली का विकास

ऊपर हम कह चुके हैं कि खड़ी बोली अपने मूल में मात्र मेरठ की आसपास की कौरवी पर आधारित नहीं है, जैसा कि अधिकांश भाषा-विज्ञानी मानते हैं, बल्कि यह एक मिश्रित बोली है, जिसमें प्रमुख

बातें तो कौरवी की हैं, किंतु साथ ही पंजाबी, बांगरू, ब्रज के तत्व भी अपने मूल या परिवर्तित रूप में इसमें समाहित हैं। इस प्रकार यह मध्यप्रदेश के भाषा-रूपों पर आधारित है और इसे उत्पत्ति की दृष्टि से शौर सेनी अपभ्रंश या उसके संधिकालीन रूप शौर सेनी अवहट्ट से सम्बद्ध कर सकते हैं। खड़ी बोली में प्रयुक्त रूपों के बीज तो हमें प्राकृत-काल में ही मिलने लगते हैं। अपभ्रंश काल में आकर वे और स्पष्ट हो गए थे। उदाहरणार्थ, हम, हमारी, तू, जी, है, हो, कही, गए, के, का, आज, कैसे, जैसे, रूप अपभ्रंश के अन्तिम काल में मिलने लगते हैं, यद्यपि उनका प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। सन्धिकालीन अवहट्ट की प्राकृत-पैगलम वर्णरत्नाकर, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, संदेशरासक एवं कीर्तिलता आदि में भी खड़ी बोली के अनेक रूप हैं। यों उनमें कुछ विकसित हैं, और कुछ अविकसित। उदाहरणार्थ, परसर्ग-का, के। सर्वनाम- हम, हमारी, तू, तुम्हें, तुम्ह, जो, कोई, अपना। संख्यावाचक विशेषण- एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, बारह, तेरह, सोलह, बाइस, सत्ताइस, अट्ठाइस, बत्तीस, चालीस, उनचास, सत्तरि आदि। क्रिया- भूत- आए, भरे, गए, चले। वर्तमान- है, हो, हों। अव्यय- आज, जहां, तहां, जब, तब आदि।

खड़ी बोली का जन्म 1000 ई. के आसपास माना जा सकता है। इसके विकास के तीन काल हैं—आदिकाल (1000—1500), मध्यकाल (1500—1800), आधुनिककाल (1800 से अब तक)।

खड़ी बोली का आदिकालीन रूप गोरखनाथ, खुसरो, रामानन्द, कबीर, रैदास, नामदेव तथा बन्दानेवाज आदि में उपलब्ध है। ध्वनि की दृष्टि से प्रमुख उल्लेख्य बात यह है कि इस काल में अपभ्रंश की तुलना में दो ध्वनियाँ नई आ गई— दो स्वर— ऐ, औ। रूप की दृष्टि से यह एक ओर तो अपभ्रंश के रूपों से आक्रांत थी, तो दूसरे इसके अपने सभी रूप विकसित नहीं हुए थे। मसलन 'भरिया', 'चलिया' जैसे रूप प्रचलन में थे। ये बाद में विकसित होकर इस तरह आधुनिक बने— भरिया—भर्या—भरा, चलिया—चल्या—चला। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि पंजाबी में अब भी प्रथम दोनों रूप प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह कौरवी तथा बांगरू में मध्यम रूप हैं। खड़ी बोली में मात्र तीसरा अर्थात् विकसित रूप ही है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि तत्कालीन खड़ी बोली, पंजाबी आदि के बहुत निकट थी। राजस्थानी और ब्रज से भी बहुत अधिक समानताएं थी। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उस काल तक अभी पंजाबी, कौरवी, ब्रज तथा समीपस्थ राजस्थानी का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। अतः आपसी अंतर बहुत कम ही थे। आदिकालीन खड़ी बोली का शब्द समूह मुख्यतः तद्भव एवं देशज का था। तत्सम शब्द अपेक्षाकृत कम थे। पश्तो, तुर्की, अरबी, फारसी के शब्द भी कुछ आ गए थे।

खड़ी बोली के माध्यम का स्वरूप हमें गंग की 'चन्द छनद वर्णन की महिमा' नानक, दादू, मलूकदास, रज्जबजी आदि संतों, रहीम के 'मदनाष्टक' आलम के 'सुदामा चरित्र', जटमल की 'गोरा बादल की कथा', वली, सौदा, इन्शा, नजीर आदि दक्खिनी एवं उर्दू के कवियों, कुतुबशतम (.....वीं सदी), भोपाल पुरान (18 वीं सदी) तथा संत प्रणनाथ के कुलजमस्वरूप आदि में मिलता है। ध्वनियों की दृष्टि से इस काल में अक्षरांत अ (कुछ अपवादों को छोड़कर) समाप्त हो गया। अर्थात् राम का उच्चारण राम् होने लगा। सामान्य लोगों में तो नहीं, किंतु पढ़े-लिखों की खड़ी बोली में, इस काल के अंत तक क, ख, ग, ज, फ़ ये पांच नए व्यंजन फारसी से आ गए। फ़ारसी के प्रचलन के कारण ही इनका प्रवेश हुआ। रूपों की दृष्टि से खड़ी बोली अपभ्रंश आदि के रूपों से काफी मुक्त हो गई। यों अब भी नए रूपों के साथ कुछ पुराने रूप चल रहे थे। उदाहरणार्थ, सर्वनामों में एक ओर तुम, हम, हमारा जैसे नए रूप थे, तो दूसरी ओर तुम्ह, हम्हे, अम्हारा जैसे पुराने रूप भी थे। क्रियारूपों में भी यही स्थिति है। एक ओर करुता, चल्या जैसे प्राचीन रूप चल रहे थे तो दूसरी ओर करता, चला जैसे नए रूप। संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग अभी तक अधिक नहीं था। फ़ारसी के प्रभाव के कारण 'कि' की सहायता से वाक्य बनने लगे थे। शब्दों में, इसके पूर्वाद्ध में पश्तो, तुर्की, अरबी, फारसी के काफी शब्द आ चुके थे। कालान्त तक कुछ पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अँग्रेजी शब्द भी आ गए। प्रथम काल की तुलना में इस काल में धार्मिक जागरण के कारण तत्सम शब्द कुछ अधिक आ गए।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

1. आधुनिक आर्यभाषाओं के उदय पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. गुजराती भाषा के विकास, क्षेत्र तथा साहित्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. असमिया तथा मराठी भाषा पर लघु टिप्पणी लिखिए।

NOTES

आधुनिक काल की आरम्भ ही खड़ी बोली की विशेष उन्नति से हुआ। प्रेस, समाचार पत्र, विज्ञान आदि के प्रचार ने इनके प्रयोग (विशेषतः गद्य) को बढ़ाया। ब्रज आदि धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र से हटने लगी। 19वीं सदी के अंत तक खड़ी बोली प्रमुखतः गद्य की भाषा थी, किंतु उसके बाद पद्य पर भी इसका एकाधिकार हो गया। इस काल में आकर खड़ी बोली की हिन्दी-उर्दू दो स्पष्ट शैलियां हो गईं। उर्दू में तो खड़ी बोली का प्रयोग पद्य में भी बहुत पहले से हो रहा था, यद्यपि अस पर अन्य बोलियों का भी प्रभाव था।

लल्लूलाल ने अपनी रचनाएं मध्य एवं आधुनिक काल में संधि स्थल पर की थी। उनके साहित्य में प्रयुक्त खड़ी बोली के रूप से, हमें उस काल की आरम्भिक खड़ी बोली का स्पष्ट चित्र मिल सकता है, अतः यहां संक्षेप में उसे देख लेना अनावश्यक न होगा। लल्लूलाल की खड़ी बोली में आज भी प्रायः लल्लूलाल की खड़ी बोली में आज भी प्रायः सभी ध्वनियां हैं, सभी स्वरोंके अनुनासिक रूप भी हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त परसर्ग हैं— ने, को, ताई, से, का, के, की, में। 'मेरे लिए' के लिए 'मेरे ताई' का प्रयोग है। सर्वनामों में मैं, हम, मेरा, मुझ, मुझी, तू, तैने, तुम्हें, तुझे, तुम, तेरा, तुम्हारा, आप, अपना, वह, वे, उस, उन, विहने (= उन्हें,) तिन, उनने (उसने), विन्होंने (उन्होंने) आदि हैं। संख्यावाचक शब्दों में, विशेष रूप से 'करोड़' के लिए 'करोड़' तथा सौ के लिए सै उल्लेख्य हैं। धातुओं में 'ल्याना', 'बरसावना' जैसे प्रयोग (महा आनंदकर बैनो से जल बरसावने लगा) भी हैं। दूढ़ाना जैसी नाम धातुओं का भी प्रयोग हुआ है।

इसका आशय यही है कि उस काल तक खड़ी बोली में एकरूपता नहीं आई थी। ब्रज, कौरवी आदि के वे प्रभाव भी अवशेष थे। जो बाद में निकल गए। किन्तु आगे जैसे-जैसे खड़ी बोली का गद्य में प्रयोग बढ़ता गया, इसमें शुद्धता एवं एकरूपता आती गई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने काल में हिन्दी खड़ी बोली को नियमित एवं परिनिष्ठित रूप देने में अभूतपूर्व काम किया। अब रूप की दृष्टि से खड़ी बोली पूर्णतः अपने पैर पर खड़ी हो गई है। 'कृपया' जैसे कुछ संस्कृत रूप अपवाद हैं। इधर कुछ नई प्रवृत्तियां भी खड़ी बोली में आ रही हैं। मसलन, बांगरू पंजाबी के प्रभाव के कारण 'मैंने जाता है' जैसे प्रयोग भी देखने में आते हैं। सर्वनामों में कई कारकों के रूप सम्बन्ध के आधार पर बनने लगे हैं। मेरे को, मेरे से, मेरे में इत्यादि। 'हम जा रही हैं' जैसे प्रयोग के स्थान पर भी 'हम जा रहे हैं' जैसे प्रयोग प्रचलन में आ गए हैं। सहायक क्रिया के प्रयोग की प्रवृत्ति कम हो रही है, विशेषतः अपूर्ण वर्तमान में— 'मैं जा रहा हूँ' के स्थान पर 'मैं जा रहा'। 'मैं, तुम' के स्थान पर बहुवचन 'हमें, तुम' का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। अंग्रेजी प्रभाव से एक नई ध्वनि 'ऑ' आ गई है जैसे 'ऑफिस' 'कॉलेज' इत्यादि। ऐ, औ संयुक्त स्वर आदिकाल में आए थे, किन्तु अब ये पुनः लुप्त हो रहे हैं और इनके स्थान पर अर्धविवृत स्वरों का प्रयोग होता जा रहा है।

आधुनिक काल में शब्द-समूह में भी विशेष परिवर्तन हुए हैं और होते जा रहे हैं। इधर अंग्रेजी शब्द बहुत अधिक आए हैं और वे हमारी भाषा के अंग बन गए हैं। इसी तरह छायावादी दौर में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत बढ़ गया। इसका कारण सांस्कृतिक उत्थान, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज तथा बंगला आदि का प्रभाव था। इसके परिणामस्वरूप कविता के साथ-साथ गद्य का शब्द भंडार भी संस्कृतनिष्ठ हो गया। प्रगतिवादी आंदोलन ने 1936 के बाद हमारी काव्य धारा को गाँवों की ओर मोड़ दिया। फलतः आंचलिक शब्द और मुहावरे खड़ी बोली हिंदी के अंग बन गए। इधर स्वाधीन भारत में खड़ी बोली हिन्दी को राजभाषा के पद पर आसीन किया गया। अतः हमें पारिभाषिक शब्दों की विशेष आवश्यकता हुई। ऐसी स्थिति में भारी संख्या में नए शब्द बनाए गए विशेषकर वैज्ञानिक, तकनीकी, वैधानिक प्रशासनिक तथा वाणिज्यिक क्षेत्र में। साथ ही, अनेक अन्तरराष्ट्रीय और बहुप्रचलित शब्दों को यथावत अपना भी लिया गया। इसके अलावा हिन्दी की व्याप्ति बढ़ने से दूसरी भारतीय भाषाओं के भी बहुतेरे शब्द हिन्दी के स्वभाव में घुल गए हैं। दूसरी ओर हिन्दी के शब्द भारी संख्या में दूसरी भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी आदि में स्वीकृति पा रहे हैं। संक्षेप आज हिन्दी की

शब्द—सम्पदा अतिशय विकसित और उत्तम अवस्था में है। अब तक अहिन्दी भाषा पत्र—व्यवहार, समाचार—पत्र, साहित्य एवं सिनेमा के क्षेत्र में बहुप्रयुक्त थी वह अब विज्ञान, वाणिज्य, विधि, मीडिया, अंतरराष्ट्रीय संदर्भों तथा नई तकनीकी आविष्कृतियों में भी धड़ल्ले से प्रयुक्त होती है। आज हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति में अभूतपूर्व विकास हो रहा है और वह धीरे—धीरे विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली भाषा बन रही है। वह प्रयोग के आधार पर चीनी के बाद विश्व की दूसरी सबसे बड़ी भाषा बन गई है।

खड़ी बोली हिन्दी के विविध रूप

(क) हिन्दी की उपभाषाएँ और साहित्यिक रूप

1. **हिन्दी का शब्दार्थ तथा प्रचलित अर्थ** :—संस्कृत की 'स' ध्वनि फ़ारसी में 'हू' के रूप में पाई जाती है, अतः संस्कृत के 'सिंधु' और 'सिंधी' शब्दों के फ़ारसी रूप 'हिन्द और हिन्दी' हो जाते हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिंदवी' या 'हिन्दी' शब्द फ़ारसी भाषा का ही है। हिन्दी फ़ारसी शब्द है। व्याकरण की दृष्टि से यह 'हिन्द' का विशेषण है जिसका अर्थ है—हिन्दका। शब्दार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्रविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है, किंतु आजकल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर—भारत के मध्यदेश के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया तथा साथ ही इसी भूमिभाग की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि—भाग की सीमाएं पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर—पश्चिम में अंबाला, उत्तर में हिमाचल प्रदेश से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण पश्चिम में भुसावल तक पहुंचती है। इस भूमि—भाग में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र—पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा शिक्षा की भाषा एकमात्र साहित्यिक खड़ी बोली ही है। साधारणतया हिन्दी शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है, किंतु साथ ही इस भूमि—भाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन डिंगल, हिन्दवी, ब्रज, अवधी तथा मैथिली आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिन्दी भाषा के ही अंतर्गत माना जाता है। समस्त भूमि—भाग की जनसंख्या पचास से साठ करोड़ के बीच है। अब हिन्दी विश्व भाषा बनने की ओर निरंतर अग्रसर है। वह वर्तमान समय में चीनी के बाद विश्व की दूसरी सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा बन गई है।

खड़ी बोली हिन्दी के विविध रूप—

1. **उर्दू** — आधुनिक खड़ी बोली साहित्यिक हिन्दी के उस दूसरे साहित्यिक रूप का नाम उर्दू है, जिसका व्यवहार पाकिस्तान तथा उत्तर भारत के पढ़े—लिखे मुसलमानों तथा उनसे अधिक सम्पर्क में आने वाले कुछ हिन्दुओं जैसे पंजाबी, काश्मीरी तथा पुरानी पीढ़ी के कायस्थों आदि में पाया जाता है। व्याकरण के रूपों की दृष्टि से इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में विशेष अंतर नहीं है, वास्तव में दोनों का मूलाधार एक ही है, किंतु साहित्यिक वातावरण, शब्द—समूह, तथा लिपि में दोनों में आकाश—पाताल का भेद है। साहित्यिक खड़ी बोली इन सब बातों के लिए भारत की प्राचीन संस्कृति तथा उसके वर्तमान रूप की ओर देखती है, उर्दू भारत के वातावरण में उत्पन्न होने और बढ़ने पर भी ईरान और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन श्वास ग्रहण करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी की अपेक्षा खड़ी बोली उर्दू का व्यवहार पहले होने लगा था। भारतवर्ष में आने पर बहुत दिनों तक मुसलमानों का केन्द्र दिल्ली रहा, अतः फ़ारसी, तुर्की और अरबी बोलने वाले मुसलमानों ने जनता में बातचीत और व्यवहार करने के लिए धीरे—धीरे दिल्ली के अड़ोस—पड़ोस की बोली सीखी। इस प्रकार की बोली का व्यवहार सबसे

NOTES

प्रथम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् देहली के महलों के बाहर किले की शाही फौजी बाजारों में होता था, अतः इसी से दिल्ली के पड़ोस की बोली के इस विदेशी शब्दों से मिश्रित रूप का नाम 'उर्दू' पड़ा। उर्दू का मूलाधार दिल्ली-मेरठ के निकट की खड़ी बोली है। यह बोली आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की भी मूलाधार है। अतः उदगम की दृष्टि से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहनें हैं। विकसित होने पर इन दोनों में जो अंतर हुआ उसे रूपक में यों कह सकते हैं कि एक तो हिन्दुस्तानी बनी रही और दूसरी ने मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया। किसी शायर ने लिखा है—

**“उर्दू और हिन्दी में फर्क सिर्फ इतना,
वे देखते हैं ख्वाब हम देखते हैं सपना।”**

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण के सूफी कवियों और मुसलमान दरबारों से आरंभ हुआ। उस समय दिल्ली-आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फारसी के था। आम जनता की भाषा होने के कारण उर्दू हेय समझी जाती थी। औरंगाबादी वली उर्दू के प्रथम प्रख्यात कवि माने जाते हैं। बाद में उनके कदमों पर दिल्ली और लखनऊ के मुसलमानी दरबारों में उर्दू कवियोंका एक समुदाय बन गया। हिन्दी भाषा के गद्य के समान उर्दू भाषा का गद्य साहित्य में व्यवहार अंग्रेजी शासनकाल में विकसित हुआ। मुद्रणकला के साथ इसका प्रचार अधिक बढ़ा। उर्दू भाषा अरबी-फारसी अक्षरों में लिखी जाती है। अब हिन्दी-भाषी प्रदेश में हिन्दुओं के बीच उर्दू का प्रभाव तेजी से कम हो रहा है।

2. **दक्खिनी** — दक्खिन में खड़ी बोली हिन्दी प्रकार का श्रेय मुसलमानी विजय और उनके प्रभाव को भी बहुत अधिक है। दिल्ली और दक्खिन में राज्य शासन और विजय का सम्बन्ध अलाउद्दीन खिलजी के समय से शुरू हुआ। यादव वंश के नाश होने पर महाराष्ट्र में खलबली मची। मुसलमानों की धर्माधता से धार्मिक स्वरूप पर धक्का पहुंचा। इसकी प्रतिक्रिया में महाराष्ट्रीय संतों ने घूम-घूमकर सर्वत्र धर्म प्रचार आरंभ किया। उत्तरी भारत में प्रायः सभी तीर्थ स्थानों काशी, प्रयाग, गया, हरिद्वार आदि में इन्हें जाना पड़ता था। इसलिए उत्तर भारत की भाषा का अभ्यास इन्हें सहज ही हो जाता था। इसके अलावा यवनों पर अपने धर्म का प्रभाव डालने और उनसे अपनी बात कहने के लिए उर्दू खड़ी बोली और अरबी-फारसी के बीच की भाषा का भी ज्ञान भी होता था। इस तरह दक्षिण में संतों और मुसलमानों के सम्मिलित प्रभावस्वरूप एक मिली-जुली भाषा का प्रचार हुआ जिसे बाद में दक्खिनी के नाम से साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हुआ।

दक्खिनी को अधिकतर लोग भ्रष्ट उर्दू का एक रूप समझ बैठते हैं पर यह उचित नहीं, उसे भी उर्दू की तरह खड़ी बोली की एक शैली समझना चाहिए जिसे गोलकुंडा और बीजापुर के दक्खिनी दरबारों में विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। दक्खिनी का मूल ढांचा खड़ी बोली या पश्चिमी हिन्दी का था उस पर अरबी फारसी के साथ ही मराठी और कुछ अन्य दक्खिनी भाषाओं का प्रभाव पड़ गया था। इसमें रचना करने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों थे।

दक्खिनी के मुसलमान कवियों की भाषा में स्वभावतः अरबी-फारसी के शब्द अधिक मिल जाते थे। परंतु जान-बूझकर अपनी भाषा को हिन्दी से अलग करने की चेष्टा इन कवियों ने नहीं की। इन ने स्वयं अपनी भाषा को दक्खिनी या 'दक्खिनी हिन्दी' कहा है। कहीं भी उर्दू का नाम नहीं लिया। शाहमीरनजी के पुत्र बुरहानुद्दीन ने कहा है—'ऐब न राखे हिन्दी बोल।' शाहमीरनजी ने स्वयं कहा—'यह बोलूं हिन्दी सब इन अर्थों के सबब।' शाह मलिक ने लिखा 'दक्खिनी में बोल्या है सब।' तात्पर्य यह कि हिन्दी-उर्दू विवाद की रंचमात्र भी भावना दक्खिनी के हिन्दू-मुसलिम कवियों में नहीं पाई जाती।

3. **हिन्दुस्तानी** — 'हिन्दुस्तानी' नाम यूरोपीय लोगों का दिया हुआ है। प्रारंभ में यह शब्द उर्दू का पर्यायवाची था किंतु बाद में उर्दू का बोलचाल वाला रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है। उत्पत्ति की

दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू के समान ही इसका आधार भी खड़ी बोली है। एक तरह से यह हिन्दी उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है, क्योंकि यह फारसी संस्कृत के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त है। साधारण श्रेणी के लोगों के लिए लिखे गये साहित्य में हिन्दुस्तानी का प्रयोग पाया जाता है। ये किस्से, गजलों और भजनों आदि की बाजारू किताबें फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में छापी जाती हैं। हिन्दुस्तानी के समान ठेठ हिन्दी में कुछ साहित्यिक पुरुषों ने लिखने का प्रयास किया है। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' ठेठ हिन्दी को साहित्यिक बनाने का प्रयोग है जिनमें ये सज्जन सफल नहीं हो सक। हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी या ठेठ हिन्दी इन समस्त रूपों का मूलाधार यह खड़ी बोली ही है। कभी-कभी ब्रजभाषा, अवधि आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखलाने के लिए आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को भी खड़ी बोली नाम से पुकारा जाता है। साहित्यिक अर्थ में प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी सी लगती है, कदाचित इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा। हिन्दी-उर्दू भाषाएँ साहित्यिक खड़ी बोली मात्र हैं।

हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ— प्राचीन 'मध्यदेश' की मुख्य बोलियों के समुदाय को भाषाशास्त्र की दृष्टि से हिन्दी नाम से पुकारा जाता है। इनमें से खड़ी बोली, बांगरू, ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली, इन पांच को भाषा-सर्वे में 'पश्चिमी हिन्दी' उपभाषा नाम दिया गया है, तथा अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी इन शेष तीन को 'पूर्वी हिन्दी' उपभाषा नाम दिया गया है तथा पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध अर्द्धभागधी प्राकृत से जोड़ा जाता है। राजस्थानी उपभाषा के अंतर्गत चार प्रधान बोलियाँ हैं— मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती तथा मालवी। भोजपुरी, मैथिली तथा मगही बोलियों को बिहारी उपभाषा माना गया है। पहाड़ी के अंतर्गत तीन प्रधान रूप हैं— पश्चिमी, मध्य (गढ़वाली-कुमायूनी) तथा पूर्वी या नेपाली। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

अ-पश्चिमी उपभाषा

1. **खड़ी बोली**— खड़ी बोली पश्चिम रुहेलखंड, गंगा के उत्तरी दोआब तथा अंबाला जिले की बोली है। मुसलमानी प्रभाव के निकटतम होने के कारण ग्रामीण खड़ी बोली में भी फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक है। किंतु ये प्रायः अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इन्हीं को तत्सम रूप में प्रयुक्त करने से खड़ी बोली में उर्दू की झलक आने लगती है। खड़ी बोली निम्नलिखित स्थानों में बोली जाती है— रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग अंबाला तथा पटियाला रियासत के पूर्वी भाग।
2. **बांगरू** — बांगरू बोली लाडू या हरियाणनी नाम से प्रसिद्ध है। यह दिल्ली, कर्नाल, रोहतक और हिसार जिलों और पड़ोस के पटियाला, नाभा और झींद रियासतों के गांवों में बोली जाती है। वास्तव में यह पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। बांगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। हिन्दी-भाषी प्रदेश के प्रसिद्ध युद्ध क्षेत्र पानीपत तथा कुरुक्षेत्र इसी बोली की सीमा के अंतर्गत पड़ते हैं अतः इसे हिन्दी की सरहदी बोली मानना अनुचित न होगा। नवीनतम मत के अनुसार यह खड़ी बोली का ही एक उपरूप है, और इसको हिन्दी की स्वतंत्र बोली मानना चिंत्य है।
3. **ब्रजभाषा** — प्राचीन हिन्दी साहित्य की दृष्टि से ब्रज की बोली की गिनती साहित्यिक भाषाओं में होने लगी, इसलिए आदरार्थ यह ब्रजभाषा कहकर पुकारी जाने लगी। विशुद्ध रूप में यह बोली अब भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। गुड़गांव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इसमें राजस्थानी, मैनपुरी और बरेली के जिलों में कुछ

NOTES

कनौजीपन आने लगता है। वास्तव में पीली भीत तथा इटावा की बोली भी कनौजी की अपेक्षा ब्रजभाषा के अधिक निकट है।

जब से गोकुल वल्लभ संप्रदाय का केन्द्र हुआ, तब से ब्रजभाषा में कृष्ण-साहित्य लिखा जाने लगा। धीरे-धीरे यह बोली समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई। 19वीं शताब्दी में धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली ने ब्रजभाषा का स्थान ग्रहण किया।

4. **कन्नौजी** — कन्नौजी बोली का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के बीच में है। कन्नौजी को पुराने कनौज राज्य की बोली समझनी चाहिए। कनौजी का केन्द्र फर्रुखाबाद है, किंतु उत्तर में यह हरदोई, शाहजहांपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। ब्रजभाषा के पड़ोस में होने के कारण साहित्य के क्षेत्र में कनौजी कभी भी आगे नहीं आ सकी। इस भूमिभाग में प्रसिद्ध कविगण तो कई हुए, किंतु इन सबने ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाएं कीं। वास्तव में कनौजी कोई स्वतंत्र बोली नहीं है, बल्कि ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है।
5. **बुंदेली** — बुंदेली बुंदेलखण्ड की बोली है। शुद्ध रूप में यह झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सेओनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिन्दवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। मध्यकाल में बुंदेलखण्ड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है किंतु यहां होने वाले कवियों ने भी ब्रजभाषा में ही कविता की है, यद्यपि इनकी भाषा पर अपनी बुंदेली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। बुंदेली बोली और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है। सच तो यह है कि ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली एक ही बोली के तीन प्रादेशिक रूप मात्र हैं।

आ-पूर्वी उपभाषा-

1. **अवधी** —हरदोई जिले को छोड़कर शेष अवध की बोली अवधी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंगी में तो बोल ही जाती है, किंतु इन जिलों के अतिरिक्त दक्षिण में गंगापार इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर और मिर्जापुर में तथा जौनपुर के कुछ हिस्सों में भी बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। इसलिए मिश्रित अवधी का विस्तार, मुजफरपुर तक है। अवधी बोलने वालों की संख्या सबसे ज्यादा है। ब्रजभाषा के साथ अवधी में कुछ साहित्य लिखा गया था, यद्यपि बाद को ब्रजभाषा की प्रतिद्वंद्विता में यह ठहर न सकी। 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' तथा 'कृष्णायन' अवधी के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।
2. **बघेली** — अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। इसका केन्द्र रीवा रियासत है, किंतु यह मध्यप्रांत के दमोह, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट के जिलों तक फैली हुई है। जिस तरह बुंदेलखण्ड के कवियों ने ब्रजभाषा को अपना रखा था उसी तरह रीवा के दरबार में बघेली। कविगण साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का आदर करते थे। नई खोज के अनुसार बघेली स्वतंत्र बोली नहीं है, बल्कि अवधी का ही दक्षिणी रूप है।
3. **छत्तीसगढ़ी** —छत्तीसगढ़ी को लरिया या खल्लाही भी कहते हैं। यह मध्यप्रांत में रायपुर और बिलासपुर के जिलों तथा कांकर, नंदगांव, खैरगढ़, रायगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जयपुर आदि राज्यों में भिन्न-भिन्न रूपों में बोली जाती है। छत्तीसगढ़ बोली वालों की संख्या डेनमार्क की जनसंख्या के बराबर है। छत्तीसगढ़ी में पुराना साहित्य बिल्कुल नहीं है। कुछ नई बाजार किताबें अवश्य छपी हैं।

इ— बिहारी उपभाषा—

- भोजपुरी** —यह प्राचीन काशी जनपद की बोली है। बिहार के शाहाबाद जिले में भोजपुर एक छोटा—सा कस्बा और पंरगना है। इस बोली का नाम इसी स्थान से पड़ा है, यद्यपि यह दूर—दूर तक बोली जाती है। भोजपुरी बोली बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चंपारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक फैली हुई है। भोजपुरी में साहित्य कुछ भी नहीं है।
- मैथिली** —यह बोली बिहार प्रांत में प्रधानतया गंगा के उत्तरी भाग में चंपारन—सारन जिलों में छोड़कर शेष प्रदेश में बोली जाती है। इस केन्द्र दरभंगा राज्य कहा जा सकता है। इस बोली का प्रयोग साहित्य रचना के लिए भी हुआ है। संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक विद्यापति ने मैथिली में भी कुछ रचना की थी। मिथिला तथा नेपाल के राजदरबारों में मैथिली पद मिश्रित संस्कृत नाटक भी लिखे गए थे। मैथिली की अपनी प्रादेशिक लिपि है जो बंगाली लिपि से मिलती जुलती है।
- मगही** —मगली बोली बिहार प्रांत में गंगा के दक्षिण में शाहाबाद जिले को छोड़कर शेष प्रदेश के उत्तरी भाग में बोली जाती है। पटना, गया जिले इसके केन्द्र माने जा सकते हैं। इस बोली का साहित्यिक महत्व है। प्रादेशिक रूप में लिखने में कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मगही शब्द वास्तव में मागधी शब्द का अपभ्रंश रूप है।

ई—राजस्थानी उपभाषा—

- मारवाड़ी** —मारवाड़ी—मेवाड़ी बोलियों को पश्चिमी राजस्थानी कहा जा सकता है। यह बोली अरावली के पश्चिम और दक्षिण के भागों में प्रधानतया जोधपुर, बीकानेर, अजमेर, मेवाड़ी, सिराही तथा जैसलमेर जिलों में बोली जाती है। शौरसेनी अपभ्रंश के उपनागर रूप से इसका विकास हुआ है। मारवाड़ी में साहित्य तथा लोक साहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। मीराबाई के पद इसी भाषा में लिखे गए हैं। मारवाड़ी, दुंदारी, मेवाड़ी, सिराही आदि इसकी उपबोलियाँ हैं।
- मेवाती** — इसे उत्तरी राजस्थानी भी कहते हैं। इसका क्षेत्र अलवर, गुड़गांव, भरतपुर तथा आसपास है। इसका मेवाती नाम 'मेत्र' जाति के इलाके मेवात के नाम पर पड़ा है। इसकी एक मिश्रित बोली अहीरवाटी है, जो गुड़गांव, दिल्ली तथा करनाल के पश्चिमी क्षेत्रों में बोली जाती है। अन्य बोलियाँ राठी, नेहर, कठर, गुजरी आदि हैं। इस पर हरियाणवी का प्रभाव है। मेवाती में केवल लोक—साहित्य है। इसका उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश के उपनागर रूप से हुआ है।
- पूर्वी राजस्थानी** —राजस्थान के पूर्वी भाग में जयपुर, अजमेर, किशनगढ़ आदि जिलों में इसका प्रयोग होता है। इसकी प्रतिनिधि बोली जयपुरी है जिसका केन्द्र जयपुर है। इसे दूढ़ाणी भी कहते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र का पुराना नाम दूढ़ाण है। शौरसेनी अपभ्रंश के उपनागर रूप से विकसित इस बोली में केवल लोक साहित्य है। तोरावाटी, काठंड़ा, चौरासी आदि इसकी मुख्य उपबोलियाँ हैं।
- दक्षिणी राजस्थानी** — इन्दौर, उज्जैन, देवास, रतलाम, भोपाल, होशंगाबाद में तथा आसपास इसका क्षेत्र है। इसकी प्रतिनिधि बोली मालवी है जिसका मुख्य क्षेत्र मालवा है। शौरसेनी अपभ्रंश के उपनगर रूप से विकसित इस बोली में कुछ साहित्य तथा पर्याप्त लोक साहित्य है। सोंड़वाड़ी, राँगड़ी, षाटवी, रतलाम आदि इसकी कुछ मुख्य उपबोलियाँ हैं।
- पहाड़ी उपभाषा**— पहाड़ी भागों में बोली जाने के कारण यह नाम पड़ा है। ग्रियर्सन ने भाषा सर्वेक्षण के अनुसार 'पहाड़ी' बोलने वालों की संख्या 21 लाख से कुछ ऊपर थी। 'पहाड़ी' हिमाचल प्रदेश के भद्रवाह के उत्तर पश्चिम से लेकर नेपाल के पूर्वी भाग तक फैली हुई है।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

- हिन्दी खड़ी बोली के विकास पर एक लघु निबन्ध लिखिए।
- खड़ी बोली हिन्दी के दक्खिनी स्वरूप का परिचय दीजिए।
- हिन्दी की 'अवधी' तथा 'बघेली' बोलियों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

इसके अंतर्गत तीन प्रधान रूप हैं— पश्चिमी पहाड़ी, मध्यवर्ती पहाड़ी तथा पूर्वी पहाड़ी और फिर इन तीनों में कुछ भाषाएं तथा बोलियां आदि हैं जैसे 'नेपाली', कुमायूनी, गढ़वाली आदि। पहाड़ी बोलियों में साहित्यिक महत्त्व केवल 'नेपाली' तथा कुछ 'कुमायूनी' का ही है। दूसरी बोलियों में लोकसाहित्य ही है। पहाड़ी के लिए प्रमुखतः नागरी लिपि का ही प्रयोग होता है तथा गौण रूप से टक्की, फारसी, कोची तथा सिरमौरी का। अब फारसी लिपि का प्रचार लगभग न के बराबर है और उसका स्थान पूर्णतः देवनागरी ने ले लिया है। पहाड़ी बोलियों का मूलाधार डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी पैशाची, दरद या यस अपभ्रंश मानते हैं लेकिन इनका सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से ज्यादा स्वाभाविक प्रतीत होती है।

सार—संक्षेप

सारांश यह है कि आज हिन्दी विश्वभाषा बनने की दिशा में अग्रसर है। वह आजाद भारत के संविधान में राजभाषा के वैधानिक अधिकार से युक्त बनायी गयी है। वह दर्जनों बोलियों के समुच्चय से विकसित और सम्पन्न हो गई है। आज स्थिति यह है कि हिन्दी की बोलियां देश में ही नहीं बल्कि विदेश में भी प्रचलन में हैं। वह विश्वभर में फैले साढ़े तीन करोड़ से ज्यादा भारतवासियों की स्वाभाविक भाषा है। उसे वैश्विक संदर्भ प्रदान करने में फिल्मों, पत्र-पत्रिकाओं, प्रकाशन-संस्थानों, भारत सरकार के उपायों, उपग्रह-चैनलों, विज्ञापन-एजेंसियों, बहुराष्ट्रीय निगमों, यांत्रिक सुविधाओं तथा शिक्षण प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग से प्रशिक्षित पेशेवर मानव-संसाधन का विशिष्ट अवदान रहा है। इसके अलावा उसमें विरचित विश्वस्तरीय साहित्य तथा साहित्यकारों का आधारभूत प्रदेश तो सर्वविदित है। ऐसी स्थिति में विश्वव्यवस्था को परिचालित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने तथा अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रयुक्त होने वाली भाषा के ठोस निकष एवं प्रतिमान पर हिंदी का पुर्नपरीक्षण सामायिक दौर की अपरिहार्य मांग है।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उदय कोई आकस्मिक घटना नहीं है। प्रकाश में आने से पूर्व परिवर्तन के साँचे में अवहट्ट और जनभाषा की मिश्रित सामग्री वर्षों ढलती रही है, जिसमें अवांछित प्राचीन नवीन भाषा तत्व छंट गए हैं और आधुनिक रूप में निखर गया है। इस परिवर्तन प्रक्रिया की गति भी सभी भाषाओं में समान नहीं है। यह पूर्वी भाषाओं में तीव्र थी और पश्चिमी भाषाओं में अपेक्षाकृत मन्द। यद्यपि इस विवेचन से हिन्दी के उद्भव की कहानी स्पष्ट हो जाती है, किन्तु वस्तुस्थिति को और साफ करने के लिए दो बातों का उल्लेख तनिक विस्तार से अपेक्षित है। एक तो उसकी उत्पत्ति काल से सम्बन्धित है और दूसरी का सम्बन्ध स्रोत-भाषा से है। व्यक्ति के जन्म तिथि की भाँति किसी भाषा की उत्पत्ति-तिथि नहीं निश्चित की जा सकती है। क्योंकि प्रत्येक नवोदित भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषा की क्रोड़ में बहुत दिनों तक पलती रहती है और पर्याप्त विकसित हो लेने के पश्चात् प्रकाश में आती है। इसलिए उसके बीजकाल से लेकर उदय-काल तक का समय उसका उद्भवकाल माना जाता है। यही कारण है कि उद्भव के समय में सौ-दो सौ वर्ष का हेरफेर होता है। हिन्दी और अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं के उदयकाल के सम्बन्ध में यही बात है।

दूसरी बात स्रोत-भाषा की है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है और अपभ्रंश का विकास प्राकृतों से। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। इस भ्रान्ति का मूल कारण यह है कि कथ्य भाषाओं की सामग्री अलिखित होने के कारण नष्ट हो जाती है और जो उपलब्ध भी होती है वह परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं के रूप में क्योंकि उनका लिखित रूप उपलब्ध होता है। इसलिए साहित्यिक भाषा को ही परवर्ती नवोदित भाषा की जननी मान लिया गया है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि नवोदित भाषा का विकास ही पूर्ववर्ती भाषा के परिनिष्ठित होकर पृथक पड़ जाने के कारण

होता है। वस्तुतः भाषा के दो रूप होते हैं—जनभाषा या बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा या परिनिष्ठित भाषा। वैदिक काल से आज तक विभिन्न कालों में इसके भिन्न-भिन्न रूपों से वैदिक एवं संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के साहित्यिक रूप विकसित हुए हैं। वैदिक, संस्कृत के समय लौकिक संस्कृत, परिनिष्ठित या पाणिनीय संस्कृत के समय प्राकृत, साहित्यिक प्राकृत के समय अपभ्रंश और अपभ्रंश के समय अवहट्ट आदि जनभाषा के सामान्य रूप हैं। अस्तु हिन्दी का सम्बन्ध साहित्यिक नहीं अपितु जनभाषा अपभ्रंश से है।

2. **गुजराती**— इसका क्षेत्र गुजरात, बड़ौदा और समीपवर्ती भू-भाग है। पहले गुजराती और राजस्थानी एक थीं और आज भी यह अभिन्नता बहुत कुछ पारस्परिक साम्य पर बनी हुई लेकिन डॉ. तेस्सीतोरी के अनुसार ईसा की सोलहवीं शताब्दी प्रारंभ होते-होते इसने पृथक् होकर अपना स्वतंत्र विकास किया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता अपने विकास-क्रम को सुरक्षित रखने की है। इसको लिखने के लिए देवनागरी लिपि प्रयुक्त होती थी, किंतु अब उसकी अपनी लिपि 'गुजराती' है जो कैथी के आधार पर देवनागरी का विकृत किया हुआ रूप है। इस लिपि की अपनी विशेषता शिरोरेखा विहीनता है। गुजराती अंग्रेजी की भांति महाजनी (व्यवसायी) भाषा है। इसकी साहित्य परम्परा काफी समृद्ध है। इसके प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता हैं। मीरा आदि अन्य भक्तों की रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं। इसका आधुनिक साहित्य तो काफी विकसित है। गुजराती की व्युत्पत्ति के बारे में कई मत हैं परंतु सर्वमान्य मत आज यह माना जाता है गुर्जर+त्रा= गुर्जरत्रा-गुज्जरत्ता-गुजरात। गुजरात प्रदेश की भाषा होने के कारण इसका नाम गुजराती पड़ा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ गुजराती का विशेष सम्बन्ध है। दोनों एक माता की-शौर सेनी अपभ्रंश की पुत्रियां हैं। प्रारम्भ से दोनों पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ा है। ब्रजभाषा का प्रचार गुजरात में काफी था। गुजरात के अनेक वैष्णव कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएं की हैं। भुज, कच्छ में ब्रजभाषा की बहुत बड़ी पाठशाला थी, जहां उत्तर भारत से भी लोग पढ़ने के लिए आते थे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि गोविन्द गिलाभाई सौराष्ट्र के शिहोर गांव के थे। लल्लूलाल जी गुजराती थे। गुजराती कवि दयाराम ने सैकड़ों रचनाएं ब्रजभाषा में की हैं। आज के नवोदित कवि-लेखक, गुजराती के साथ-साथ हिन्दी में भी कविताएं, कहानियां तथा उपन्यास आदि लिख रहे हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिलाने में अहिन्दी भाषियों का प्रमुख हाथ रहा है। उसमें भी गुजराती का हाथ कम नहीं है। स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी के नामों का उल्लेख इस संदर्भ में पर्याप्त होंगे। राष्ट्रभाषा-प्रचार क्षेत्र में तथा राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में भी सबसे बड़ी संख्या गुजरातियों की है।

साहित्य के प्रवाह को देखें तो भी विलक्षण साम्य नजर आता है। वीरगाथा काल तथा भक्तिकाल में जैसी रचनाएं हिन्दी में मिलती हैं, वैसी गुजराती में भी मिलती हैं, रीतिकाल का गुजराती में अभाव है। भारतेन्दु मण्डली ने जो काम जिस समय हिन्दी में किया, वही काम उस समय नर्मद मण्डली ने किया। आधुनिक कविता में हिन्दी में जिन वादों की कविताएं लिखी गयी हैं, यद्यपि गुजराती कविता में वादों के लेबल कभी नहीं लगे। गुजराती शब्द-समूह और हिन्दी के 75 प्रतिशत शब्द-समूह में समानता है। खड़ी बोली में ब्रजभाषा के तथा अपभ्रंश के शब्द अब हटते जा रहे हैं किंतु ऐसे शब्द गुजराती में हैं।

3. **असमिया**— असम अथवा आसाम प्रदेश की भाषा होने के नाते इसका नाम असमी या असमिया है। यह भी उड़िया की भांति बंगला के समीप होते हुए अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। कुछ ध्वनि-चिन्हों के हेरफेर से इसकी भी लिपि बंगला ही है। इसमें बंगला जैसा उत्कृष्ट साहित्य तो नहीं है, किंतु कृष्ण सम्बन्धी रचनाएं अवश्य उत्तम हैं। इतिहास सम्बन्धी ग्रंथ

इसकी अपनी विशेषता है, जो अन्य भाषाओं में प्रायः नहीं मिलते। यद्यपि असमिया भाषा की उत्पत्ति, इसकी वर्णमाला और लिपि के विकास में आर्यभाषा का ही पूर्णतः सहयोग रहा तथापि वह अपनी उद्गम भूमि की दूसरी भाषाओं के शब्दों और ध्वनि रूपों के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सकी। अतः असमिया वर्णमाला का उच्चारण दूसरी भारतीय भाषाओं के वर्णमाला के उच्चारण से भिन्न है।

मराठी— मराठी भाषा बोलने वाले अधिकतर महाराष्ट्र में रहते हैं। यह शब्द 'महाराष्ट्रीय' से विकसित है। मराठी की उत्पत्ति महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुई है। इसका क्षेत्र बंबई एवं बरार का प्रदेश तथा पूना और नागपुर के आसपास का भू-भाग है। देशी, कोंकड़ी, हलवी आदि प्रमुख विशेषताएँ हैं, जिनमें नागपुर की देशी मराठी में साहित्य की रचना हुई है। वैसे इसके लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होता है, किंतु सामान्यतः लिखने में मोड़ी लिपि काम करती है। मराठी की साहित्यिक परम्परा काफी पुरानी है। संत नामदेव और तुकाराम इसके प्रसिद्धि कवि हैं। शब्दों की दृष्टि से यह तद्भव-बहुला भाषा है, जिसकी विशेष प्रवृत्ति अनुरक्षण एवं झंकृति मूलक शब्दों के निर्माण की है। हिंदी और मराठी ने एक-दूसरे को बहुत प्रभावित किया है। निर्गुण अद्वैत का प्रसार, सगुण भक्ति से ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति, सज्जनता, नीतिमत्ता तथा शीलसंरक्षण की रक्षा, उपदेश आदि विचारों में हिन्दी साहित्य तथा मराठी साहित्य में काफी समानता है।

4. **खड़ी बोली का विकास**— ऊपर हम कह चुके हैं कि खड़ी बोली अपने मूल में मात्र मेरठ की आसपास की कौरवी पर आधारित नहीं है, जैसा कि अधिकांश भाषा-विज्ञानी मानते हैं, बल्कि यह एक मिश्रित बोली है, जिसमें प्रमुख बातें तो कौरवी की हैं, किंतु साथ ही पंजाबी, बांगरू, ब्रज के तत्व भी अपने मूल या परिवर्तित रूप में इसमें समाहित हैं। इस प्रकार यह मध्यप्रदेश के भाषा-रूपों पर आधारित है और इसे उत्पत्ति की दृष्टि से शौर सेनी अपभ्रंश या उसके संधिकालीन रूप शौर सेनी अवहट्ट से सम्बद्ध कर सकते हैं। खड़ी बोली में प्रयुक्त रूपों के बीज तो हमें प्राकृत-काल में ही मिलने लगते हैं। अपभ्रंश काल में आकर वे और स्पष्ट हो गए थे। उदाहरणार्थ, हम, हमारी, तू, जी, है, हो, कही, गए, के, का, आज, कैसे, जैसे, रूप अपभ्रंश के अन्तिम काल में मिलने लगते हैं, यद्यपि उनका प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। सन्धिकालीन अवहट्ट की प्राकृत-पैगलम वर्णरत्नाकर, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, संदेशरासक एवं कीर्तिलता आदि में भी खड़ी बोली के अनेक रूप हैं। यों उनमें कुछ विकसित हैं, और कुछ अविकसित। उदाहरणार्थ, परसर्ग-का, के। सर्वनाम- हम, हमारी, तू, तुम्हें, तुम्ह, जो, कोई, अपना। संख्यावाचक विशेषण- एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, बारह, तेरह, सोलह, बाइस, सत्ताइस, अट्ठाइस, बत्तीस, चालीस, उनचास, सत्तर आदि। क्रिया- भूत- आए, भरे, गए, चले। वर्तमान- है, हो, हों। अव्यय- आज, जहां, तहां, जब, तब आदि।

खड़ी बोली का जन्म 1000 ई. के आसपास माना जा सकता है। इसके विकास के तीन काल हैं— आदिकाल (1000—1500), मध्यकाल (1500—1800), आधुनिककाल (1800 से अब तक)।

खड़ी बोली का आदिकालीन रूप गोरखनाथ, खुसरौ, रामानन्द, कबीर, रैदास, नामदेव तथा बन्दानेवाज आदि में उपलब्ध है। ध्वनि की दृष्टि से प्रमुख उल्लेख्य बात यह है कि इस काल में अपभ्रंश की तुलना में दो ध्वनियाँ नई आ गई— दो स्वर— ऐ, औ। रूप की दृष्टि से यह एक ओर तो अपभ्रंश के रूपों से आक्रांत थी, तो दूसरे इसके अपने सभी रूप विकसित नहीं हुए थे। मसलन 'भरिया', 'चलिया' जैसे रूप प्रचलन में थे। ये बाद में विकसित होकर इस तरह आधुनिक बने— भरिया-भर्या-भरा, चलिया-चल्या-चला। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि पंजाबी में अब भी प्रथम दोनों रूप प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह कौरवी तथा बांगरू में मध्यम रूप हैं। खड़ी बोली में मात्र तीसरा अर्थात् विकसित रूप ही है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि तत्कालीन खड़ी बोली, पंजाबी आदि के बहुत निकट थी। राजस्थानी और ब्रज से भी बहुत अधिक समानताएँ थी। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उस काल तक अभी पंजाबी, कौरवी, ब्रज तथा समीपस्थ राजस्थानी का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। अतः आपसी अंतर बहुत कम ही थे। आदिकालीन खड़ी बोली का शब्द समूह मुख्यतः तद्भव एवं देशज

5. **दक्खिनी** — दक्खिन में खड़ी बोली हिन्दी प्रकार का श्रेय मुसलमानी विजय और उनके प्रभाव को भी बहुत अधिक है। दिल्ली और दक्खिन में राज्य शासन और विजय का सम्बन्ध 1 अलाउद्दीन खिलजी के समय से शुरू हुआ। यादव वंश के नाश होने पर महाराष्ट्र में खलबली मची। मुसलमानों की धर्माधता से धार्मिक स्वरूप पर धक्का पहुंचा। इसकी प्रतिक्रिया में महाराष्ट्रीय संतों ने घूम-घूमकर सर्वत्र धर्म प्रचार आरंभ किया। उत्तरी भारत में प्रायः सभी तीर्थ स्थानों काशी, प्रयाग, गया, हरिद्वार आदि में इन्हें जाना पड़ता था। इसलिए उत्तर भारत की भाषा का अभ्यास इन्हें सहज ही हो जाता था। इसके अलावा यवनों पर अपने धर्म का प्रभाव डालने और उनसे अपनी बात कहने के लिए उर्दू खड़ी बोली और अरबी-फारसी के बीच की भाषा का भी ज्ञान भी होता था। इस तरह दक्षिण में संतों और मुसलमानों के सम्मिलित प्रभावस्वरूप एक मिली-जुली भाषा का प्रचार हुआ जिसे बाद में दक्खिनी के नाम से साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हुआ।

दक्खिनी को अधिकतर लोग भ्रष्ट उर्दू का एक रूप समझ बैठते हैं पर यह उचित नहीं, उसे भी उर्दू की तरह खड़ी बोली की एक शैली समझना चाहिए जिसे गोलकुंडा और बीजापुर के दक्खिनी दरबारों में विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। दक्खिनी का मूल ढांचा खड़ी बोली या पश्चिमी हिन्दी का था उस पर अरबी फारसी के साथ ही मराठी और कुछ अन्य दक्खिनी भाषाओं का प्रभाव पड़ गया था। इसमें रचना करने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों थे।

दक्खिनी के मुसलमान कवियों की भाषा में स्वभावतः अरबी-फारसी के शब्द अधिक मिल जाते थे। परंतु जान-बूझकर अपनी भाषा को हिन्दी से अलग करने की चेष्टा इन कवियों ने नहीं की। इन ने स्वयं अपनी भाषा को दक्खिनी या 'दक्खिनी हिन्दी' कहा है। कहीं भी उर्दू का नाम नहीं लिया। शाहमीरनजी के पुत्र बुरहानुद्दीन ने कहा है—'ऐब न राखे हिन्दी बोल।' शाहमीरनजी ने स्वयं कहा—'यह बोलूं हिन्दी सब इन अर्थों के सबब।' शाह मलिक ने लिखा 'दक्खिनी में बोल्या है सब।' तात्पर्य यह कि हिन्दी-उर्दू विवाद की रंचमात्र भी भावना दक्खिनी के हिन्दू-मुसलिम कवियों में नहीं पाई जाती।

6. **अवधी** —हरदोई जिले को छोड़कर शेष अवध की बोली अवधी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंगी में तो बोल ही जाती है, किंतु इन जिलों के अतिरिक्त दक्षिण में गंगापार इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर और मिर्जापुर में तथा जौनपुर के कुछ हिस्सों में भी बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। इसलिए मिश्रित अवधी का विस्तार, मुजफरपुर तक है। अवधी बोलने वालों की संख्या सबसे ज्यादा है। ब्रजभाषा के साथ अवधी में कुछ साहित्य लिखा गया था, यद्यपि बाद को ब्रजभाषा की प्रतिद्वंद्विता में यह ठहर न सकी। 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' तथा 'कृष्णायन' अवधी के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

बघेली — अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। इसका केन्द्र रीवा रियासत है, किंतु यह मध्यप्रांत के दमोह, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट के जिलों तक फैली हुई है। जिस तरह बुन्देलखण्ड के कवियों ने ब्रजभाषा को अपना रखा था उसी तरह रीवा के दरबार में बघेली। कविगण साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का आदर करते थे। नई खोज के अनुसार बघेली स्वतंत्र बोली नहीं है, बल्कि अवधी का ही दक्षिणी रूप है।

NOTES

1. आधुनिक आर्य भाषाओं के उदय पर प्रकाश डालिए।
2. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. व्याकरण या रूपरचना के सम्बन्ध में गियर्सन के मत को स्पष्ट कीजिए।
4. हिन्दी भाषा के उद्भव तथा विकास को समझाइए।
5. खड़ी बोली हिन्दी के विविध रूपों की विवेचना कीजिए।

हिंदी का भाषिक स्वरूप

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- हिन्दी का भाषिक स्वरूप
- स्वनिम विज्ञान और स्वनिम
- संस्वन और स्वनिम
- स्वनिम और संस्वन का निर्धारण
- सार संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप—

1. हिन्दी के भाषिक स्वरूप और उसके वैशिष्ट्य से परिचित हो सकेंगे।
2. स्वनिम-विज्ञान और स्वनिम का स्वरूप तथा उसके प्रभेदों खंड्य एवं खंड्येतर स्वनिम को समझ सकेंगे।
3. स्वनिम के इतिहास उसके स्वरूप, स्वनिम और संस्वन की प्रविधि तथा संस्कृत और हिन्दी के स्वनिमीय गठन का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
4. इस इकाई के अध्ययन से आप हिन्दी के स्वनिम तथा ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन के प्रति अपेक्षित समझ विकसित कर सकेंगे।

परिचय

मनुष्य अपने जीवन में शरीर के अतिरिक्त सर्वाधिक प्रयोग भाषा का करता है, भाषा की अभिव्यक्ति की दो भिन्न पद्धतियाँ हैं— (1) मौखिक और (2) लिखित। विचारों के आदान-प्रदान के लिए ये दोनों स्वतंत्र प्रक्रिया के रूप में कार्य करती हैं। ये दोनों पद्धतियाँ भाषा के व्यावहारिक प्रकार्य के परिणाम हैं, जो भाषा के निर्माण में सहायक होती हैं। वस्तुतः भाषा मूलतः मौखिक या उच्चारित होती है। स्वर्णिम का ज्ञान भाषा के शुद्ध उच्चारण को जानने में सहायक होता है। किसी भाषा के स्वनिमों के ज्ञान से उसकी मूल ध्वनियों पर अधिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में वक्ता बोलते समय बड़ी आसानी से प्रत्येक स्थल पर उचित ध्वनि का प्रयोग कर पाता है। जैसे संगीत के सात स्वरों के आरोह, अवरोह, प्रस्तार आदि का अभ्यास हो जाने पर गाने के प्रसंग में ठीक स्वर का प्रयोग सुगम हो जाता है, वैसे ही स्वनिमों का सम्यक् ज्ञान भाषा के निर्दोष उच्चारण का साधक बन जाता है। इसलिए भारत वर्ष में सबसे पहले ध्वनियों की शिक्षा दी जाती थी। अध्ययन का आरम्भ ध्वनियों की शिक्षा से ही होता था। इस तरह सफल भाषा-शिक्षण के लिए, चाहे मातृभाषा हो चाहे अन्य भाषा, स्वनिम का समुचित ज्ञान अनिवार्य है। भाषा विज्ञान की दूसरी शाखाएं जैसे पद विज्ञान, वाक्य विज्ञान या अर्थ विज्ञान मूलतः स्वनिम पर आधारित हैं। पद अनेक स्वनिमों का समुच्चय है और वाक्य अनेक पदों का। समुच्चय तथा अर्थ का आधार पद या वाक्य है। इस प्रकार इन तीनों के मूल में स्वनिम की ही सत्ता दिखाई देती है।

स्वनिम का ज्ञान लेखन-पद्धति या लिपि के निर्माण के लिए अपरिहार्य है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक, राजनीतिक, मानव वैज्ञानिक दृष्टियों से आज भी संसार की अनेक अनधीत भाषाओं का अययन हो रहा है जिनकी कोई लिपि नहीं है। उनकी लिपि का निर्माण करने के लिए उनके स्वनिमों का विश्लेषण आवश्यक है। आदर्श लिपि का लक्षण है कि एक स्वनिम के लिए एक लिपि-संकेत हो और एक लिपि संकेत से एक स्वनिम का बोध हो। यह तभी संभव है जब स्वनिमों का ध्यान में रखकर लिपि संकेतों को गढ़ा जाए। देवनागरी में यही गुण है जो रोमन में नहीं है। स्वनिम-सिद्धांत के आदि प्रवर्तक महर्षि पाणिनि हैं। जिन्होंने अपनी भाषा की ध्वनियों का सम्यक् विश्लेषण कर उन्हें यथावत् निरूपित विन्यस्त और वर्गीकृत किया। स्वनिम सिद्धांत का ऐसा उत्तम, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक निरूपण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। स्वनिम के अनुरूप लिपि-संकेत का निर्माण भी एक मात्र भारत में ही संभव हो सका। दूसरे देशों में स्वनिम का ही ठीक ढंग से निर्धारण नहीं हुआ, तदनु रूप लिपिका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह स्वनिम के ज्ञान के अभाव में वैज्ञानिक लिपि का निर्माण असंभव है।

हिन्दी का भाषिक स्वरूप

भाषा का प्रयोग समाज में होता है, किन्तु समाज के संदर्भ हमेशा एक नहीं होते। मानसिक, प्रायोजनिक, पारंपरिक तथा अभिव्यक्तिक दृष्टि से समाज के भी परिवर्तन होते हैं। बैंक का समाज

एक है, तो किसी प्रशासनिक कार्यालय का समाज दूसरा, किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला का समाज तीसरा, तो किसी विशेष स्थान पर लगे सञ्चयों के प्रातः कालीन बाजार का समाज चौथा। और इसी प्रकार हर भाषा भाषी वर्ग (व्यापारिक, साहित्यिक, वकीली, डाक्टरी, इंजीनियरी आदि—इत्यादि) का अपना सीमित समाज अलग—अलग होता है समाज के इन परिवर्तों के विषय अलग—अलग होते हैं, अतः इनकी अभिव्यक्तिक आवश्यकताएं भी अलग—अलग होती हैं। इस अलगाव के लिए विषय के अतिरिक्त लोगों का मानसिक स्तर, उस तरह के समाज की परंपरा, मुख्यतः अभिव्यक्तिक परम्परा, उनका भूगोल, इतिहास उनकी सभ्यता और संस्कृति आदि अनगिनत वे बातें जिम्मेदार हैं जिनसे उस समाज के अपने निजी व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वस्तुतः जैसे हर व्यक्ति की अपनी भाषा होती है, ठीक उसी प्रकार हर विशिष्ट समाज (जो बृहत्तर समाज का किसी स्तर पर एक खंड हैं) की भी 'अपनी भाषा' होती है, और इस 'उस सीमित समाज' की 'अपनी भाषा' का अपना व्यक्तित्व—उस समाज के व्यक्तित्व के अनुरूप ही— भी अलग होता है। अर्थात् एक बृहत्तर समाज के भीतर विभिन्न प्रयोजनों से जितने भी विभिन्न छोटे—छोटे समाज गठित होते हैं, उन सबकी अपनी भाषा भी एक सीमा तक अलग—अलग होती है, जो प्रयोग के विशिष्ट प्रयोजन के कारण उस भाषा के सर्वसामान्य रूप के परिवर्तन कहे जा सकते हैं। किसी भी भाषा के ये विभिन्न परिवर्तन उस प्रयोजन पर ही आधृत होंगे, जिसके लिए उनके अलग—अलग प्रयोग होंगे— विभिन्न प्रयोजनों के लिए गठित समाज खण्डों के द्वारा। किसी भाषा के ये विभिन्न रूप या परिवर्त ही उस भाषा के प्रयोजन मूलक विभिन्न रूप हैं। दुनिया की हर भाषा में इस प्रकार के रूप होते हैं। यों जो समाज जितना ही कम विकसित तथा विभिन्न क्षेत्रों में कम विशेषज्ञीकृत होगा, उसकी भाषा के प्रयोजन मूलक रूप भी उतने ही कम होंगे। इसके विपरीत जो समाज जितना ही अधिक विकसित और विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञीकृत होगा, उसकी ये प्रयोजनमूलक रूप भी उतने ही अधिक होंगे। इस तरह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किसी समाज की विशेषज्ञता जितनी ही बढ़ती जाती है, इन प्रयोजनमूलक भाषारूपों की संख्या भी बढ़ती जाती है। आज विश्वस्तर पर प्रयुक्त होने वाली हिन्दी के बहुविध रूपों में इसे देखा जा सकता है।

हिन्दी का जन्म जब 1000 ई. के आस पास हुआ तो वह केवल बोलचाल की भाषा थी। सामान्य जीवन तथा उससे संबद्ध खेती, व्यापार, लुहारी, बढईगिरी, कुम्हारी, सिलाई गिरी आदि जीवन के तत्कालीन आवश्यक क्षेत्रों में इसका प्रयोग होता था और इनसे संबद्ध उसके थोड़े बहुत विशेषीकृत रूप थे। हाँ हिन्दी के भौगोलिक परिवर्तन काफी थे, क्योंकि उसका क्षेत्र काफी विस्तृत था और है भी। धीरे—धीरे हिन्दी जनता जैसे—जैसे धर्म, ज्योतिष, साहित्य आदि अन्य विशिष्ट क्षेत्रों में अपनी भाषा का प्रयोग करती गई, इसके प्रयोजन मूलक विभिन्न नए रूप भी विकसित होते गये। मध्यकाल में प्रशासनिक, कलई गिरी, वस्त्र उद्योग आदि कई दृष्टियों से हिन्दी—भाषी जनता की नई विशेषताएं बढ़ी, अतः हिन्दी के प्रयोजन मूलक नए रूप भी अस्तित्व में आए। अंग्रेजी शासन में यूरोपीय संमर्क से हमारा सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक ढाँचा काफी बदला, धीरे धीरे हमारे जीवन में कई विशेषताएँ (जैसे पत्रकारिता, इंजीनियरी, बैंक आदि) पनपी और तदनुकूल हिन्दी के नए प्रयोजनमूलक भाषिक रूप भी उभरे। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी भाषा के प्रयोग का क्षेत्र बहुत बढ़ा है, और बढ़ता जा रहा है, और तदनुकूल उसके प्रयोजन मूलक रूप भी बढ़े हैं और बढ़ते जा रहे हैं। भारत के अतिरिक्त मारिशस, सूरीनाम, फिजी, दक्षिणी अफ्रीकी, पाकिस्तान (हिन्दी की एक शैली ऊर्दू) तथा इंग्लैण्ड (यहाँ भी हिन्दी—ऊर्दू भाषी काफी हैं, तथा अब तो उनकी अपनी पत्रिकाएँ भी निकलने लगी हैं) आदि कई देशों में भी हिन्दी है, अतः इन सबमें प्रयुक्त हिन्दी के सहयोग से हिन्दी के एक ऐसे स्वरूप के विकसित होने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता, जिसे किसी एक देश से ऊपर विश्वजनीन कहा जा सके। भारत में अखिल भारतवर्षीय सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी एक स्वरूप के विकास का यत्न प्रशासनिक तथा अन्य स्तरों पर हो रहा है, जिसकी ओर संकेत हमारे संविधान की 351वीं धारा में किया गया है। सरकारी या कार्यालयी भाषा के रूप में हिन्दी का एक रूप, स्वतंत्रता प्राप्त के बाद लगभग पच्चीस वर्षों में काफी कुछ विकसित हुआ है, संविधान की 343वीं धारा में जिसका संकेत है। यों इसमें संदेह नहीं की इस स्तर पर तालमेल का अभी अभाव है, इसी कारण केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में जिस हिन्दी का थोड़ा बहुत प्रयोग हो रहा है, वह पूरी तरह से वही हिन्दी

NOTES

नहीं है, जिसका उत्तरप्रदेश, हरियाणा, राजस्थान आदि विभिन्न हिन्दी प्रदेशों की सरकारें कर रही हैं। वस्तुतः इसके लिए काफी प्रभाव 'को आर्डिनेशन' की आवश्यकता है। कार्यालय भी विभिन्न क्षेत्रों में और स्तरों पर कई प्रकार के (कचहरी, बैंक ऊपर से नीचे तक के प्रशासनिक स्तर के कामेश्वरी, कलेक्टरी, तहसील, परगना आदि) हैं और उन सभी की अपनी अलग-अलग अभिव्यक्ति आवश्यकताएँ और परंपराएँ हैं, अतः इन सभी में हिन्दी के जो रूप हैं, और जो विकसित हो रहे हैं, किसी न किसी रूप में एक दूसरे से लगभग हैं, और ये सभी हिन्दी के प्रयोजमूलक परिवर्तन या उपरूप हैं। साहित्य और उनमें भी विभिन्न साहित्यिक विधाओं (जैसे काव्य, नाटक, कथा साहित्य, आलोचना), संगीत, आभूषणों के बाजारों, कपड़े के बाजारों, विभिन्न प्रकार के सट्टा बाजारों, समाचार पत्रों, धातुओं आदि के क्रय-विक्रय की दुनिया (जिसकी एक झाँकी किसी भी दैनिक पत्र के संबद्ध पृष्ठ से ली जा सकती है), फिल्मों, चिकित्सा-व्यवसाय, खेलों-खलिहानों, विभिन्न शिल्पों और कलाओं, विभिन्न कसरतों-खेलों (के अखाड़ों, कोटों, और मैदानों या उनकी मेजों आदि इत्यादि) में प्रयुक्त हिन्दी पूर्णतः एक नहीं है। ध्वनि, शब्द (कभी-कभी), रूप-रचना, वाक्य-रचना, मुहावरों आदि की दृष्टि से उनमें कभी थोड़ा, कभी अधिक स्पष्ट अंतर है, और ये सारे हिन्दी के ही अलग-अलग प्रयोजन मूलक रूप हैं।

कुछ उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त बात स्पष्ट की जा सकती है। 'शेयरो में सुधार' सटोरियों की पटान', सटोरियों की विकवाली', चीनी में तेजड़ियों की पकड़ डीली, 'दस्ती डेलिवरी वायदा शेयर', चाँदी में गिरावट', 'सोना उछला', 'चाँदी लुढ़की', स्टैंडर्ड सोना खामोशी के साथ 514 पर खुला' 'दिसावर के मदे समाचारों में चना-चावल नरम', 'चाँदी लुढ़की', जैसे प्रयोगों से युक्त हिन्दी का प्रयोग मंडियों और शेयर बाजारों में होता है, तो सामान्य भाषा का प्रयोग 'आप कृपया इसे बैंक में जमा कर दें, बैंक के कागजों पर 'जमा कर दें' रह जाता है, जिसमें कर्ता और कर्म गायब हैं। बोलचाल की सामान्य हिन्दी कर्ता-प्रधान है, किन्तु कार्यालयी हिन्दी में कर्ता का लोप कर दिया जाता है। वहाँ 'अधिकारी आम जनता को सूचित करते हैं के स्थान पर 'आम जनता को सूचित किया जाता है,' 'आप वहाँ बिल्लिंग बनवा दें' के स्थान पर 'वहाँ बिल्लिंग बनवा दी जाय' आदि। वस्तुतः वहाँ व्यक्ति शासन तंत्र का अंग हैं, अतः आज्ञा या सूचना शासन-तंत्र की ओर से आती है, व्यक्ति की ओर से नहीं: इसी कारण वह महत्वपूर्ण नहीं रहा जाता। ऐसे प्रयोगों की जड़ में कदाचित् यही मनोविज्ञान है। फाइलों पर 'तुरंत', 'आवश्यक', 'अत्यन्त आवश्यक', 'अतितुरंत' पूरे वाक्य का अर्थ देते हैं, जैसे... वह पत्र अत्यन्त आवश्यक है' का अत्यन्त आवश्यक आदि। बोलचाल की भाषा, नाटकों कथा साहित्य के कथनोपकथन में वाक्य में अनेक शब्दों का लोप करके उसे एक या दो शब्दों कर कर लेते हैं। 'आपका नाम?' ('आप का नाम क्या है' के स्थान पर) 'तिवारी' (मेरा नाम तिवारी है' के स्थान पर)। ऐसे ही 'अवश्य', 'जरूर-जरूर' 'हाँ', 'हाँ', 'हाँ', 'बखुशी', 'जहे किस्मत', 'अहोभाग्य' 'वाह', 'क्या कहने', टेलीफोन पर 'जी' आदि। हिन्दी में बोलचाल में संज्ञा, क्रिया की पुरुक्तियों का प्रयोग बहुत अधिक होता है, वह चाप-वाप मँगावों, 'तुम्हें चलना-बलना तो हैं नहीं....', किन्तु आलोचना, कविता या शास्त्रीय विवेचन में यह बात नहीं मिलेगी। ये अंतर मुख्यतः शब्द प्रयोग, सह प्रयोग तथा वाक्य रचना के स्तर पर मिलते हैं, किन्तु कभी-कभी ध्वनि, रूप रचना तथा अर्थ के स्तर पर भी अंतर होता है। शब्द प्रयोग के अंतर से मेरा आशय है विशिष्ट क्षेत्रों में एक ही अर्थ में विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से। उदाहरण के लिए, सामान्य भाषा में जिस चीज के लिए 'नमक शब्द का प्रयोग होता है, रसायन शास्त्र में उसे 'लवण' कहते हैं। सहप्रयोग से आशय है दो या अधिक शब्दों का साथ-साथ प्रयोग। मंडियों की भाषा में चाँदी और सोना के साथ 'लुढ़कना' और 'उछलना' क्रिया का प्रयोग होता है, किन्तु हिन्दी के अन्य रूपों में इन संज्ञा शब्दों के साथ इन क्रियाओं का सहप्रयोग नहीं मिलेगा। वाक्य-रचना-विषयक रूपांतर बहुत अधिक मिलते हैं- संज्ञीकरण विशेषीकरण, सर्वनामीकरण, कर्मवाच्यीकरण, भाववाच्यीकरण, लोपीकरण अथवा संक्षेपीकरण आदि। ध्वनि की दृष्टि से-अंतर जैसा की ऊपर संकेत है- कम मिलते हैं, किन्तु मिलते हैं। मंत्र-जंतर, यंत्र-जंतर, मीन-मेष-मीन-मेष के प्रयोग-क्षेत्र कई स्तरों पर एक 'सीमा तक अलगाए जा सकते हैं। अर्थ की अभिव्यक्ति में शास्त्रीय अथवा दतरी भाषा में अभिधा पर बल रहता है तो सर्जनात्मक साहित्य में लक्षणा-व्यंजना पर। ऐसे ही सामान्य भाषा में 'टीका लगाना' तिलक लगाना है, किन्तु चिकित्सा से संबद्ध भाषा में 'सुई लगाना'। काव्यशास्त्र में 'व्युत्पत्ति'

का एक अर्थ है तो भाषा शास्त्र में दूसरा, संगीत में 'संगत करना' का एक अर्थ है तो सामान्य भाषा में दूसरा। अंतरों की यह सूची काफी बढ़ाई जा सकती है। वस्तुतः इस दिशा में अभी काम करने की आवश्यकता है।

समवेततः हिन्दी के मुख्य प्रयोजन मूलक रूप सात है। आगे इनके अपरूप भी हो सकते हैं, जिसका संकेत कोष्ठकों में हैं: (1) बोलचालीय हिन्दी, (2) व्यापारीय हिन्दी (इसमें भी मंडियों की भाषा, सर्राफे के दलालों की भाषा, सट्टाबाजार की भाषा आदि कई उपरूप हैं), (3) कार्यालयी हिन्दी (कार्यालय भी कई प्रकार के होते हैं और उनमें भी भाषा के स्तर पर कुछ अंतर है), (4) शास्त्रीय हिन्दी (विभिन्न शास्त्रों में प्रयुक्त भाषाएँ भी शब्द के स्तर पर कुछ अलग है। इसमें संगीत शास्त्र, काव्य शास्त्र, भाषा शास्त्र, दर्शन शास्त्र, योग शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, विधिशास्त्र आदि की भाषाएँ हैं।), (5) तकनीकी हिन्दी (इंजिनियरी, बढईगिरी, लुहारी, प्रेस, फैक्टरी, मिल आदि की तकनीकी भाषा), (6) समाजी हिन्दी इसका प्रयोग सामाजिक कार्यकर्ता करते हैं) तथा (7) साहित्यिक हिन्दी (इसमें कविता, कला साहित्य तथा नाटक की भाषा आदि में अंतर होता है)।

(1) स्वनिम— विज्ञान और स्वनिम

स्वनिमाष्यं तुविज्ञानं, मूल—ध्वनि—विबोध—कृत ।

ध्वनि—विश्लेष—विवृत्या, लिप्यंकनमिहोद्यते ॥1॥

भाषा विशेष—सेबद्धं साम्य—विवृतिमूलकम् ।

ध्वनेः साम्यं च वैषम्यं विवृतिश्चेह वर्ण्यते ॥2॥

(कपिलस्य)

(स्वनिम विज्ञान में मूल ध्वनियों का बोध कराया जाता है। इसमें ध्वनियों के विश्लेषण और विवरण के साथ ही उनके लिपिरूप में अंकन का वर्णन होता है। यह किसी विशेष भाषा में सम्बद्ध होता है। इसमें समान ध्वनियों को एक वर्ग में रखा जाता है। ध्वनियों की समानता, विषमता और विवरण के द्वारा उनको छाँटा जाता है।)

भाषाविशेष—संबद्धो लघिष्ठः सार्थको ध्वनिः ।

समध्वनेः प्रतिनिधिः, भेदकृत् स्वनिमो मतः ॥3॥

(कपिलस्य)

(स्वनिम किसी भाषा विशेष से सम्बद्ध लघुतम सार्थक ध्वनि है। यह समान ध्वनि की प्रतिनिधि होती है। अन्य ध्वनियों से किसी रूप में भिन्न होने के कारण इसको भेदक ध्वनि माना जाता है।)

(1) (क) स्वनिम—विज्ञान के विभिन्न नाम

फोनी मिक्स के लिए हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित हैं— ध्वनिग्राम—विज्ञान, स्वनिमी, स्वानिमी, स्वनिम—विज्ञान, स्वनग्रामिकी, ध्वनिग्रामिकी, ध्वनितत्व—विज्ञान, ध्वनि मात्रा विज्ञान, वर्ण विज्ञान आदि। इनमें से स्वनिम—विज्ञान और ध्वनिग्राम—विज्ञान नाम अधिक प्रचलित हैं। फोन के लिए 'स्वन' शब्द है। अतः फोनीम को 'स्वनिम' और फोनीमिक्स को 'स्वनिम—विज्ञान' कहना अधिक उपयुक्त है। फोन का अनुवाद 'ध्वनि ग्राम—विज्ञान' शब्द होंगे।

(1) (ख) स्वनिम—विज्ञान क्या है?

स्वनिम विज्ञान (फोनी मिक्स) भाषा शास्त्र का एक प्रमुख अंग है। इसमें प्रत्येक भाषा के स्वनिमों (फोनीम) का वैज्ञानिक विश्लेषण—विवेचन—पद्धति के द्वारा संकलन किया जाता है और उनके आधार पर प्रत्येक भाषा के लिए सुव्यवस्थित वैज्ञानिक लिपि तैयार की जाती है। यह विज्ञान अनेक दृष्टि से भाषाशास्त्र के लिए अत्युपयोगी सिद्ध हुआ है।

(1) (ग) स्वनिम का स्वरूप

स्वनिम (फोनीम) के स्वरूप के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। बलूमफील्ड और डेरियल जोन्स आदि इसे भौतिक इकाई मानते हैं। एडवर्ड सपीर, कुर्तिन तथा प्राग स्कूल के कुछ भाषा शास्त्र स्वनिम को मनो वैज्ञानिक इकाई मानते हैं। प्रो डब्लू एफ, (वाडेल इसको अमूर्त काल्पनिक इकाई मानते हैं। कुछ विद्वान इसको बीज गणितीय इकाई सिद्ध करते हैं। विचार करने से ज्ञात होता है कि स्वनिम (फोनीम) को अमूर्त काल्पनिक इकाई मानना अधिक उचित है। स्वनिम ध्वनि समूह का द्योतक है, अतः यह जाति है। जिस प्रकार जाति और व्यक्ति में जाति अमूर्त है, और व्यक्ति मूर्त, उसी प्रकार स्वनिम जाति होने के कारण अमूर्त है और संस्वन या संध्वनि मूर्त है। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में जाति के स्थान पर व्यक्ति का व्यवहार होता है, उसी प्रकार भाषा में संस्वन का ही व्यवहार होता है, स्वनिम का नहीं। प्रयोग की दृष्टि से संस्वन का ही अस्तित्व है, स्वनिम इसके मूल स्वरूप का द्योति करता है।

स्वनिम की परिभाषा—

स्वनिम (फोनीम) भाषा की वह लघुतम इकाई है, जो समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह अन्य ध्वनियों से भिन्न होती है। इसका सम्बन्ध किसी भाषा विशेष से होता है। जिन परिस्थितियों में एक स्वनिम आता है, ठीक उन्हीं परिस्थितियों में दूसरा स्वनिम नहीं होता। प्रत्येक स्वनिम स्वतंत्र एक ही संकेत से संकेतित किया जाता है। उच्चारण स्थान और प्रयत्न की समानता के आधार पर स्वनियों को निर्धारण किया जाता है। स्वनिम को संघटक ध्वनियों को सेस्वन एलोफोन या संध्वनि कहते हैं। स्वनिम समस्त ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा की लघुतम इकाई है।

स्वनिम की विशेषताएँ— स्वनिमों की प्रवृत्ति के विवेचन से निम्नलिखित तथ्य ज्ञात होते हैं—

1. स्वनिम या फोनीम किसी भाषा की लघुतम अखण्ड्य इकाई होता है जैसे, अ, इ, क्, च, ट्, त्, प आदि। यह एक जाति या श्रेणी है।
2. स्वनिम समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है। एक ही ध्वनि यदि अनेक प्रकार से उच्चरित होती है तो स्वनिम एक ही होगा। उसके सेस्वन या सेध्वनि (एलोफोन) अनेक हो सकते हैं।
3. स्वनिम में अर्थ परिवर्तन की शक्ति होती है। जैसे काल, गाल, लाल में क्, ग्, ल्, स्वतंत्र स्वनिम् है अतः इनके भेद से अर्थों में अन्तर हो जाता है। सेस्वन या सेध्वनि में अर्थ परिवर्तन करने की शक्ति नहीं होती।
4. स्वनिम समीपवर्ती ध्वनियों से प्रभावित होते हैं जैसे लाल लूट, उल्टा में ल् ध्वनि है। लाल में ल् आ के कारण कण्ठस्थान से प्रभावित है। लू में ऊ के कारण जीभ कुछ आगे आती है और उल्टा में परवर्तीट् के कारण जीभ प्रतिवेष्टित होती है। इस प्रकार तीनों ल् के उच्चारण में अन्तर है।
5. स्वनिमों में ध्वन्यात्मक समानता की ओर प्रवृत्ति होती है। इसके आधार पर किसी भाषा विशेष की ध्वनियों के निर्धारण में सहायता मिलती है। जैसे किसी भाषा में क्, ग्, च, ज्, ट्, ड्, त्, प, ब्, मिलते हैं। इनके विवेचन से ज्ञात होता है कि इस भाषा विशेष में स्पर्श व्यंजनों में अघोष स्पर्श के साथ घोष स्पर्श भी है। ऊपर दिये वर्णों में क्, च्, ट्, और प्, के घोष वर्ण ग्, ज्, ड्, और ब् है किन्तु त् का घोष वर्ण द् गायब है। ध्वन्यात्मक साम्य की प्रवृत्ति के आधार पर यह निर्णय किया जाएगा कि इस भाषा में द् ध्वनि भी होनी चाहिए। संभवतः श्रोता की त्रुटि के कारण द् को भी त् समझ लिया गया है।
6. स्वनिमों की प्रवृत्ति परिवर्तन की ओर होती है। कोई भी मनुष्य किसी एक ध्वनि को ठीक उसी प्रकार दुबारा उच्चारण नहीं कर सकता है। बाद के उच्चारणों में कुछ न कुछ सूक्ष्म, भेद रह जाता है। इस परिवर्तन के कारण कुछ भाषाओं में त् और ट् या त् और द् ध्वनियाँ परिवर्तनीय हो सकती हैं। अन्य भाषाओं के श्रोता इन ध्वनियों का अन्तर सुनकर ज्ञात कर सकते हैं।

7. प्रत्येक भाषा में ध्वनि-क्रम होते हैं। एक विशेष योजना के साथ ध्वनियों का क्रम होता है। इसके आधार पर संदिग्ध स्थान पर स्वर या व्यंजन का निर्णय किया जाता है। यदि किसी भाषा में व्यंजन-स्वर, व्यंजन-स्वर का क्रम है और कहीं पर तृतीय वर्ण संदिग्ध है तो वहां पर व्यंजन की स्थिति मानी जायेगी।
8. स्वनिम दो प्रकार के हैं— खण्ड्य और अखण्ड्य। खण्ड्य में स्वर और व्यंजन आते हैं, क्योंकि इनको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। अखण्ड्य में मात्रा, सुर, बलाघात, संगम, अनुनासिकता आदि हैं। अतः केवल स्वरों और व्यंजनों को ही स्वनिम समझना त्रुटिपूर्ण है।
9. कुछ स्थानों पर स्वच्छन्द परिवर्तन भी होता है। उन स्थानों पर बिना किसी अर्थ-परिवर्तन के दो ध्वनियों में से एक का प्रयोग किया जा सकता है। हिन्दी में उर्दू आदि के क्, ख्, ग्, के स्थान पर क्, ख्, ग् का प्रयोग प्रचलित है। जैसे गरीब को गरीब, बुखार को बुखार। इसको स्वच्छन्द परिवर्तन माना जाएगा। इसी प्रकार संस्कृत की कुछ ध्वनियों को लोक भाषा में विकृत रूप में बोला जाता है। इससे भी अर्थ परिवर्तन नहीं होता है। जैसे य को ज, यजमान-जजमान, ष को ख्, षट्कोण, -खट्कोण, ज्ञ को ग्य, ज्ञान को ग्यान। इनको भी स्वच्छन्द-परिवर्तन माना जाएगा।

NOTES

संस्वन तथा उसकी विशेषता—

1. संस्वन या संध्वनि के व्यवहृत रूप हैं। भाषा में संस्वन का ही प्रयोग होता है, स्वनिम का नहीं। स्वनिम को जाति कहेंगे, तो सेस्वन व्यक्ति है। काल, कला आदि में कत्व जाति (क स्वनिम) है, परन्तु व्यवहार क् संस्वन का ही होता है।
2. एक स्वनिम (फोनीम) के अनेक संस्वन हो सकते हैं। संस्वन के भेद से स्वनिम में भेद नहीं होता है। परवर्ती ध्वनि के आधार पर क् के उच्चारण में भेद हो सकता है, जैसे—काल, कुल, क्रम, क्लान्त, क्षय आदि। ऐसे संस्वनों को क् क्², क्³ आदि लिखकर अन्तर दिखाया जाता है।
3. सेस्वन में अर्थभेदता नहीं होती है। क् को किसी भी स्थान से उच्चारण करे, कण्ठ से या उसके आगे-पीछे स्थान से, उससे अर्थ में अन्तर नहीं होगा।
4. संस्वन इकाई है, स्वनिम जाति या वंश।

स्वनिम और संस्वन—

- (क) स्वनिम का रूप— भाषा में दो प्रकार की ध्वनियां मिलती हैं? फोनोटिक (ध्वन्यात्मक या स्वानिक) (2) फोनीमिक (स्वनिमीय या ध्वनिग्रामीय)। दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि फोनेटिक या ध्वन्यात्मक संकेत भाषण ध्वनि की इकाई को सूचित करता है। 100 बार क् बोलने पर 100 (क्) (ज्ञ) इकाई हुई। उसको दो कोष्ठकों () के बीच में रखकर दिखाया जाता है। जैसे (क्), (ख्)। फोनीमिक या स्वनिमीय संकेत भाषण ध्वनि के एक वंश, वर्ग या जाति को सूचित करता है। एक वंश या जाति के लिए केवल एक स्वनिम रहता है। 100 क् एक वंश या एक जाति है। अतः यह एक स्वनिम हुआ। इस एक स्वनिम में इसके वंशज सभी क् इसके संस्वन होंगे। जैसे क् के भेद कि, कु, क्त, क्ल आदि स्वनिम जाति या वंश हैं, सेस्वन व्यक्ति है।
- (6) (ख) स्वनिम और संस्वन— स्वनिम या ध्वनिग्राम जाति है और संस्वन व्यक्ति। स्वनिम को दो तिरछी लकीरों / 1 के अन्दर लिखा जाता है। हिन्दी टाइप में तिरछी लकीरों की सुविधा न होने से इसे दो सीधी लकीरों के बीच में भी लिखा जाता है। जैसे— क् ख् ग् स्वनिम को / क् /, / ख् /, / ग् / लिखेंगे।

संस्वन— संस्वन को संध्वनि भी कहते हैं। (एलो) का अर्थ है— एक या अन्य। यह ग्रीक शब्द (एलोस) का संक्षिप्त रूप है। ग्रीक में इसका अर्थ है— अन्य। फोन का अर्थ है— स्वन या ध्वनि। अतः एलोफोन का अर्थ हुआ— पृथक्-पृथक् या एक एक ध्वनियाँ।

NOTES

एक स्वनिम में अर्थात् एज जाति में अनेक संस्वन या सँध्वनियाँ होगी, उनको अलग-अलग संस्वन माना जाएगा। संस्वनों को दो कोष्ठकों () के बीच में लिखा जाता है। ये जितने प्रकार के होंगे, उनको उतने प्रकार का माना जाएगा और इसके लिए उसके आगे 1, 2, 3, आदि अंक दिए जाते हैं जैसे – क कि कु क्त, क्ल, क्व पृथक् संस्वन है। इनकी पृथक्ता सूचित करने के लिए इन्हें दो कोष्ठों के मध्य प्रकार लिखा जाएगा:—

(क्-1), (क्-2), (क्-3), (क्-4), (क्-5), (क्-6)। कला, किमपि, कुल, शक्त, क्लम, क्वचित् में 6 प्रकार के क् हैं। इनके उच्चारण के अंतर को संख्या-भेद द्वारा जाना जा सकता है।

2— स्वनिम और संस्वन छॉटना:— स्वनिम और संस्वन छॉटने में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होता है— (1) कितनी मूल ध्वनियाँ हैं। जितनी मूल ध्वनियाँ होंगी, उतने स्वनिम होंगे। (2) एक ही वर्ग या जाति की जितनी ध्वनियाँ होंगी, वे उस वर्ग के संस्वन होंगे। यहाँ संस्कृत और हिन्दी के एक-एक वाक्य के माध्यम से इसे समझा जा सकता है।

1. कमले कमला शेते। 2. निबल के बल केवल राम हैं। संस्कृत में केवल / ल् / स्वनिम के पृथक् 2 संस्वन देखे जा सकते हैं। ल्+ए, ल्+आ (ले, ला), अतः दो ल् संस्वन माने जाएंगे।

हिन्दी में केवल /न्/स्वनिम के दो भेद दिए गए हैं। एक 'नि' में शुद्ध न् ध्वनि है, दूसरे 'है' में न् का अनुनासिक रूप है। शेष ब् आदि ध्वनियों में एक ही रूप है, अतः यह संस्वन दिखाया गया है। इसी तरह भिन्न भिन्न संस्वन तभी दिखाए जाते हैं जब उस ध्वनि के उच्चारण में स्थान, प्रयत्न, मात्रा आदि का कोई भेद होता है।

अब तक भाषा वैज्ञानिकों ने विश्व की समस्त भाषाओं का परीक्षण करने के उपरांत पाया है कि विश्व की किसी भाषा में कम से कम 15 या 20 स्वनिम हैं और किसी भाषा में 50 या 60 तक स्वनिम हैं। इस तरह 60 तक स्वनिम हैं। इस तरह 60 से अधिक स्वनिम किसी भी भाषा में नहीं हैं। भाषा की दृष्टि से स्वनिमों की औसत संख्या 30 मानी जा सकती है।

स्वनिम और संस्वन का निर्धारण —

सामग्री संकलन के बाद छाटने के समय कुछ ध्वनियाँ समान मिलती हैं और कुछ के विभिन्न रूप मिलते हैं। इनमें से किसको स्वनिम माना जाए और किसको संस्वन। यह एक उलझाने वाली समस्या है। इसका सामान्यतया हल यह है कि संबद्ध ध्वनियों का वितरण किया जाता है और प्रयोग के आधार पर परीक्षण किया जाता है कि उस भाषा में संदिग्ध दोनों में से कौन सी ध्वनि अधिक प्रयोग में आती है यह एक ध्वनि का जो भेद सबसे अधिक प्रयुक्त होता है, उसे स्वनिम माना जाएगा और जो ध्वनि कम प्रयुक्त होती है, उसे उसका संस्वन माना जाएगा। जैसे— संस्कृत या हिन्दी में वर्ग के पंचम वर्ण ड्, ज्, ण्, न्, म्, में किसको स्वनिम माना जाए और किसको संस्वन। वितरण एवं प्रयोग से ज्ञात होता है कि —

ड् ध्वनि — वाड्,मय, पड्,ख, अड्,ग, गड्,गा, लिड्,ग, लिड्, लुड्।

ज्— ध्वनि— पंच, धनंजय— धनंजय, रजजन— रंजन।

ण— ध्वनि— काण, काणा, द्रोण, पणि, भाण, भण्डार, प्राण।

न्— ध्वनि— कान, नासिक, नाक, नील, अन्त, तन्त्र।

म्— ध्वनि— काम, मान, मीन, कम्प, लम्ब, रम्भा।

उक्त वितरण से ज्ञात होता है कि ण, न्, म् की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है। कान—काण—काम के अर्थभेद स्पष्ट है कि इन्हें स्वतंत्र स्वामि मना जाए। वाड्,मय आदि शब्द ड् की स्वतंत्र सत्ता बताते हैं, अतः ड् भी स्वनिम माना जाता है। ज् के विषय में सन्देह है। सामान्यतया न् ध्वनि च वर्ग (च, छ, ज, झ,)

से पूर्ण ज, के रूप में प्राप्त होती है। इस अनुस्वार द्वारा भी दिखाया जाता है। जैसे पञ्च- पंच, रञ्जन-रंजन। इस आधार पर इसे न् का ही एक संस्वन माना जाता है। च वर्ग से पूर्व ज्, अन्यत्र न्। संस्कृत में पारिभाषिक शब्दावली में ज् भी पाया जाता है। जैसे - ध ज्, अ ज्, ठ ज्, डुकृज् करणे आदि। सामान्यतया प्रयुक्त शब्दावली में ज् की उपर्युक्त स्थिति है अतः इसे न् का संस्वन माना जाता है। इसी प्रकार कान-खान-गान आदि न्यूनतम विरोधी युग्मों में क् ख् ग् के अन्तर के कारण अर्थभेद होने से इन्हें स्वतंत्र स्वनिम माना जाता है। भाषा की अन्य ध्वनियों का भी इसी प्रकार परीक्षण और वितरण करके स्वनिमों को छाँटा जाता है।

गण, गान, गीत, गुण में/ ग्/स्वनिम् है, परन्तु उच्चारण करने से ज्ञात होगा कि चारो ग् एक जैसे नहीं बोले जाते हैं। गण में ग् कण्ठ से बोला जाता है। गान के ग् में जीभ थोड़ा आगे आती है और बल दिया जाता है। गीत के ग् में जीभ आगे तालु की ओर आती है और इ से प्रभावित है। गुण के ग् में जीभ थोड़ा पीछे हटती है और उ के कारण पश्च स्वर से प्रभावित है। इन सूक्ष्म भेदों का संस्वन (एलोफोन) में ग् के भेद बताते हुए अंकों द्वारा इसके भेद का निर्देश होता है जैसे-

स्वनिम	संस्वन			
/ग/	गण,	गान,	गीत,	गुण
	(ग१)	(ग२)	(ग३)	(ग४)

इस प्रकार भाषा के सभी स्वनिमों के संस्वनों का निर्धारण करके उनके संस्वनों का कोष्ठ () में अंकों के साथ लिखकर उनका सूक्ष्म भेद बताया जाता है।

स्वनिम छाँटने की विधि

सामग्री संकलन :- किसी भी जीवित भाषा के स्वनिमों को छाँटने के लिए उस भाषा को बोलने वाले व्यक्ति से उस भाषा के वाक्यों को सुनकर संकलित किया जाता है। जिससे उस भाषा को सुना जाता है, उसे सूचक कहा जाता है। मृत भाषा के शब्द उसके साहित्य से संकलित किए जाते हैं।

ध्वन्यात्मक लेखन- एकत्र की हुई सामग्री को ध्वन्यात्मक लेखन की सूक्ष्म प्रतिलेखन की पद्धति से लिखा जाता है। इसमें स्वरों और व्यंजनों की सूक्ष्मताओं का भी निर्देश किया जाता है। साथ ही बलाघात, सूर आदि का भी उल्लेख किया जाता है। इसमें विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं:-

(क) स्वर (1) घोष, अघोष या जपित है। (2) ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत है। (3) संवृत या विवृत है। (4) अग्र, मध्य या पश्च स्वर है। (5) अनुनासिक है या अननुनासिक। (6) बलाघात या सुर से युक्त है या नहीं। (7) आक्षरिक है या नहीं यदि आक्षरिक है तो किस रूप में। (8) वृत्त मुखी है या अवृत्त मुखी।

(ख) व्यंजन - (1) स्थान की दृष्टि से उसका क्या स्थान है, कण्ठ्य, तालथ आदि। वह अपने मूलरूप से उच्चरित है या कुछ भिन्न रूप में। (2) प्रयत्न की दृष्टि से स्पृष्ट, ईषत स्पृष्ट या संघर्षो आदि है। अपने मूल रूप से भिन्न तो नहीं है (3) ओष्ठ की स्थिति- वृत्तमुखी या अवृत्तमुखी। (4) स्पर्श पूर्ण है या अपूर्ण, स्फोटित है या अस्फोटित। (5) अनुनासिक है या नहीं। (6) आक्षरिक है या नहीं।

स्वनिमों या ध्वनि ग्रामों को छाँटना - किसी भी भाषा के स्वनिमों को छाँटने के लिए निम्नलिखित विधि अपनाई जाती है।

(1) सूचक से सुनकर एकत्र की हुई सामग्री को क्रमबद्ध लगाना, (2) उसका तुलनात्मक अध्ययन करना, (क३) उसका ध्वनियों के साथ संयोजन।

इसके लिए एक चार्ट बनाकर प्रत्येक ध्वनि से प्रारम्भ होने वाले शब्दों को अलग-अलग नोट किया जाता है। इसमें यह भी नोट किया जाता है कि क्या कोई ध्वनि किसी विशेष ध्वनि के साथ ही आती

स्व-प्रगति की जाँच करें-

1. लेखन पद्धति या लिपि निर्माण के लिए स्वनिम का ज्ञान अनिवार्य क्यों है ?
2. हिन्दी के प्रयोजनमूलक स्वरूप के विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. स्वनिम विज्ञान क्या है ?

NOTES

है। यह भी देखा जाता है कि इस प्रकार वोट की गई ध्वनि प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों जगह आती है या किसी विशेष स्थल पर ही। पहले प्रारम्भिक स्वनिमों को लेते हैं। प्रारम्भिक स्वनिम जिन ध्वनियों के साथ संयुक्त रूप में आते हैं, उनको भी पृथक् नोट कर लिया जाता है।

प्रारम्भिक स्वनिमों की सूची बनने पर मध्यगत स्वनिमों और अन्य स्वनिमों की सूची बनाई जाती है।

2. तुलनात्मक अध्ययन से प्रत्येक ध्वनि का अन्तर किया जाता है। विरोधी या असमान स्वनिमों को अलग-अलग रखा जाता है।
3. आदि मध्य या अन्त में प्रत्येक स्वनिम किन् ध्वनियों से संयुक्त पाया जाता है इसका भी पूरा विवरण तैयार किया जाता है।

स्वनिमों का वर्गीकरण— किस ध्वनि (संस्वन या संध्वनि) को किस स्वनिम में रखा जाएगा, इसके लिए सामान्यतया तीन नियामक तत्व हैं (1) वितरण (2) समानता (3) कार्य की एकरूपता। ये तीनों गुण जिन ध्वनियों में मिलते हैं, वे एक वर्ग में आएगी।

(1) वितरण से अभिप्राय है कि किन् परिस्थितियों में वे विभिन्न ध्वनियां आती हैं। जिन परिस्थितियों में एक ध्वनि आती है, उन्ही परिस्थितियों में दूसरी ध्वनि नहीं आती है। दूसरी ध्वनि के उन परिस्थितियों में आने से अर्थभेद होगा।

जैसे— कान, पान, मान, यान।

(2) समानता से अभिप्राय है— स्थान और प्रयत्न की समानता। स्थान और प्रयत्न की विषमता होने पर विभिन्न स्वनिम माने जाएंगे।

(3) कार्य की एकरूपता — से अभिप्राय यह है कि यदि कार्य में अन्तर है तो पूरक वितरण और समानता होने पर भी उसे पृथक् स्वनिम माना जाएगा।

स्वनिम के दो भेद—

स्वनिम या ध्वनिग्राम 2 प्रकार के होते हैं—

1. खण्ड्य स्वनिम (Segmental Phonemes)
2. अखण्ड्य स्वनिम (Supra-segmental Phonemes)

8.3.8.1

1. **खण्ड्य ध्वनिग्राम (स्वनिम)** :- इसके अन्तर्गत वे ध्वनियाँ आती हैं जिन्हें पृथक्-पृथक् बोला जा सकता है तथा स्वतंत्र रूप से भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके दो भेद होते हैं— (1) स्वर ध्वनिग्राम, (2) व्यंजन ध्वनिग्राम। डॉ. द्वारिका प्रसाद, सक्सेना के अनुसार स्वर ध्वनिग्राम के भी दो भेद हैं, और व्यंजन ध्वनिग्राम के भी, जो इस प्रकार हैं—

(क) 1. केन्द्रीय स्वरग्राम — ये दस हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

2. अकेन्द्रीय स्वरग्राम— यह एक है— आँ।

(ख) 1. केन्द्रीय व्यंजनग्राम— इसमें सभी व्यंजन आते हैं।

2. अकेन्द्रीय व्यंजन ग्राम— क, ख, ग, ज, फ।

(2) **अखण्ड्य स्वनिम या खण्ड्येतर ध्वनिग्राम**— जिनका उच्चारण स्वतंत्र रूप से नहीं हो सकता, जो अपने उच्चारण के लिए खण्ड्य ध्वनिग्राम पर निर्भर होते हैं ये इस प्रकार हैं—

1. दीर्घता— इसे अंग्रेजी में लैन्थ (Length) भी कहा जाता है। कहा जाता है। हिन्दी में व्यंजनों

- की दीर्घता प्रायः ध्वनिग्रामक ही हो जाती है। यथा बचा- बच्चा, पिला-पिल्ला, पता-पत्ता आदि।
2. अनुनासिकता – हिन्दी में स्वरों की अनुनासिकता को भी ध्वनिग्रामिक ही माना जाता है। यथा पूछ-पूँछ, गोद- गोंद, सास-साँस आदि।
3. बलाघाट – अंग्रेजी में इसे स्ट्रेस (Stress) कहा जाता है। जहाँ बलाघाट होता है, वहाँ भी ध्वनिग्राम ही होता है यथा- रोको मत, जाने दो । रोको, मत जाने दो।
4. अनुतान – (Intonation) इसे ही 'सुरलहर' भी कहा जाता है। इसका प्रभाव वाक्य के स्तर पर देखा जाता है यथा—
- | | |
|--------------|-------------------|
| राम चला गया। | साधारण वाक्य |
| राम चला गया? | प्रश्नवाचक वाक्य |
| राम चला गया! | विस्मय बोधक वाक्य |
5. संगम (Juncture) जहाँ विरोधी युग्म मिलते हैं। यानि-पीली-पीली , खा ली-खाली, हम हरि- हम्हरि।

स्वनिमीय गठन—

स्वनिम गठन में स्वनिमों की एक ऐसी सूची तैयार की जाती है, जिसमें प्रत्येक स्वनिम का निश्चित कार्य निर्धारित होता है। यह सूची अनेक प्रकार से बन सकती है। जैसे 1. घोष –अघोष संध्वनियों के आधार पर 2. स्थान के आधार पर— कण्ठ्य, तालव्य, ओष्ठव्य आदि। 3. प्रयत्न के आधार पर— स्पष्ट ईषत्स्पृष्ट आदि, 4. ओष्ठ की आकृति के आधार पर— वृत्तमुखी, अवृत्तमुखी आदि।

सूची बनाने के बाद स्वनियों को विशेष स्थान या परिस्थिति के अनुसार तथा संयुक्ताक्षरों के अनुसार वर्गीकृत रूप से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रक्रिया में एक स्थान पर एक विशेष परिस्थिति में आने वाले समस्त स्वनिमों को एकल किया जाता है। ये स्वनिम एक-दूसरे स्वनिमों से पृथक् या विरोधी होते हैं। इस गूढात्मक वर्ग के लिए डॉ कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार यह पद्धति अपनाई जाती है— 1. आदि, मध्य या अन्त में स्थिति, 2. दो स्वरों या दो व्यंजनों के बीच में स्थिति, 3. स्वर और व्यंजन के बीच में स्थिति 4. विभिन्न ध्वनियों के साथ संयुक्त होना 5. सुर, बलाघाट आदि की विशेषता।

ब्लाख के अनुसार अंग्रेजी भाषा में ल् (L) से पहले 6 व्यंजन र (R) से पहले 9 व्यंजन और व् (w) से पहले 7 व्यंजन आते हैं।

इस प्रकार अंग्रेजी में 22 व्यंजन स्वनिम माने जाते हैं इसी प्रकार संयुक्त व्यंजन स्वनिमों की संख्या 48 है जैसे PL/KL/BL आदि।

- अ. संस्कृत और हिन्दी में स्वनिम गठन— डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है "स्वनिमीय गठन की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत में 10 स्वर-स्वनिम तथा 32 व्यंजन-स्वनिम है, योग 42 है।" "हिन्दी में 10 स्वर-स्वनिम तथा 31 व्यंजन स्वनिम हैं योग 41 है;

स्वनिमिय गठन में इस बात का भी संकलन किया जाता है कि आदि, मध्य और अन्त में कौन से स्वनिम आते हैं? कौन से स्वनिम किस स्थान-विशेष पर आते हैं। उदाहरण के लिए, क-वर्ग को लेकर कह सकते हैं कि क, ख, ग, घ, स्वनिम आदि, मध्य, अन्त, तीनों स्थानों पर आते हैं जैसे—

/क्/	कर	मकान	नाम
/ख्/	खर	मखाना	नख
/ग्/	गिरी	नगर	आग
/घ्/	घर	सघन	मेघ

NOTES

इसी प्रकार संस्कृत और हिन्दी में कहा जा सकता है कि ल् ध्वनि से पहले 6 व्यंजन और र् से पहले 15 व्यंजन आते हैं जैसे—

ल् – संयुक्त			र– संयुक्त		
कल्	क्लेश	कर्	क्रम	फर्	फ्रांसीसी
ग्ल्	ग्लानि	खर्	खिष्ट	बर्	ब्रह्म
प्ल्	प्लुत	गर्	ग्राम	भर्	भ्रम
म्ल्	म्लान	घर्	घ्राण	वर्	व्रत
श्ल	श्लोक	त्	त्रिकोण	शर्	श्री
ह्ल	प्रह्लाद	दर्	द्रव्य	सर्	स्रोत
धर्	ध्रुव	हर्	हृस्व	पर्	प्राण

ब. हिन्दी में स्वनिम की विवेचना निम्न प्रकार की गयी है

1. स्वर स्वनिम— हिन्दी में दस स्वर स्वनिम है— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।
2. व्यंजन स्वनिम— ये हिन्दी में 30 हैं।

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने इसका विश्लेषण निम्न प्रकार किया है।

1. हिन्दी में सामान्य स्वर स्वनिम— ये आठ हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ।
2. मिश्रित स्वर— स्वनिम— ये दो हैं— ऐ, औ, क्योंकि ए – आ + ई, औ – अ + उ। ऐ और औ को स्वतंत्र स्वनिम मानना आवश्यक है इनको ए और ओ को सेस्वन नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसके स्थान भेद और अर्थ— भेद है। जैसे— चेला—चैला, मेल— मैल, रेल—रैल, कोन—कौन, ओर—और, मोर—मौर।

ब. हिन्दी के स्वनिम (ध्वनिग्राम)

हिन्दी में प्रयुक्त स्वनिम निम्नलिखित हैं—

क. खंड्य स्वनिम

1. स्वर—

क. सामान्य , ख मिश्रित

ई	ऊ	
इ	उ	
ए	अ	ओ
ऐ	आ	औ

2. व्यंजन

प त् ट् च् क्
 फ् थ् ठ् छ् ख्
 ब् द् ड् ज् ग्
 भ् ध् द् झ् घ्
 म् न् ण् - ङ्
 - स् - श् ह
 व् ल् र् य् - 31

हिन्दी स्वनिम - योग - 10+31 - 41

हिन्दी में 10 स्वर स्वनिम है। इसमें 8 सामान्य स्वर स्वनिम है— अ, आ, इ, ई उ, ऊ ए ओ । 2 मिश्रित स्वर— स्वनिम है— ए, औ। ए और औ क्रमशः अ + इ और अ + उ के मिश्रित रूप है। ऐ और औ को स्वतन्त्र स्वनिम मानना आवश्यक है। इनको ए और ओ का संस्वन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इनमें स्थान भेद और अर्थभेद है— जैसे— चेला—चैला, मेल—मैल, रेल—रैल, कोन—कौन, ओर—और, मोर—मौर।

2. हिन्दी में अ इ उ को मूलस्वर एवं आ ई ऊ को उनका दीर्घाकृत रूप मानकर उनको स्वतंत्र स्वनिम न मानना उचित नहीं है। स्थानभेद और अर्थभेद के कारण इन तीन दीर्घ स्वरों को भी स्वतंत्र स्वनिम मानना आवश्यक है। अ—आ, इ—ई और उ—ऊ में उच्चारण स्थान में भेद है। अर्थभेद भी है। जैसे मन—मान, हर—हार, चिर—वीर, उठि (उठकर) —उठी, धुल—धूल, पुर—पूर, सुना—सूना।

3. स्वर स्वनिमों में ऋ, अं, अः को नहीं लिया गया है। हिन्दी में ये उच्चारण की दृष्टि से स्वतंत्र स्वनिम न होकर संयुक्त ध्वनियाँ हैं। ऋ - र+इ, अं- अ+ङ्, अ+न्, अ+म्, अः- अ+ह्। ऋ को र का संस्वन और अं अः को अ का संस्वन माना जाएगा।

4. व्यंजन स्वनिमों में क्ष, त्र, ज्ञ को नहीं लिया गया है। ये भी स्वतन्त्र स्वनिम न होकर संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ हैं। क्ष, क् + ष, त्र - त् + र्, ज्ञ- ज् + ज्ञ (उच्चारण की दृष्टि से ग् + यं)।

5. हिन्दी में अंग्रेजी के तुल्य केवल अल्पप्राण व्यंजन ध्वनियाँ (क् ग् च् ज् आदि) को ही स्वनिम मानकर अल्पप्राण + ह् से काम नहीं चलाया जा सकता है। हिन्दी में अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजन स्वतंत्र स्वनिम हैं। इनमें अर्थभेद और उच्चारण में समय भेद है। जैसे— कान—खान, गिरना—घिरना, चना—छना, तान—थान, दान—धान, पेट—फेट, बात—भात, अबीर—अभीर (अहीर)।

6. हिन्दी में ज स्वतंत्र स्वनिम न होकर न् का संस्वन है।

(क) च वर्ग के पूर्व— न् > ज्ञ

(ख) अन्यत्र - न् > न्।

7. हिन्दी में ष की स्वतंत्र स्वनिम नहीं है। यह श् का संस्वन है। ट वर्ग से पूर्व संयुक्त व्यंजन ष के रूप में— दुष्ट, इष्ट, पुष्ट क्लिष्ट आदि। अन्यत्र - श् रहता है। शब्द के आदि में षट्कोण आदि शब्दों में इसका उच्चारण श् के सदृश है।

8. हिन्दी में क्, ख्, ग्, ज्, क्, व् को स्वतंत्र स्वनिम नहीं माना जा सकता है। ये क्रमशः क् ख् आदि के संस्वन हैं। ये मूलतः हिन्दी ध्वनियाँ नहीं हैं। विदेशी (उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेजी, जर्मन आदि) शब्दों के उच्चारण के लिए इन ध्वनियों का अविर्भाव हुआ है। उच्चारण स्थान—भेद के लिए इन्हें क् आदि के रूप में लिखा जाता है।

NOTES

9. अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण में आ ध्वनि मिलती है। जैसे—डॉग (Dog) डॉक्टर (Doctor), कॉलेज (College), पॉट (Pot), आदि। इसको आ का ही संस्वन मानना चाहिए। यह हिन्दी में डॉग, डाक्टर आदि रूप में भी लिखा जाता है। इसको मुक्त परिवर्तन मानना उचित है।
10. ड़ और ढ़ स्वतंत्र स्वनिम नहीं है। ये ड़ और ढ़ के संस्वन हैं। ड़ आदि, मध्य और अन्त तीनों जगह पाया जाता है, ड़ मध्य में तथा अन्त में। जैसे— डरना, झंडा, अंडा, खड्ड, अड़ना, पहाड़, झाड़। इसी प्रकार ढ़ आदि में और मध्य में संयुक्त व्यंजन के रूप में पाया जाता है, ढ़ मध्य में और अन्त में। जैसे—ढोल, ढाल, ढीलां, गड्डा, चड्डा, पढ़ना, चढ़ना, ओढ़ना, गढ़। विदेशी शब्दों (कोड़—कोड़, गुड़—गुड़, गोड़—गोंड़ आदि) से अन्तर करने के लिए इन्हें स्वतंत्र स्वनिम नहीं माना जा सकता है। ये ड़ ढ़ के संस्वन ही हैं।

ड़ ढ़ को स्वतंत्र स्वनिम मानना अभी तक विवादास्पद है। अधिकांश भाषाशास्त्री इन्हें स्वतंत्र स्वनिम नहीं मानते हैं। विदेशी शब्दों के आधार पर ड़—ड़, ढ़—ढ़ का अर्थभेद दिखाना संभव है, परन्तु हिन्दी भाषा की दृष्टि से इनको पृथक् स्वनिम मानना उचित नहीं है। कुछ विद्वानों ने हिन्दी बोली के शब्दों को लेकर इनका भेद दिखाने का प्रयत्न किया गया है। जैसे— गैंडा—गैंड़ा, लौंडा—लौड़ा, लौंडिया—लौड़िया। इस प्रश्न को अभी विचारणीय रखना उचित होगा।

(ख) हिन्दी में खण्ड्येतर स्वनिम

हिन्दी में पूर्वोक्त स्वनिमों के अतिरिक्त 5 खण्ड्येतर स्वनिम माने जाते हैं:-

1. मात्रा या दीर्घता— स्वरों में आ, ई, ऊ इन तीन दीर्घ स्वरों को स्वतंत्र स्वनिम माना गया है। प्लुत या अतिदीर्घीकरण किसी स्वर पर तिगुना या उससे अधिक बल देकर किया जाता है। इसके लिए 3 अंक वर्ण के बाद लिखा जाता है। पुकारने आदि में अन्तिम स्वर पर ऐसा बल दिया जाता है। देवदत्त। व्यंजनों में किसी वर्ण के द्वित्व (दो बार पढ़ना) होने पर दीर्घता आती है, उसके उच्चारण में दुगुना समय लगता है और अर्थभेद भी होता है। अतः दीर्घता को स्वतंत्र स्वनिम माना जाता है। जैसे— कटा— कट्टा (छोटी बोरी), खटा (लगा)— खट्टा, गदा— गद्दा, मिटी (नष्ट हुई)— मिट्टी, सटा—सट्टा, रमा—रम्मा (खोदने का औजार)।
2. सुर या सुरलहर— हिन्दी में सुर या सुर लहर के द्वारा अर्थभेद होता है, अतः इसे स्वनिम माना जाता है। यह पद और वाक्य दोनों में होता है। इसके 4-5 भेद हिन्दी में प्राप्य हैं।

राम—राम (संबोधन, प्रणाम) — पदों को खीचकर बोलना।

राम—राम (घृणा—सूचक) — पदों को खीचकर बोलना।

चोर घड़ी चुरा ले गया (सामान्य)— समान ध्वनि।

“ ” “ ” (प्रश्न) 'चुरा' पर बल।

चोर घड़ी चुरा ले गया! (विस्मय) 'ले गया' पर बल।

3. बलाघाट— यह पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार का है किसी शब्द विशेष पर बल देने से उसके अर्थ में अंतर हो जाता है। वाक्य में जिस शब्द पर बल देंगे, वह मुख्य हो जाएगा, अन्य गौण। अर्थभेद होने के कारण बलाघाट को स्वतंत्र स्वनिम माना जाता है।

प ढ़ा, लि, खा, उ ठा, बै ठा (केवल भूतकाल, प्रथम स्वर पर बल)।

पढ़ा, लिखा, उठा, बैठा (द्वितीय स्वर पर बल, प्रेरणार्थ बढ़ाओं आदि)।

मैं विद्यालय गया (सामान्य)

मैं —“— । (मैं पर बल, मैं व्यक्ति ही)

संगम— यह भी हिन्दी में स्वतंत्र स्वनिम है। इसके कई भेद हैं। न्यूनतम विरोधी युग्म भी मिलते हैं। आ जा (दा दा)—— आ जा, खाजा—— खा जा, झाड़न (डस्टट) – झाड़ न, नाला – ना ला, वरदे (संबोधन) – वर दे, होटल – होटल।

अनुनासिकता – अनुनासिकता के कारण शब्दों में अर्थभेद हो जाता है, अतः हिन्दी में यह भी स्वतंत्र स्वनिम है। न्यूनतम विरोधी युग्म भी मिलते हैं। बेदी—बेंदी, रग—रंग, सास—साँस, है— हैं, हो—हों गोद—गोंद, नाव—नाँव, दाव—दाँव।

हिन्दी के स्वनिम – इस प्रकार हिन्दी में 46 स्वनिम मानना उचित है:—

(क) खंड्य – 10 स्वर, 31 व्यंजन (ख) अखंड्य – 5 (मात्रा, सुर, बलाघाट, संगम, अनुनासिकता) – योग 46।

ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन—

ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन के मुख्यतया दो भेद हैं:— 1. परम्परागत, 2. ध्वन्यात्मक।

1. परम्परागत प्रतिलेखन:—

इसमें इस बाद पर ध्यान रखा जाता है कि हम जो कुछ बोलते हैं, उसे परम्परागत ढंग से कैसे लिखते हैं इस बाद पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है कि वस्तुतः हम क्या बोल रहे हैं। अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, आदि में हम जो लिखते हैं, वह इसी प्रकार का है। जैसे हिन्दी में लिखने और उच्चारण में यह भेद मिलता है। लिखित रूप ज्ञ, उच्चरित रूप ग्यं, इसी प्रकार ऋ – रि, ष—श आदि। पहला लिखित रूप है, दूसरा उच्चारित रूप:— ज्ञान—ग्यान, ज्ञानपुर—ग्यानपुर, ऋतु—रितु, ऋण—रिण, ऋषि—रिषि, दिवदेदी— दुवेदी, राम—राम्। इसी प्रकार अंग्रेजी में अ के लिए व (Some-सम) कही न (cut - कट) कही प (Bird- बर्ड), कही वन (Neighbour- नेबर) लिखा जाता है। दूसरी ओर न आदि (Labour, labour) अनुच्चरित व्यंजन— हीए एए सए आदि (Light, Right, Night, Knew, Knee, walk, Talk)। इसी प्रकार लिखित रूप— Calonel (कोलोनल), उच्चरित रूप—कर्नल, लिखित रूप Lieutenant (ल्यूटीनेन्ट), उच्चरित रूप— लेटीनेन्ट है। उर्दू में त् के लिए ते, तोय, दो ध्वनियाँ हैं। ज् के लिए जीभ, जे, जोय, जाल, ज्वाद आदि ध्वनियाँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि परम्परागत प्रतिलेखन में उच्चारित ध्वनियों का ठीक—ठीक एक ही संकेत से प्रतिलेखन नहीं होता है। अतः भाषा शास्त्रीय अध्ययन के लिए परम्परागत प्रतिलेखन माना नहीं है।

2. ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन— ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन का अर्थ है कि जैसा बोला जाए वैसा ही लिखा जाए। उच्चारित ध्वनि के अनुरूप ही लेखन हो। इसके दो उपभेद हैं—

(क) स्थूल प्रतिलेखन (Broad Transcription)

(ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन (Narrow Transcription)

(अ) (क) स्थूल प्रतिलेखन

स्थूल प्रतिलेखन स्वनिमीय प्रतिलेखन है। इसको 'प्रशस्त' या 'आयत' प्रतिलेखन भी कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि जो ध्वनि बोली जाती है, वही लिखी जाती है। प्रत्येक स्वनिम (ध्वनि) के अलग चिन्ह हैं। इसमें स्वनिम ही नोट होते हैं, सूक्ष्मी बाते मात्रा, सूर, बलाघात आदि नहीं। संस्वनों की सूक्ष्म बातों पर इसमें ध्यान नहीं दिया जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएं ये हैं—

1. प्रत्येक स्वनिम के लिए पृथक लिपिचिन्ह होता है।

2. एक भाषा में एक लिपिचिन्ह एक से अधिक स्वनिम का बोधक नहीं होता।

NOTES

3. एक स्वनिम एक से अधिक लिपिचिन्ह द्वारा नहीं लिखा जाता है।
4. प्रत्येक भाषा में जितने स्वनिम होते हैं, उतने ही लिपिचिन्ह होंगे।
5. स्वनिमीय लिपिचिन्हों की संख्या प्रत्येक भाषा में भिन्न होती है।
6. प्रत्येक स्वनिमीय लिपिचिन्ह का अर्थ प्रत्येक भाषा में अपनी भाषा के अनुसार निश्चित होता है।
7. ये लिपि चिन्ह लेखन, टाइप आदि के लिए अधिक सुविधाजनक है।

स्थूल प्रतिलेखन या स्वनिमीय प्रतिलेखन को दो तिरछी लाइनों // के बीच में लिखा जाता है। हिन्दी टाइप में तिरछी लाइनों की सुविधा न होने से इन्हें मुद्रण में दो सीधी लाईनों के बीच में लिखा जाता है। जैसे - /कू/, /गू/, /न्/, /म्/

प्रत्येक भाषा में अत्यधिक प्रचलित लिपिचिन्ह को ही स्वनिमीय प्रतिलेखन के लिए अपनाया जाता है।

(ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन (Narrow Transcription)

सूक्ष्म प्रतिलेखन ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन है। इसको 'यत' या 'संकीर्ण' प्रतिलेखन भी कहते हैं। भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए, सूक्ष्म प्रतिलेखन की पद्धति को अपनाया जाता है। इसमें ध्वनियों के उच्चारण की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को नोट किया जाता है। जैसे- मात्राभेद, सुरभेद, विवृत, अर्धविवृत, वृत्तमुखी, अवृत्तमुखी, संघर्षपूर्ण या अपूर्ण आदि। इसमें संस्वनों या संध्वनियों को लिखा जाता है। संस्वनों को () कोष्ठ के अन्दर लिखा जाता है। जैसे - (क), (ख), (ग्-1) (ग्-2) आदि।

दोनों प्रतिलेखनों का भेद इस प्रकार समझें-

(क) स्थूल प्रतिलेखन - स्वनिम (Phoneme) का लेखन चिन्ह //

(ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन- संस्वन (Allophone) का लेखन चिन्ह, (),

अन्तरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिन्ह- विश्व की समस्त भाषाओं के लिए अन्तर राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिन्ह बनाए गए हैं। यहाँ ध्वन्यात्मक नागरी लिपि का अद्यतन चार्ट दिया जा रहा है-

ध्वन्यात्मक नागरी लिपि (स्वर)

अग्र	मध्य	पश्च
संवृत	इ, ई	उ, ऊ
अर्धसंवृत	ए	ओ
अर्धविवृत	ऐ	अ औ, ऑ
विवृत		आ

इसी तरह हिन्दी व्यंजनों का चार्ट भी दिया जा रहा है। यहाँ वर्तमान समय में अनुप्रयुक्त लिपिचिन्ह ही दिया जा रहा है जो हिन्दी के मानक रूप का निर्वचन करता है-

हिन्दी व्यंजन

द्वयोष्ठ्य दंत्योष्ठ्यदंत्यवत्स्य तालव्य पूर्व तालव्य कोमलतालव्य जिल्हामूलीय स्वरयंत्रमुखी

स्पर्श प् फ् त्, थ् ट्, ठ् क्, ख् क्

ब् भ् द्, ध् ड्, ढ् ग्, घ्

स्पर्श संघर्षी च्, छ्

ज्, झ्

नासिक्य म्, म्ह् न्, न्ह् ज् ण् ड्.

पार्श्विक ल्, ल्ह्

प्रकंपित र्

उत्क्षिप्त ड्., ढ्.

संघर्षी फ्, ब् स्, ज्, श् ख्, ग् ह्

संघर्षहीन सप्राह ब् य्

सार—संक्षेप

स्वनिम विज्ञान में मूल ध्वनियों को बोध कराया जाता है। इसमें ध्वनियों के विश्लेषण और विवरण के साथ ही उनके लिपि रूप में अंकन का वर्णन होता है। स्वनिम भाषा की वह लघुतम इकाई है, जो समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह ही ध्वनि यदि अनेक प्रकार से उच्चारित होती है तो स्वनिम एक ही होगा। इसके संस्वन अनेक हो सकते हैं। स्वनिम में अर्थ परिवर्तन के शक्ति होती है। वे समीपवर्ती ध्वनियों से प्रभावित होते हैं। उनमें ध्वन्यात्मक समानता की प्रवृत्ति होती है। उनकी प्रवृत्ति परिवर्तन की ओर होती है। कोई भी मनुष्य किसी एक ध्वनि का ठीक उसी प्रकार दुबारा उच्चारण नहीं कर सकता है। बाद के उच्चारण में कुछ न कुछ भेद रहता है। स्वनिम विज्ञान भाषा—शिक्षण की सरलतम वैज्ञानिक पद्धति है। इसमें प्रत्येक भाषा की प्रचलित वर्णमाला पर ध्यान न देकर केवल ध्वनियों का विश्लेषण किया जाता है। भाषा शास्त्र के सभी अंग—पद विज्ञान, काव्य—विज्ञान अर्थविज्ञान आदि स्वनिम के ज्ञान पर ही निर्भर है। स्वनिम के दो भेद होते हैं— 1. खंड्य स्वनिम तथा खंड्येतर स्वनिम। जिन ध्वनियों को पृथक—पृथक बोला जा सकता है तथा स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है उसे खंड्य स्वनिम कहते हैं। इसी तरह जिनका उच्चारण स्वतंत्र रूप से नहीं हो सकता जो अपने उच्चारण के लिए खंड्य ध्वनिग्राम पर निर्भर होते हैं उन्हें खंड्येतर स्वनिम कहते हैं। स्वनिमिक गठन में स्वनिमों की ऐसी सूची तैयार की जाती है, जिसमें प्रत्येक स्वनिम का निश्चित कार्य निर्धारित होता है। इसके आधार पर हिन्दी में 10 स्वर—स्वनिम तथा 31 व्यंजन—स्वनिम हैं। इनका योग 41 है। ध्वनियाँ स्थान, प्रयत्न आदि भेद से असंख्य हैं। स्वनिमों की संख्या भाषा—विशेष के आधार पर 15 से लेकर 60 तक ही है किसी भी भाषा में 60 से अधिक स्वनिम नहीं हैं। ध्वनि का उच्चारण नहीं होता है, स्वनिम का उच्चारण होता है। स्वनिम जाति रूप में विद्यमान रहता है। ध्वनि इकाई है, स्वनिम ध्वनि—समूह का वाचक है। ध्वनि—विज्ञान स्वनिम—विज्ञान का आधार है। स्वनिम—विज्ञान ही आदर्श वर्णमाला या लिपि के निर्माण में समर्थ है। विश्व की सभी भाषाओं के लिए एक अंतरराष्ट्रीय लिपि स्वनिम—विज्ञान के आधार पर ही संभव है, जिसमें एक ध्वनि के लिए एक ही संकेत हो तथा एक लिपि—संकेत से एक ध्वनि या स्वनिम का बोध हो।

स्वनिम विज्ञान के प्रवर्तक के रूप में महर्षि पाणिनि का नाम सादर लिया जाता है। इन्होंने माहेश्वर सूत्रों के रूप में संस्कृत के स्वनिमों का सर्वांगीण संग्रह किया है। महर्षि पाणिनि की पद्धति आज भी विश्व के भाषाशास्त्रियों के लिए आदर्श एवं ग्राह्य हैं।

NOTES

स्व-प्रगति की जाँच करें—

- स्वनिम के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
- स्वनिम की परिभाषा दीजिए तथा इसकी कोई पाँच विशेषताएँ बताइए।
- संस्वन क्या है ? इनकी क्या विशेषताएँ हैं ?

NOTES

1. स्वनिम का ज्ञान लेखन-पद्धति या लिपि के निर्माण के लिए अपरिहार्य है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक, राजनीतिक, मानव वैज्ञानिक दृष्टियों से आज भी संसार की अनेक अनधीत भाषाओं का अययन हो रहा है जिनकी कोई लिपि नहीं है। उनकी लिपि का निर्माण करने के लिए उनके स्वनिमों का विश्लेषण आवश्यक है। आदर्श लिपि का लक्षण है कि एक स्वनिम के लिए एक लिपि-संकेत हो और एक लिपि संकेत से एक स्वनिम का बोध हो। यह तभी संभव है जब स्वनिमों का ध्यान में रखकर लिपि संकेतों को गढ़ा जाए। देवनागरी में यही गुण है जो रोमन में नहीं है। स्वनिम-सिद्धांत के आदि प्रवर्तक महर्षि पाणिनि हैं। जिन्होंने अपनी भाषा की ध्वनियों का सम्यक् विश्लेषण कर उन्हें यथावत् निरूपित विन्यस्त और वर्गीकृत किया। स्वनिम सिद्धांत का ऐसा उत्तम, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक निरूपण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। स्वनिम के अनुरूप लिपि-संकेत का निर्माण भी एक मात्र भारत में ही संभव हो सका। दूसरे देशों में स्वनिम का ही ठीक ढंग से निर्धारण नहीं हुआ, तदनु रूप लिपिका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह स्वनिम के ज्ञान के अभाव में वैज्ञानिक लिपि का निर्माण असंभव है।
2. हिन्दी का जन्म जब 1000 ई. के आस पास हुआ तो वह केवल बोलचाल की भाषा थी। सामान्य जीवन तथा उससे संबद्ध खेती, व्यापार, लुहारी, बढ़ईगिरी, कुम्हारी, सिलाई गिरी आदि जीवन के तत्कालीन आवश्यक क्षेत्रों में इसका प्रयोग होता था और इनसे संबद्ध उसके थोड़े बहुत विशेषीकृत रूप थे। हाँ हिन्दी के भौगोलिक परिवर्तन काफी थे, क्योंकि उसका क्षेत्र काफी विस्तृत था और है भी। धीरे-धीरे हिन्दी जनता जैसे-जैसे धर्म, ज्योतिष, साहित्य आदि अन्य विशिष्ट क्षेत्रों में अपनी भाषा का प्रयोग करती गई, इसके प्रयोजन मूलक विभिन्न नए रूप भी विकसित होते गये। मध्यकाल में प्रशासनिक, कलाई गिरी, वस्त्र उद्योग आदि कई दृष्टियों से हिन्दी-भाषी जनता की नई विशेषताएं बढ़ी, अतः हिन्दी के प्रयोजन मूलक नए रूप भी अस्तित्व में आए। अंग्रेजी शासन में यूरोपीय संमर्क से हमारा सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक ढाँचा काफी बदला, धीरे धीरे हमारे जीवन में कई विशेषताएँ (जैसे पत्रकारिता, इंजीनियरी, बैंक आदि) पनपी और तदनुकूल हिन्दी के नए प्रयोजनमूलक भाषिक रूप भी उभरे। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी भाषा के प्रयोग का क्षेत्र बहुत बढ़ा है, और बढ़ता जा रहा है, और तदनुकूल उसके प्रयोजन मूलक रूप भी बढ़े हैं और बढ़ते जा रहे हैं।
3. स्वनिम विज्ञान (फोनी मिक्स) भाषा शास्त्र का एक प्रमुख अंग है। इसमें प्रत्येक भाषा के स्वनिमों (फोनीम) का वैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन-पद्धति के द्वारा संकलन किया जाता है और उनके आधार पर प्रत्येक भाषा के लिए सुव्यवस्थित वैज्ञानिक लिपि तैयार की जाती है। यह विज्ञान अनेक दृष्टि से भाषाशास्त्र के लिए अत्युपयोगी सिद्ध हुआ है।

4. स्वनिम का स्वरूप

स्वनिम (फोनीम) के स्वरूप के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। बलूमफील्ड और डेरियल जोन्स आदि इसे भौतिक इकाई मानते हैं। एडवर्ड सपीर, कुर्तिन तथा प्राग स्कूल के कुछ भाषा शास्त्र स्वनिम को मनो वैज्ञानिक इकाई मानते हैं। प्रो डब्लू, एफ, (वाडेल इसको अमूर्त काल्पनिक इकाई मानते हैं। कुछ विद्वान इसको बीज गणितीय इकाई सिद्ध करते हैं। विचार करने से ज्ञात होता है कि स्वनिम (फोनीम) को अमूर्त काल्पनिक इकाई मानना अधिक उचित है। स्वनिम ध्वनि समूह का द्योतक है, अतः यह जाति है। जिस प्रकार जाति और व्यक्ति में जाति अमूर्त है, और व्यक्ति मूर्त, उसी प्रकार स्वनिम जाति होने के कारण अमूर्त है और संस्वन या संध्वनि मूर्त है। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में जाति के स्थान पर व्यक्ति का व्यवहार होता है, उसी प्रकार भाषा में संस्वन का ही व्यवहार होता है, स्वनिम

का नहीं। प्रयोग की दृष्टि से संस्वन का ही अस्तित्व है, स्वनिम इसके मूल स्वरूप का द्योति करता है।

5. स्वनिम की परिभाषा—

स्वनिम (फोनीम) भाषा की वह लघुतम इकाई है, जो समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह अन्य ध्वनियों से भिन्न होती है। इसका सम्बन्ध किसी भाषा विशेष से होता है। जिन परिस्थितियों में एक स्वनिम आता है, ठीक उन्हीं परिस्थितियों में दूसरा स्वनिम नहीं होता। प्रत्येक स्वनिम स्वतंत्र एक ही संकेत से संकेतित किया जाता है। उच्चारण स्थान और प्रयत्न की समानता के आधार पर स्वनियों को निर्धारण किया जाता है। स्वनिम को संघटक ध्वनियों को सेस्वन एलोफोन या संध्वनि कहते हैं। स्वनिम समस्त ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा की लघुतम इकाई है।

स्वनिम की विशेषताएँ— स्वनिमों की प्रवृत्ति के विवेचन से निम्नलिखित तथ्य ज्ञात होते हैं—

1. स्वनिम या फोनीम किसी भाषा की लघुतम अखण्ड्य इकाई होता है जैसे, अ, इ, क्, च्, ट्, त्, प आदि। यह एक जाति या श्रेणी है।
2. स्वनिम समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है। एक ही ध्वनि यदि अनेक प्रकार से उच्चरित होती है तो स्वनिम एक ही होगा। उसके सेस्वन या सेध्वनि (एलोफोन) अनेक हो सकते हैं।
3. स्वनिम में अर्थ परिवर्तन की शक्ति होती है। जैसे काल, गाल, लाल में क्, ग्, ल्, स्वतंत्र स्वनिम है अतः इनके भेद से अर्थों में अन्तर हो जाता है। सेस्वन या सेध्वनि में अर्थ परिवर्तन करने की शक्ति नहीं होती।
4. स्वनिम समीपवर्ती ध्वनियों से प्रभावित होते हैं जैसे लाल लूट, उल्टा में ल् ध्वनि है। लाल में ल् आ के कारण कण्ठस्थान से प्रभावित है। लू में ऊ के कारण जीभ कुछ आगे आती है और उल्टा में परवर्तीट् के कारण जीभ प्रतिवेष्टित होती है। इस प्रकार तीनों ल् के उच्चारण में अन्तर है।
5. स्वनिमों में ध्वन्यात्मक समानता की ओर प्रवृत्ति होती है। इसके आधार पर किसी भाषा विशेष की ध्वनियों के निर्धारण में सहायता मिलती है। जैसे किसी भाषा में क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त्, प, ब्, मिलते हैं। इनके विवेचन से ज्ञात होता है कि इस भाषा विशेष में स्पर्श व्यंजनों में अघोष स्पर्श के साथ घोष स्पर्श भी है। ऊपर दिये वर्णों में क्, च्, ट्, और प्, के घोष वर्ण ग्, ज्, ड्, और ब् हैं किन्तु त् का घोष वर्ण द् गायब है। ध्वन्यात्मक साम्य की प्रवृत्ति के आधार पर यह निर्णय किया जाएगा कि इस भाषा में द् ध्वनि भी होनी चाहिए। संभवतः श्रोता की त्रुटि के कारण द् को भी त् समझ लिया गया है।
6. 1. संस्वन या संध्वनि के व्यवहृत रूप हैं। भाषा में संस्वन का ही प्रयोग होता है, स्वनिम का नहीं। स्वनिम को जाति कहेंगे, तो सेस्वन व्यक्ति है। काल, कला आदि में कत्व जाति (क स्वनिम) है, परन्तु व्यवहार क् संस्वन का ही होता है।
2. एक स्वनिम (फोनीम) के अनेक संस्वन हो सकते हैं। संस्वन के भेद से स्वनिम में भेद नहीं होता है। परवर्ती ध्वनि के आधार पर क् के उच्चरण में भेद हो सकता है, जैसे—काल, कुल, क्रम, क्लान्त, क्षय आदि। ऐसे संस्वनों को क् क्², क्³ आदि लिखकर अन्तर दिखाया जाता है।

NOTES

3. संस्वन में अर्थभेदता नहीं होती है। क् को किसी भी स्थान से उच्चारण करे, कण्ठ से या उसके आगे-पीछे स्थान से, उससे अर्थ में अन्तर नहीं होगा।
4. संस्वन इकाई है, स्वनिम जाति या वंश।

NOTES

अभ्यास-प्रश्न

1. हिन्दी के भाषिक स्वरूप की विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. स्वनिम से आप क्या समझते हैं ? स्वनिमों का वर्गीकरण कीजिए।
3. स्वनिम एवं संस्वन की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. स्वनिम एवं संस्वन की निर्धारण-प्रक्रिया समझाइए।
5. ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

हिन्दी के विविध रूप

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- सृजनात्मक भाषा
- संचार भाषा
- सम्पर्क भाषा
- राष्ट्र भाषा
- राजभाषा के रूप में हिन्दी
- माध्यम भाषा
- मातृ भाषा
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

NOTES

प्रस्तुत इकाई में हिन्दी के विविध रूपों पर विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। भाषा, राष्ट्रभाषा, राजभाषा के रूप में हिन्दी माध्यम भाषा एवं संचार भाषा है। इन माध्यमों में हिन्दी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है तथा राजभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता भी दी गई है। इस इकाई में हिन्दी के विविध रूपों की विस्तार से जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

परिचय

आरम्भ काल से ही हिन्दी साहित्य की भाषा ही नहीं है, बल्कि शासन की, प्रशासन की, जनता की और जनसम्पर्क की भाषा भी रही है। सम्पर्क भाषा हिन्दी राष्ट्रीय एकता की बड़ी सशक्त कड़ी रही है और आगे भी रहेगी। इसका उदय और विकास राष्ट्रीय जागरण के समानान्तर इस कारण हुआ कि यह एक जोड़ने वाली भाषा है। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करती रही है और सभी क्षेत्रों, धर्मों, वर्गों, जातियों एवं श्रेणियों के लोगों ने इसे ससम्मान अपनाया है। यह किसी सम्प्रदाय-विशेष अथवा प्रदेश विशेष की भाषा न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा है।

मनुष्य अपनी मातृभाषा में ही अपनी वास्तविक भावना को व्यक्त कर सकता है। उसकी स्वाभाविकता भावों के साथ मिलकर एकरसता प्राप्त कर लेती है। अतः सभी स्वतंत्र देशों की अपनी राष्ट्रभाषा होती है। दूसरी भाषा कितनी भी उन्नत क्यों न हो पर उसे कोई स्वतंत्र देश अपनी राष्ट्रभाषा नहीं मानेगा।

हिन्दी वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के सफर में अनेक लड़ाइयाँ लड़ते हुए तथा विविध क्षेत्रों में विकास करते हुए राजभाषा परद पर आसीन हुई है। संस्कृति तथा राष्ट्र के निर्माण की अहम भूमिका होती है। इसी तरह हिन्दी भी भारतीय संस्कृति, परम्परा और राष्ट्र निर्माण में उल्लेखनीय योगदान का निर्वहन कर रही है।

हिन्दी के विविध रूप

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में हिन्दी सर्वाधिक व्यक्तियों द्वारा बोली एवं प्रयोग की जाने वाली भाषा है। हिन्दी का प्रयोग देश-विदेश दोनों में होता है। हिन्दी भारत की राष्ट्रीयता की ही नहीं, अपितु अस्मिता की भी परिचायक है। भाषाओं में निरन्तर परिवर्तन होने के कारण शब्द कभी घट जाते हैं तो कभी बढ़ जाते हैं। इस घटा-बढ़ी के पीछे अनेक कारण कार्य करते हैं, जैसे हिन्दी में बहुतायात में शब्द ऐसे हैं जिनका रूप संस्कृत जैसा ही है। कुछ शब्द संस्कृत पर आधारित हैं लेकिन उनका रूप बदल गया है। अन्य भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में प्रचुर मात्रा में आ गये हैं। भाषा जब बड़े प्रदेश में बोली जाती है तो उसके क्षेत्र के अनुसार कई रूप विकसित हो जाते हैं, जैसे—बम्बइया हिन्दी, पंजाबी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी आदि हिन्दी के अनेक रूप हैं।

सृजनात्मक भाषा

सृजनात्मक भाषा का उद्भव बोलचाल की भाषा से होता है। कुछ प्रमुख विद्वानों का मत है कि भाषा में होने वाले नये प्रयोग या परिवर्तन को सृजनात्मक कहा जाता है। देश का प्रत्येक सदस्य इससे प्रभावित होता है। यदि कोई बच्चा बिल्ली की ओर संकेत कर 'म्याऊँ' की आवाज निकालता है तो वह भी एक नये शब्द का सृजन करता है, लेकिन यह सृजनात्मकता का भ्रामक अर्थ है। भाषा प्रतीकों की व्यवस्था है जिसके अंगों-उपांगों में नियमबद्ध सम्बंध है। भाषा का प्रयोजन सम्प्रेषण व विचारों का आदान-प्रदान होता है। जो व्यक्ति सम्प्रेषण के प्रयोजन से भाषा का प्रयोग करता है, उसे भाषा के सभी नियमों का पालन करना होता है। वक्ता भाषा का प्रयोग कर अपनी बात कहता है, लेखक लिखकर पाठक तक पहुँचाता है। इसके लिए आवश्यक है कि वक्ता और लेखक तथा श्रोता और पाठक को भाषा के नियमों का ज्ञान हो। ये प्रयोग सामान्य भाषा का प्रयोग कहे जाते हैं। इसके विपरीत जब भाषा के नियमों का प्रयोग नहीं किया जाता तो उसे हम असामान्य प्रयोग कहते हैं। असामान्य प्रयोग में लेखक जो बात, जिस प्रकार से जितनी मात्रा में प्रेषित करता है, वह बात उसी प्रकार से श्रोता तक नहीं पहुँचती है। नियमों का ज्ञान न

होने से संदेश का गुणात्मक ह्रास हो जाता है, क्योंकि श्रोता को बात समझने में बाध आती है। दूसर और यदि लेखक को नियमों का पूर्ण ज्ञान है लेकिन वह किसी विशेष कारण से नियमों का उल्लंघन कर अपनी बात इस प्रकार कहता है कि श्रोता कही गई बात से अधिक प्राप्त करता है तो इस अतिरिक्त को सृजना कहा जाता है। इस प्रकार लेखक का नियमों का अनायास उल्लंघन और अपने संदेश में अतिरिक्त अर्थ की सम्भावना का उद्घाटन 'सृजनात्मकता' है। इसके लिए उपलब्ध शब्द से हटकर नये शब्दों का निर्माण, शब्दों में नये अर्थों को भरना, शब्दों का नया प्रयोग करना तथा शब्दों को नये ढंग से प्रस्तुत करता है आदि सम्मिलित हैं। लेखक जितना प्रयास संदेश में अतिरिक्त अर्थ भरने में लगाता है, पाठक उतना ही उससे अधिक अर्थ निकालने में करेगा। ऐसे संदेश में सृजनात्मक तत्वों को समझकर अतिरिक्त अर्थ निकालना प्रत्येक भाषा के प्रयोक्ता के वश की बात नहीं। कई पाठक ऐसे अर्थ भी निकाल लेते हैं जो लेखक ने सोचा भी नहीं होता। जिस संदेश में ऐसे अतिरिक्त अर्थ निकालने की संभावना जितनी अधिक होगी, उनमें सृजनात्मकता का स्तर उतना ही अधिक ऊँचा होगा। सृजनात्मक भाषा में लिखे संदेशों के रचयिता अपनी रचनाओं को बार-बार परिष्कृत करते हैं। यह अर्थ भाषा के नियमों के उल्लंघन से ही किया जाता है, विशेषकर व्याकरण के नियमों का। यह प्रत्येक सृजनात्मक प्रयास में नहीं होता। भाषा का सृजनात्मक प्रयोग कई रूपों में होता है। कहानी, कविता, नाटक, संस्मरण, निबन्ध आदि सृजनात्मक प्रयोग के उदाहरण हैं। इस तरह के प्रयोगों में यह महत्वपूर्ण नहीं होता कि क्या कहा जाता है? अपितु महत्वपूर्ण यह होता है कि संदेश कैसे दिया जा रहा है? काव्य की जो पंक्तियाँ ऊपर से सामान्य प्रतीत होती हैं वे भी कई अर्थ लिए रहती हैं, जैसे—

**मेरी भव बाधा हरौ, राधा, नागरि सोय।
जा तन की झाई पड़ै, स्याम हरित दुति होय॥**

उपर्युक्त पंक्तियों में यह नहीं देखा गया है कि इनका अर्थ क्या है? अपितु यह देखा गया है कि उसने सृजनात्मक भाषा के प्रयोग के द्वारा एक चित्र खींच दिया गया है जो एक विशेष सौन्दर्य को लिए हुए है।

इस तरह से भाषा प्रयोगों में इस बात को रेखांकित किया जा सकता है कि किसी एक संदेश का कोई निश्चित भाव या अर्थ नहीं होता, पाठक भिन्न-भिन्न अर्थ निकाल सकते हैं। ऐसे सृजनात्मक प्रयोगों की व्याख्या करते हुए एक कविता या नाटक का अर्थ तो समझाया जा सकता है परन्तु ऐसे कोई निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते कि प्रत्येक कविता या नाटक का सम्पूर्ण अर्थ अपने आप समझ में आ जाए। इसका कारण खोजने के लिए भी दूर नहीं जाना पड़ता। प्रत्येक कवि, नाटककार, कहानीकार, अपने-अपने ढंग से रचना का सृजन करता है। इस बात को रेखांकित किया जा सकता है कि एक युग के सृजनात्मक प्रयोगों में एक जैसी प्रवृत्तियाँ या लक्षण हों और उस युग विशेष के लेखक की रचनाओं में कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ हों, पर यह कोई निश्चित नियम नहीं।

संचार-भाषा

विभिन्न संचार माध्यमों में हिन्दी अभिव्यक्ति का साधन है। इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों का आधार पाकर हिन्दी दिक्-काल की सीमा पार कर वैश्विक धरातल को अपना चुकी है। हम विभिन्न संचार माध्यमों—आकाशवाणी, दूरदर्शन और कम्प्यूटर में हिन्दी के बढ़ते प्रयोग और प्रयुक्तियों को देख सकते हैं।

संचार भाषा मूलतः सम्प्रेषण की भाषा है। पूरे विश्व में इस समय अघोषित सूचना-युद्ध चल रहा है। समर्थ देशों ने अन्तरिक्ष में अपनी-अपनी प्रयोगशालाएँ स्थापित कर रखी हैं। कृत्रिम उपग्रहों के द्वारा वे भूगोल और खगोल की जानकारी का तेजी से संग्रहण कर रहे हैं। परिणामस्वरूप सूचनाओं का विस्फोट हो रहा है। इन सबने हिन्दी के समक्ष अनेक चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं। भारत भी पीछे नहीं है। इसने भी अन्तरिक्ष युग में प्रवेश कर लिया है। इसलिए हिन्दी को दूरसंचार की सक्षम भाषा के रूप में गठित करना इस समय बड़ी प्राथमिकता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने एक नई संचार भाषा को पैदा किया जिसमें संकेताक्षरों, लिपि-चिह्नों और कूट पदों की बहुलता है। सर्वोत्तम संचार भाषा उसे माना जाता है जिसमें कम-से-कम

NOTES

वर्णाक्षरों कस प्रयोग किया जाए। ऐसी ही भाषा को कम्प्यूटर में सुविधापूर्वक भरा जा सकता है। अँग्रेजी में क्योंकि कम वर्ण हैं अतः वह दूरसंचार में छा रही है। इसके कारण है कि सर्वत्र अँग्रेजी का बोलबाला है। वह वर्तनी और वाक्य संरचना में इंग्लैण्ड की अँग्रेजी से भिन्न है। डॉ० सूर्यप्रकाश दीक्षित ने इसे 'कम्प्यूनिकेटिव इंगलिश' कहा है। वे आगे लिखते हैं—“इस शती में अमेरिकी जनजीवन ने साहित्यिक अँग्रेजी को प्रश्रय नहीं दिया, उसने वरीयता दी कामकाजी अँग्रेजी को। इस कम्प्यूटर के युग में अमेरिकावासियों ने अपनी भाषा को प्रयत्न-लाघव से जोड़कर हजारों-लाखों कोड बना डाले। आज वे सीधे 'सैटेलाइट' से समाचार-पत्र का मुद्रण और प्रसारण कर लेते हैं। सम्प्रति कम्प्यूटर समस्त विश्व-ज्ञान को अपने अन्दर समाहित कर लेने की स्थिति में है। वे इस प्रकार संचार की संभावनाओं में निरन्तर वृद्धि करते आ रहे हैं।”

भारत अभी 'मैनुअल मुद्रण' के युग में ही है। केबल टी.वी. के आगमन से अब दूरदर्शन को ग्लोबल टी.वी. बनाने की बाध्यता अनुभव हो रही है। यही स्थिति आकाशवाणी और पत्रकारिता की भी है। संचार माध्यमों के अनुकूल हिन्दी की एक नयी छवि उभर रही है। समाचार-पत्रों की हिन्दी तो वर्षों पूर्व साहित्यिक हिन्दी से कुछ भिन्न हो गयी थी। फिल्मों में प्रयुक्त हिन्दी भी मानक हिन्दी से पर्याप्त भिन्न हो गयी है। रेडियो और टी.वी. की हिन्दी भी धीरे-धीरे अपनी अलग पहचान बनाती हुई दिखाई दे रही है। इस समय इस रूपान्तर को योजनाबद्ध ढंग से करने की आवश्यकता है। संचार भाषा के रूप में हिन्दी नये कीर्तिमान स्थापित कर रही है। अभी तक हिन्दी के समाचार-पत्र विदेशी समाचार समितियों से भेजे गए बासी समाचारों को प्रकाशित करते थे। 'भाषा समाचार एजेन्सी' की स्थापना से इस स्थिति में काफी परिवर्तन आया है। यही स्थिति 'समाचार' की है। इससे हिन्दी समाचार-पत्रों की पठनीयता बढ़ी है। आकाशवाणी और दूरदर्शन की समाचार पत्रकारिता ने भी जनजीवन को पर्याप्त प्रभावित किया है। दूरदर्शन चैनलों की बढ़ती स्पष्टता ने भी संचार के रूप में हिन्दी का काफी विकास किया है।

सम्पर्क भाषा

जो भाषा अन्य लोगों से लिखित या भौतिक रूप में सहायक होती है, उसे सम्पर्क भाषा कहते हैं। समाज की कोई सुगठित इकाई होगी तो उसकी अपनी एक सम्पर्क भाषा अवश्य होती है। छोटी-से-छोटी इकाई अर्थात् परिवार से लेकर गाँव, नगर, जिला, प्रदेश, देश या राष्ट्र तक एक इकाई हो सकती है और हम तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानने वाले हैं। इन सबके बीच विचारों का आदान-प्रदान, लेन-देन, व्यापार-व्यवसाय आदि कार्य सम्पर्क भाषा के माध्यम से ही सम्भव है। हिन्दी भारत के हर क्षेत्र, हर जगह फैली है तथा बोली और समझी भी जाती है। अतः भारत की सम्पर्क भाषा हिन्दी है।

यह तो निश्चित और निर्विवाद है कि हर जाति या देश की एक सम्पर्क भाषा होनी ही चाहिए। एक ऐसी भाषा जो उस देश में कहीं चले जाने पर काम आए अर्थात् जिसका व्यवहार देशव्यापी हो। और यदि कोई देश राष्ट्र हो, तो उस सम्पर्क भाषा को राष्ट्र भाषा ही कहेंगे। देश और राष्ट्र में अन्तर है। 1947 से पहले भारत देश तो था पर वह राष्ट्र नहीं था, क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं था, उसकी अपनी, अपने लोगों के वश में और अपने ही लोगों से बनी सेना नहीं थी, उसकी कोई अपनी विदेश नीति और स्वदेश नीति नहीं थी, आर्थिक नीति भी अपनी नहीं थी और शिक्षा नीति भी गैर के हाथ में थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ भारत देश एक राष्ट्र बन गया है। अब हमारी योजनाएँ राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होती हैं, और राष्ट्र के हित में बनती हैं, न किसी गैर व्यक्ति या गैर व्यक्तियों के लिए और न किसी गैर देश के लिए। हम भारतीय हैं, भारत एक है और हम एक हैं। 'सर्व भवति एकनीडम्'। संगच्छध्वं, संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् - हम एक साथ चलने वाले, एक साथ बोलने वाले, एक दूसरे के मन को जानते हुए एक साथ सोचते हैं। हमारी इस एकता के प्रतीक हैं एक राष्ट्रीय-ध्वज, एक राष्ट्रीय पशु, एक राष्ट्रीय पक्षी, एक राष्ट्रगान और एक राष्ट्र-भाषा। हम मानते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होती है। चीन बहुत बड़ा देश है, उसमें भी कई भाषाएँ हैं, पर वे सब राष्ट्रभाषाएँ नहीं हैं—चीनी एकमात्र राष्ट्रभाषा है। इस तरह भारत की भी एक राष्ट्रभाषा है, और वह है हिन्दी। हिन्दी व्यवहार में हम देखते हैं कि हिन्दी भारत के कोने-कोने में व्याप्त है। भारत में कहीं भी चले जाइए हिन्दी बोली और समझी जाती है।

इन सारे पक्षों पर काफी तर्क-वितर्क भी किया गया है। कोई इसे राष्ट्रभाषा नहीं मानना चाहता तो उसे अपनी मान्यता का प्रकाश करने का अधिकार है। पर भारत का हर व्यक्ति इतना तो स्वीकार करता है कि पूरे राष्ट्र की एक सम्पर्क भाषा होनी चाहिए और वह हिन्दी ही है।

हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि सम्पर्क भाषा और राष्ट्रभाषा में अन्तर है। हिन्दी युग-युग से भारत की सम्पर्क भाषा रही है। दक्षिण से आकर मधवाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य और अन्य आचार्य सारे भारत में इसी भाषा के माध्यम से अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करते रहे। भारत के राष्ट्र बनने से पहले भी हमारे तीर्थ थे और बंगाल, उड़ीसा, तमिलनाडु, कर्नाटक आदि प्रदेशों के लाखों यात्री इसी भाषा का व्यवहार सीख जाते थे। दक्षिण के तीर्थों - तिरुपति, मदुरई, कन्याकुमारी और रामेश्वरम् तक उत्तर भारत के लोग जाते थे तो हिन्दी से काम चलता था। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, समाचार-पत्रों के माध्यम से हिन्दी का प्रचार-प्रसार बढ़ा है। बहुत से राज्यों में स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों तक में हिन्दी में शिक्षा होती है। महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, उड़ीसा, असम, बंगाल और कर्नाटक के युवक हिन्दी सीखते हैं। देश की राजधानी हिन्दी प्रदेश में है। लाखों लोगों को मंत्रालयों, सचिवालयों, निदेशालयों और अन्य कार्यालयों से काम पड़ता है। उच्चतम न्यायालय भी दिल्ली में है।

भारत के विभिन्न राज्यों के लोग हिन्दी राज्य के छोटे-बड़े नगरों, महानगरों में नौकरी करते हैं, परिणामस्वरूप उनके बच्चे स्कूलों में, गली मुहल्लों में, खेल के मैदानों आदि में हिन्दी के सम्पर्क में आकर बहुत जल्दी हिन्दी सीख लेते हैं। उनके माता-पिता भी बच्चों को हिन्दी की शिक्षा दिलवाते हैं। अतः आप कहीं भी चले जाइए, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो हिन्दी बिल्कुल नहीं जानता हो। सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी सक्षम है तथा हम गर्व से कहते हैं कि हिन्दी भारत की सम्पर्क भाषा है।

राष्ट्रभाषा

‘राष्ट्र’ शब्द का प्रयोग किसी देश तथा वहाँ बसने वाली जनता दोनों के लिए होता है। प्रत्येक राष्ट्र अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। उसमें अनेक जातियों और धर्मों को मानने वाले लोग सम्मिलित रहते हैं। विभिन्न प्रान्तों के निवासी विभिन्न प्रकार की भाषाएँ बोलते हैं। इस विभिन्नता के साथ ही साथ उनमें एकता भी रहती है। पूरे राष्ट्र का शासन एक ही केन्द्र द्वारा संचालित किया जाता है। अतः राष्ट्र की एकता को और भी दृढ़ बनाने के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जिसका प्रयोग पूरे राष्ट्र के महत्वपूर्ण कार्यों में किया जाता है। केन्द्रीय सरकारी कार्य भी उसी भाषा में होता रहता है। ऐसी व्यापक भाषा राष्ट्रभाषा कही जाती है।

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता- ‘राष्ट्र’ शब्द में एक प्रकार की सामूहिक चेतना की भावना रहती है जो पूरे देश के निवासियों की भावना से सम्बन्धित होती है। ऐसी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए एक सार्वभौम भाषा की अपेक्षा होती है, वही सार्वभौम भाषा ‘राष्ट्रभाषा’ कहलाती है। यदि देश के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित भाषाओं में अलग-अलग काम होता रहे तो केन्द्रीय सरकार के सामने एक कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है और उसके लिए अनावश्यक व्यय बढ़ जाता है। शब्दावली को वास्तविक विचारधारा के तात्पर्य और मन्तव्य में एकरूपता नहीं रह पाती। परिणाम यह होता है कि एक ही वाक्य भिन्न-भिन्न भाषाओं में समान तात्पर्य (भाव) कठिनता से व्यक्त कर पाता है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए राष्ट्रभाषा आवश्यक होती है। सभी प्रान्तीय भाषाएँ वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से सम्मुनत (भलीभाँति उन्नत) नहीं होती और इस प्रकार के विषयों के लिए प्रान्तीय भाषाओं में शब्दावली का प्रायः अभाव रहता है। राष्ट्रभाषा को विविध विषयों के योग्य पारिभाषिक शब्दों से युक्त, उन्नत और सक्षम बनाना पड़ता है। यह कार्य सभी स्थानीय भाषाओं में सम्भव नहीं होता, अतः राष्ट्रभाषा की आवश्यकता होती है। राष्ट्र की एकता को दृढ़ करने के लिए राष्ट्रभाषा की आवश्यकता होती है। विदेशी विषयों को व्यक्त करने के लिए तथा विदेशी पत्र-व्यवहार के लिए भी राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार किसी राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्रभाषा का क्षेत्र और स्वरूप- मनुष्य जिस माध्यम से अपने घरेलू विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, वह कही जाती है बोली। बोली का क्षेत्र सीमित होता है। इसका प्रयोग भी प्रायः मौखिक ही

NOTES

होता है। बोली के रूप में बीस मील के अन्तर पर सामान्य अन्तर पड़ता जाता है। इस अन्तर का अनुभव हम सुगमता से कर नहीं पाते हैं परन्तु अन्तर होता अवश्य है। दूरी के साथ-साथ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यदि आगरा और कलकत्ता की बोलियों में तुलना करके देखें तो दोनों एकदम भिन्न मालूम पड़ेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बोलियों का क्षेत्र सीमित होता है। जिस बोली का क्षेत्र बढ़ जाता और उसमें सामान्य साहित्य-निर्माण होने लगता है तथा उसका रूप लिखित रूप में स्थिर हो जाता है, वह बोली विभाषा (प्रान्तीय भाषा) का रूप धारण कर लेती है। इस प्रान्तीय भाषा का क्षेत्र जब और भी बढ़ जाता है। इसमें उन्नत साहित्य का निर्माण होता रहता है और व्याकरण के नियमों द्वारा शासित होकर इसमें एकरूपता आ जाती है तब यह भाषा (साहित्य-प्रधान भाषा) बन जाती है। भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है। जिस देश की जनता स्वाधीन होती है, उसका अपना अस्तित्व विश्व में मान्य होता है। उसकी अपनी राष्ट्रभाषा का स्वरूप स्थिर होता है। उसका केन्द्रीय राजकाज उसी राष्ट्रभाषा में होता है।

भारत के स्वतंत्र हो जाने पर राष्ट्र भाषा का प्रश्न सामने आया। अंग्रेजी भाषा को बराबर बनाये रखना उचित नहीं था, अतः भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी घोषित हुई। तब से निरन्तर हिन्दी को प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त बनाने का प्रयास हो रहा है। आज यह राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत होती है और आशा है कि आने वाले वर्षों में केन्द्रीय सरकार के सभी कार्य हिन्दी में होने लगेंगे। इसका स्वरूप व्यापक बनाया जा रहा है और सभी प्रान्तों में इसका प्रचार बढ़ रहा है। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के लिए उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है। इसका रूप स्थिर तथा व्यवस्थित हो चुका है। इसका उन्नत रूप प्रायः सभी अहिन्दी भाषी प्रान्तों को भी मान्य हो जायेगा।

प्रत्येक स्वतंत्र और स्वाभिमानी देश की अपनी राष्ट्रभाषा है - इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, रूस, चीन, जापान सभी देशों में वहाँ की व्यापक बहुप्रचलित भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। आयरलैण्ड के पुनर्जागरण के साथ ही गैलिक भाषा को पुनर्जीवित करने का तीव्र प्रयत्न न किया जाता तो वहाँ राजनीतिक चेतना का विकास न हो पाता। परतन्त्रता के कारण गैलिक भाषा का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था। नयी पीढ़ी के युवक तो उसे बिल्कुल नहीं जानते थे। जो जानते थे, वे बोलने में लजाते थे। वहाँ के अग्रगण्य नेता, डी. बैलेरा, ने एक सौ वर्ष बूढ़े मोची से गैलिक भाषा सीखी क्योंकि वे कहते थे कि मैं इसके बल पर स्वाधीनता प्राप्त करूँगा। उन्होंने यह कर दिखाया। देखते-देखते सोई हुई भाषा जाग उठी और देश में फैल गई। आयरलैण्ड ब्रिटिश साम्राज्य की गुलामी से आजाद हो गया। यह कथा निश्चित ही उत्साहवर्धक है। आयरिश कवि टॉमस डेविस ने कहा है कि कोई राष्ट्र अपनी मातृभाषा को छोड़कर राष्ट्र नहीं कहला सकता।

राष्ट्रभाषा के आवश्यक गुण—राष्ट्रभाषा को देश की अधिकांश जनता की भाषा होना चाहिए। उसको लिखने-पढ़ने तथा समझने वाले प्रायः सभी प्रान्तों में होने चाहिए। उसे उन्नत तथा हर प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की बातों को व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए। राष्ट्रभाषा की लिपि तथा शब्दावली को वैज्ञानिक, सुन्दर तथा सरल होना चाहिए। उसकी वर्णमाला हर प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने में समर्थ होनी चाहिए। उस भाषा में उन्नत साहित्य, दर्शन, ज्योतिष आदि विषयों की पुस्तकें होनी चाहिए। राष्ट्रभाषा की सहायक अनेक भाषाएँ होनी चाहिए। राष्ट्रभाषा को राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल भी होना चाहिए। राष्ट्रभाषा संस्कृति तथा परम्परा की पोषक होती है। राष्ट्रभाषा ही राज्य-भाषा बनने योग्य होनी चाहिए। राजनैतिक संघर्ष में राष्ट्रीय भावनाओं का जोर अधिक रहता है। उस समय का साहित्य जिस भाषा में अधिक प्रकाशित होता है वही भाषा सरलता से राष्ट्रभाषा बन जाती है। राष्ट्रभाषा ही राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होती है।

राष्ट्रभाषा की गरिमा— प्रत्येक राष्ट्र की प्रकृति में भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भिन्नता होती है। हर जगह का वातावरण एक ही प्रकार की भाषा के विकास की क्षमता नहीं रखता। अतः प्रत्येक देश में विभिन्न प्रकार की भाषाओं का विकास होता है। यह ऐसा स्वाभाविक गुण है कि इसको बदला नहीं जा सकता। अंग्रेजी भाषा को ही यदि दस देशों के लोग बोलते हैं, तो उनके उच्चारण तथा भावाभिव्यक्ति के ढंग में पर्याप्त अन्तर पड़ता है। ठण्डे देशों के निवासी झटके से बोलते हैं, उनकी प्रकृति में कुछ रूखापन भी रहता है। उसी प्रकार उनकी भाषा के गुण भी होते हैं। मनुष्य अपनी मातृभाषा में ही अपनी वास्तविक भावना को व्यक्त कर सकता है। उसकी स्वाभाविकता भावों के साथ मिलकर एकरसता प्राप्त

कर लेती है। अतः सभी स्वतंत्र देश अपनी राष्ट्रभाषा अवश्य रखते हैं। दूसरी भाषा कितनी उन्नत क्यों न हो पर उसे कोई स्वतंत्र देश अपनी राष्ट्रभाषा नहीं मानेगा। जिस प्रकार महारानी को भी एक गरीब बालक अपनी माँ नहीं मान पाता और अपनी माता जो हर प्रकार से हीन है, उसी को माता मानकर बालक की मातृभावना का सन्तोष होता है। उसी प्रकार एक स्वतंत्र देश और जाति भी अपनी भाषा को राष्ट्रभाषा मानकर सन्तुष्ट होती है।

इस प्रकार स्वतंत्र देशों में कतिपय विशेष प्रकार के भावों का प्रबल योग रहता है। देश के राष्ट्रीय झण्डे के प्रति, राष्ट्रीय गीतों के प्रति, राष्ट्रीय त्यौहारों के प्रति तथा राष्ट्र भाषा के प्रति जनता की भावना का गहरा सम्बन्ध रहता है। किसी भी देश के निवासी अपनी इन वस्तुओं का अनादर सहन नहीं करना चाहते। जिस प्रकार राष्ट्र के लिए और सभी वस्तुएँ – जैसे मन्त्रिमण्डल, अस्त्र-शस्त्र, ज्ञान-विज्ञान आदि आवश्यक है उसी प्रकार राष्ट्रभाषा भी आवश्यक है। इसीलिए सभी देशों में राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए सरकार प्रयत्न करती है। भारत स्वतंत्र देश है और यह भी अपनी राष्ट्रभाषा की उन्नति का प्रयत्न कर रहा है। आशा है कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी निकट भविष्य में विश्व की श्रेष्ठ राष्ट्रभाषाओं में मानी जायेगी। राष्ट्रभाषा विकास में ही देश की उन्नति निहित है।

राजभाषा के रूप में हिन्दी

राजकाज चलाने के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, उसे 'राजभाषा' कहा जाता है। राजकाज में प्रयुक्त होने वाली वही भाषा होती है जिसे वृहत्तर समाज समझ सके। राजभाषा की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। मध्यप्रदेश का व्यवहार हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के लिए होता है। यह उदात्त भारतीय संस्कृति का केन्द्र बिन्दु एवं भारतीय आर्य भाषाओं का उद्गम प्रदेश है जो वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पवित्राभिमानी रहा है। हिन्दी भाषा-विकास-परम्परा इसी स्थल से सम्बन्ध रखती है। सर्वाधिक विद्वानों के मत से यह परम्परा वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट हिन्दी के रूप में विकसित हुई है।

वैदिक भाषा वैदिक युग की राजभाषा रही है। इस युग में प्रजातांत्रिक वर्ग राजा का निर्वाचन, सभा अथवा समिति का महत्त्व, पुरोहित की प्रशासकीय गरिमा, राजसीमा की रक्षा, बाह्य शत्रुओं से युद्ध, स्थानीय तथा केन्द्रीय अधिकारियों की नामावली, युद्ध सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्र, राज्य को संगठित करना, शासनाध्यक्षों की उपाधियाँ, राजा द्वारा राष्ट्र एवं राज्य की शपथ आदि की विस्तृत और व्यापक जानकारी ऋचर्चा प्राप्त होती है। उस समय प्रशासन में बारह रत्नी ऋप्रशासन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के निमित्त अधिकारीऋ होते थे जो सर्वोच्च प्रशासन मण्डल था। इन पदाधिकारियों के नाम हैं—1. सेनानी, 2. पुरोहित, 3. राजन्य, 4. राजमहिषी, 5. सूत, 6. ग्रामणी, 7. क्षत्रप, 8. संगृहिता, 9. भागदुध, 10. अक्षवाप, 11. गोविकर्ता, 12. पालागल।

इनके कार्य वैदिक भाषा में होते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय की भाषा राजभाषा के पद पर आसीन थी।

वैदिक भाषा के बाद लौकिक संस्कृत प्रयोग में आयी। लौकिक संस्कृत का समाज में बड़ा ही सम्मान रहा है। लौकिक संस्कृत के अनेक विद्वान आचार्य रहे हैं – पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' इसी भाषा में लिखी गई है। कालिदास, व्यास, भारवि, भवभूति, मम्मट, अभिनव गुप्त आदि विद्वानों ने इसी लौकिक संस्कृत में रचनाएँ की हैं। यह भाषा विज्ञान, व्याकरण, दर्शन-साहित्य, मनोविज्ञान, राजनीति और प्रशासन के राजकाज की भाषा रही है। महान अर्थशास्त्री कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका वर्णन देखने को मिलता है।

मौर्यवंशी राजाओं के शासनकाल में संस्कृत की अपेक्षा लोक भाषाओं को विशेष प्रश्रय मिला था किन्तु गुप्तवंशी राजाओं ने पुनः संस्कृत को राजभाषा के पद पर आसीन कर दिया था। संस्कृत सम्पूर्ण देश की समन्वय शक्ति बनकर भारत की सांस्कृतिक एकता का उद्घोष करती हुई पश्चिम से पूर्व एवं उत्तर से दक्षिण तक सर्वत्र छा गई। गुप्तवंश के पतन के बाद 'कान्यकुब्ज' और 'वल्लभी' नामक दो साहित्यिक

स्व-प्रगति की जाँच करें—

1. सृजनात्मकता से क्या आशय है ? हिन्दी के सृजनात्मक स्वरूप पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. संचार भाषा किसे कहते हैं ? क्या हिन्दी को संचार भाषा कहा जा सकता है ?
3. राष्ट्र भाषा की परिभाषा देते हुए इसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

NOTES

केन्द्र रहे हैं, जहाँ पर संस्कृत को विशेष प्रतिष्ठा और सम्मान मिला। यही वह पुण्य और पवित्र भूमि है जहाँ से समय-समय पर हर्ष, बाण, भवभूति, राजशेखर आदि आचार्य कवियों को प्रश्रय मिला और इसके सुखद वातावरण में उन्होंने अपनी काव्य-साधना का दीप जलाया।

लौकिक संस्कृत के बाद पाली भाषा का आगमन हुआ। पाली भाषा का सम्बन्ध बौद्ध साहित्य से है। राजभाषा के रूप में पाली अशोक के द्वारा प्रचलित और प्रसारित की गयी। अशोक के शिलालेखों तथा उसके प्रशासन में इसी भाषा का प्रयोग होता था। पाली जनभाषा होने के कारण लोकप्रिय भाषा थी। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये हैं।

अशोक काल में केन्द्रीय स्तर पर पाली भाषा थी और उन्हीं के समय में प्राकृत भाषा के लक्षण शिलालेखों, राजाज्ञाओं आदि में दिखाई पड़ने लगे थे, उल्लेखनीय है कि प्राकृत के अनेक रूपों का पता लगता है, इन प्राकृतों में अभिलेखीय प्राकृत का विशेष महत्त्व है। राजभाषा की दृष्टि से अभिलेखीय भाषा का विशेष महत्त्व है। इसके अन्तर्गत अशोक के शिलालेखों सारनाथ के कनिष्क कालीन अभिलेखों तथा साँची और भरहुत अभिलेखों, मांगना ढ्ढर्मात्र के दोषण पत्रों पर अंकित लेखों आदि में प्राकृत के राजभाषा सम्बन्धी रूपों को देखा जा सकता है।

पाली जैसे बौद्धों की भाषा थी वैसे ही प्राकृत जैनियों की भाषा थी। जैन और बौद्ध धर्म का उदय भारत में लगभग समान समय में हुआ है। अतः इनके द्वारा प्रयुक्त भाषाओं के विकास में भी समयगत अन्तर अधिक नहीं था।

जब भाषा परिनिष्ठित होकर विशिष्ट वर्ग तथा साहित्यिक ग्रन्थों तक सीमित हो जाती है तो नयी भाषा का सृजन होता है और यह कार्य जनता स्वतः सहज ढंग से कर लेती है, संस्कृत की भाँति पाली और प्राकृत जब जन से विशिष्ट वर्ग और साहित्यिक ग्रन्थों तक सीमित होती गयीं तदुपरान्त अपभ्रंश भाषा का प्रादुर्भाव (उद्भव) हुआ। प्रारम्भ में व्याकरण के नियमों से रहित होने के कारण इसे अपभ्रंश नाम से पुकारा गया।

अपभ्रंश जहाँ हिन्दी भाषा के अत्यन्त प्रारम्भिक रूप को उद्घाटित करने में ऐतिहासिक भूमिका निभा रही थी, वहीं दूसरी ओर विदेशी शासकों और आक्रमणकारियों के माध्यम से आये हुए अरबी और फारसी के शब्द अपना भारतीयकरण करके तत्कालीन प्रशासन और परम्परा की अभिव्यक्ति में योगदान दे रहे थे।

अपभ्रंश के विकास काल में मुख्यतः तीन राज्य थे। कान्यकुब्ज में प्रतिहार, मान्यखेट (बरार) में राष्ट्रकूट तथा बंगाल में पालवंशी राजाओं का आधिपत्य था। इनमें राष्ट्रकूट एवं पालवंशी राजाओं ने शौरसेनी अपभ्रंश को विशेष प्रश्रय दिया। बाद में गुजरात के सोलंकी राजाओं ने भी इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। कवियों की काव्यधारा उमड़ी तो दूसरी ओर पुष्पदंत एवं स्वयंभू जैसे कवियों की काव्यप्रतिभा का पस्फुटन, राष्ट्रकूटों की छत्र-छाया में हुआ। मान्यखेट (बरार) जैन वैश्यों का केन्द्र था, उनका व्यापार बरार, गुजरात, मालवा में था। यहाँ तक कि सुदूर दक्षिण प्रदेशों का पूरा व्यापार इन्हीं के हाथों में था, उनका व्यापार फैलने के कारण जैन वैश्यों ने इसे भारतीय स्तर पर महत्त्व दिलाया। इस प्रकार साहित्यिक भाषा के साथ अनेक राज्यों की राजभाषा का गौरव इसे प्राप्त है। संस्कृत, पाली, प्राकृत के द्वारा स्थापित मध्यप्रदेश की गरिमामयी भाषा (राजभाषा, राष्ट्रभाषा) परम्परा को सुदृढ़ बनाती हुई शौरसेनी अपभ्रंश ने उसे आगे बढ़ाया है।

दसवीं सदी अर्थात् हिन्दी साहित्य का वीरगाथाकाल, सिद्ध सामंत राजाओं और युद्धों का काल था, तत्कालीन राजाओं पर जो भी हिन्दी ग्रन्थ लिखे गये वे उस समय की भाषाओं में थे। इसी प्रकार पृथ्वीराज रासो में राजभाषा शब्दावली प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। रासो ग्रन्थों में तत्कालीन संस्कृति-साहित्य, राजनीतिक मान्यताओं और चेतनाओं, युद्ध, आखेट, रणनीति, विदेश दूतों और आक्रमणकारियों के साथ व्यवहार, उपहार और पुरस्कार, सैन्य संगठन, प्रयाणगान आदि के वर्णन विस्तार से मिलते हैं।

भारतीय राजनीति के बदलते परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर हिन्दी राजभाषा की संघर्ष गाथा अत्यन्त चिन्तनीय थी। मुसलमानों के राजकाल में हिन्दी को स्थान देना उनके लिए मजबूरी थी, क्योंकि गोरी, गजनवी जैसे

आक्रमणकारी जिनकी लूट की मानसिकता थी, वे भारत के प्रति सदिच्छा कैसे रख सकते थे। भाषा की रक्षा करना और उसका प्रचार-प्रसार करना उनकी नियति नहीं थी। सिक्कों पर देवनागरी लिपि का प्रयोग 'श्री हम्मिर', 'श्री मुहम्मद साम' आदि का अंकन भाषा-निष्ठा के लिए नहीं बल्कि अपने नाम और सिक्कों के प्रयोग और प्रचलन पर चिन्ता अधिक थी और यही दृष्टि शेरशाह सूरी तक में विद्यमान थी। खिलजी वंश ने हिन्दी को समुचित आदर दिया। उसके सेनापति मलिक काफूर ने महाराष्ट्र, आन्ध्र और कर्नाटक को जीत कर दिल्ली प्रशासन में मिला लिया और वहाँ का राजकाज हिन्दी की दक्षिणी बोली में चलाया।

मुगलकाल में हिन्दू राजाओं, जनता, धर्म और भाषा के प्रति उदारता की नीति दिखायी पड़ी। अकबर के दो उत्तराधिकारी जहाँगीर और शाहजहाँ का फारसी और तुर्की भाषा के साथ हिन्दी के प्रति रुझान था। सबसे अधिक अकबर ने हिन्दी के प्रति आस्था व्यक्त की। उसके शासनकाल में गजनाल, नरनाल जैसे यन्त्रों का नाम हिन्दी में रखा गया, 'दर्शन-झरोखा' न्याय का स्थान था, प्रत्येक निश्चित दिन वहाँ बैठकर राजा जनता से मिलता था, उसका हिन्दी प्रेम ही नहीं बल्कि भारतीय प्रेम बढ़ता गया जिस पर कट्टर इस्लामियों ने विरोध भी किया है। मुगलकाल में जारी होने वाले यंत्रों के शीर्षक फारसी भाषा में होते थे किन्तु इनके विषय लोक प्रचलित हिन्दी में लिखे जाते थे, ताकि आम जनता समझ सके।

फारसी तो केवल मुगल सम्राटों के परिवार, उच्च पदाधिकारी एवं मुसलमान प्रशासकों के साथ सम्पर्क की भाषा थी। ब्रज और राजस्थानी भाषा उस समय के शासन की मुख्य उपभाषायें थीं। कहीं-कहीं पर अवधी, बांगडू और बुन्देली आदि बोलियों का पुट भी मिलता है। इन्हीं बोलियों के साथ फारसी के शब्द पर्याप्त मात्रा में भर्ती हो रहे थे, जिसका भाषा पर बड़ा ही विपरीत प्रभाव पड़ा। उदारवादी राजाओं के द्वारा ही नहीं कट्टरवादी औरंगजेब जैसे शासकों ने भी हिन्दी के प्रति आस्था व्यक्त की। औरंगजेब की पुत्री जेबुनिसा ने 'नयन विलास' नामक हिन्दी काव्य की रचना की थी। जहाँ तक राजभाषा का प्रश्न है मुस्लिम काल में फारसी राजभाषा थी और सहभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग हो रहा था।

हिन्दी का व्यापक प्रचार-प्रसार तत्कालीन संतों और भक्तों ने किया। संतों ने फारसी और संस्कृत को छोड़कर खड़ी बोली अपनायी। निर्गुणवादी संतों के बाद वैष्णव धर्म ने हिन्दी को व्यापकता प्रदान की। भक्तिकालीन कवियों का ब्रजभाषा प्रेम और अवधी प्रेम उल्लेखनीय है। हिन्दी प्रदेश ही नहीं अपितु लगभग सभी प्रदेशों के संगीतज्ञ ब्रजभाषा के ही गीत गाते थे। एक ओर बंगाल के भरतचन्द्र एवं गुजरात के प्रेमानन्द आदि कवियों ने हिन्दी को काव्य भाषा के रूप में ग्रहण किया तो दूसरी ओर आसाम के कवि माधव ने ब्रजभाषा के माध्यम से काव्य गायन किया। अष्टाछाप कवियों के योगदान से ब्रजभाषा का चरमोत्कर्ष हुआ। विशेषकर सूरदास के साहित्य से हिन्दीतर भाषियों का हिन्दी के प्रति रुझान बढ़ा। इसी के साथ अवधी में गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना करके हिन्दी को प्रशस्त किया।

हिन्दी की व्यापकता विभिन्न राज्यों में देखने को मिलती है – महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, बंगाल और मराठा शासनकाल में हिन्दी की अक्षयनिधि भरी पड़ी है। महाराष्ट्र के सन्तों का योगदान, महानुभाव सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय के माध्यम से अधिकांशतः व्यक्त हुआ है। महानुभाव के संस्थापक स्वामी चक्रधर और उनकी शिष्या महादम्बा ने हिन्दी में पद लिखे और गाये हैं। वारकरी सम्प्रदाय के सन्तों की सुदीर्घ परम्परा में ज्ञानेश्वर, नामदेव द्वारा लिखित श्रीमद्भागवत की ज्ञानेश्वरी टीका, उत्कृष्ट कोटि की रचना है। मराठी सन्तों के बाद लावनी लेखकों ने भी हिन्दी में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

गुजरात में स्वामी वल्लभाचार्य एवं उनके पुत्र स्वामी विट्ठलनाथजी के सहयोग से वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। वहाँ के वैष्णव कवियों में केशवराम, भालण, बैजू बावरा, नरसिंह मेहता, कृष्णदास, दयाराम और हरखनाथ आदि का नाम हिन्दी की गतिशीलता और विकास में आदर के साथ लिया जाता है।

पंजाब के सिक्ख गुरुओं से पूर्व नाथ साहित्य की चर्चा इतिहास में होती है। नाथ सम्प्रदाय के गुरु गोरखनाथ की हिन्दी में रचनाएँ अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। नाथ सन्तों में चरपटनाथ, चौरंगीनाथ तथा जलंधरनाथ का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी के आदिकाल में लौकिक साहित्य का अति महत्त्व है। अब्दुरहमान लिखित—

NOTES

सदेश रासक पंजाब की माटी की देन है। महाकवि चंद भी पंजाब के ही थे। सन्तों में बाबा फरीद को भी भुलाया नहीं जा सकता। सिक्खों के दस गुरुओं का हिन्दी के प्रति अगाध प्रेम रहा है - गुरानानक (1469-1538), अंगददेव (1538-1552), गुरु अमरदास (1552-1574), गुरु रामदास (1574-1581), गुरु अर्जुनदेव (1581-1606), गुरु हरगोविन्द (1606-1645), गुरु हरिराय (1645-1651), गुरु हरिकृष्ण जी (1651-1664), गुरु तेगबहादुर (1664-1675), गुरु गोविन्दसिंह (1676-1708)। गुरु अंगददेव का महत्त्व गुरुमुखी लिपि के आविष्कारकर्ता के रूप में है।

मराठा शासनकाल में शिवाजी के पिता शाहजी ने हिन्दी कवियों को दरबार में सम्मान दिया था। स्वयं शिवाजी ने भूषण के अतिरिक्त भी गणेश और गौतम को अपने दरबार में महत्त्वपूर्ण दर्जा दिया था।

बंगाल में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की लहर थी। इन आचार्यों का कृष्ण प्रेम, वृन्दावन अनुराग चरम पर था। वहाँ ब्रज बोली में वैष्णव कवियों ने खूब रचनाएँ की हैं। इनमें परमानन्ददास, कृष्णदास, गोपालदास, रघुनाथदास, घनश्यामदास, नरहरिदास, गोविन्ददास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव का बंगाल के साथ ब्रज प्रेम भी अधिक था।

मुस्लिम काल में धर्म और अर्थ द्वन्द्व-सम्पत्तिऋ दो मुख्य कारण थे, जिससे अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी का विस्तार हुआ। राम और कृष्ण की भक्ति का गायन अवधी और ब्रजी में होना तथा सूफी कवियों का खड़ीबोली प्रेम और व्यापार में खड़ीबोली की उपयोगिता, हिन्दी की व्यापकता के कारण हैं।

अंग्रेजों का जैसे ही हमारे देश में आगमन हुआ, उन्होंने हर प्रकार से भारत की जनता में फूट डालने की कोशिशें कीं। कभी धर्म के आधार पर तो कभी भाषा के आधार पर। अंग्रेज यानी कम्पनी सरकार जिनकी निजी भाषा अंग्रेजी थी, वे अंग्रेजी भाषा को राजभाषा का स्थान दिलाने के लिए सक्रिय थे। कम्पनी सरकार ने हिन्दी-उर्दू का विवाद छेड़ दिया था जो बड़ा घातक रहा। इस सबके बावजूद अनेक राजनीतिज्ञों ने, विद्वानों ने, लेखकों ने हिन्दी का पक्ष लिया। राजा शिवप्रसाद की भाषा नीति में जब परिवर्तन आने लगा तथा उनका झुकाव अरबी-फारसी भाषा की ओर होने लगा तब राजा लक्ष्मणसिंह ने उनका विरोध करते हुए नागरी आन्दोलन को गति प्रदान की। भारतेन्दु द्वारा लिखित 'उर्दू का स्यापा' तथा 'निज भाषा उन्नति अहे'। प्रताप नारायण मिश्र के हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान के नारे आदि से हिन्दी को नयी सम्भावनायें प्राप्त हो सकीं। भारतेन्दु के बाद नागरी आन्दोलन को पं. मदन मोहन मालवीय जी ने अपने सशक्त हाथों से गतिशील किया। इसी उद्देश्य से नागरी प्रचारिणी सभा (1893) की स्थापना की गई। मालवीय जी ने हस्ताक्षर अभियान चलाकर मैकडानेल द्वारा नागरी लिपि को कचहरी में स्थान दिलाया, किन्तु फारसी लिपि न हटायी जा सकी। 1881 में बिहार एवं मध्यप्रदेश की अदालतों में हिन्दी को प्रवेश दिलाया गया। संयुक्त प्रान्त वर्तमान उत्तरप्रदेश, दिल्ली व कुछ मध्यप्रदेश के भाग की अदालतों में हिन्दी देर से आयी।

हिन्दी आन्दोलन में धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं, राजनीतिक संस्थाओं तथा साहित्यिक संस्थाओं का विशेष योगदान रहा है। 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना कलकत्ता में हुई। इसके संस्थापक राजा राममोहन राय थे। राजा राममोहन राय ने हिन्दी में बंगदूत (1826), नवीनचन्द्र राय ने साम्प्रदायिनी (1867), केशवचन्द्र सेन ने सुलभ समाचार (1875) पत्रिकाएँ निकालकर हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया। इसी प्रचार-प्रसार की कड़ी में बम्बई में (1867) को प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, नारायण चंदावरकर, आर. जी. भंडारकर इस संस्था के ख्यातिप्राप्त नेता थे।

बम्बई में 1875 में ही आर्य समाज की स्थापना हुई। आर्य समाज हिन्दी को आर्य भाषा कहते थे। उनके 28 नियमों में से पाँचवे नियम के अनुसार आर्य समाज के सदस्यों के लिए आर्य भाषा का ज्ञान अनिवार्य था। स्वामी दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश के रचयिता) के अतिरिक्त भाई परमानन्द, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द, इंद्र विद्या वाचस्पति आदि का अत्यधिक योगदान रहा है।

हरिद्वार में स्वामी श्रद्धानन्द ने (1902) में 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना करके ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विषयों का माध्यम हिन्दी को बनाया।

राजनीतिक संस्थाओं में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना से हिन्दी को बढ़ावा मिला। 1936 में कांग्रेस

अधिवेशन में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में 'राष्ट्रभाषा सम्मेलन' का भी आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में महात्मा गाँधी, काका कालेलकर, पुरुषोत्तम दास टंडन, पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे उक्तृष्ट कोटि के नेताओं ने भाग लिया, जिसमें अन्तर प्रादेशिक कार्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में करने के लिए सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया गया था।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार एवं विकास में अनेक संस्थाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता है - महाराष्ट्र राष्ट्र भाषा प्रसार समिति पूना (1937), हिन्दी विद्यापीठ बम्बई (1938), हिन्दुस्तानी प्रचार सभा वर्धा (1942), बिहार राष्ट्रभाषा पटना (1947), अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् (1949) तथा साहित्य अकादमी नई दिल्ली (1954)।

15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में यह निर्णय सन् 1946 में ले लिया गया था कि सभा (परिषद्) के कामकाज की भाषा हिन्दुस्तानी या अंग्रेजी होगी पर कोई भी सदस्य अध्यक्ष की अनुमति से सदन में अपनी मातृभाषा में भाषण दे सकेगा। 14 जुलाई 1947 को यह संशोधन प्रस्तुत किया गया कि हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी शब्द रखा जाए। प्रारम्भ में जो संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया गया था, उसमें राजभाषा विषयक कोई धारा नहीं थी। अनेक बहसों और बैठकों के बाद 14 सितम्बर 1949 को राजभाषा के रूप में हिन्दी को ससम्मान मान्यता प्रदान की गई।

इस प्रकार हिन्दी भाषा ने वैदिक काल से लेकर आधुनिककाल तक के लम्बे सफर में अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव एवं विरोधों का सामना करते हुए अपने विकास और अस्तित्व को बनाये रखा है। वर्तमान में राजभाषा के रूप में हिन्दी अपनी परम्परा और दायित्व का निर्वाह रूप से कर रही।

माध्यम भाषा

माध्यम भाषा उसे कहते हैं जो 'माध्यम' में प्रयुक्त होती है। दूसरे शब्दों में जिस भाषा के द्वारा शिक्षण-प्रशिक्षण और पठन-पाठन की व्यवस्था की जाती है उसे माध्यम भाषा कहते हैं। माध्यम भाषा को अँग्रेजी में 'Medium Language' भी कहा जाता है। भारत में उच्च-स्तर पर ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी का पठन-पाठन प्रायः अँग्रेजी माध्यम से ही होता है। इसके परिणामस्वरूप देश की युवा पीढ़ी को भारी क्षति उठानी पड़ती है। यह एक राष्ट्रीय क्षति है, जिसका एक मात्र उपाय है, प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना। सरकार ने हिन्दी की तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग की तो अनेक घोषणाएँ कीं परन्तु उनका अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणों से पालन नहीं हो पाया। विश्व में ज्ञान क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है जिसके अनुरूप स्तरीय पुस्तकें नहीं आ पा रही हैं। दूसरी ओर अँग्रेजी माध्यम से पढ़कर आए हुए अध्यापक अँग्रेजी को ही अध्यापन के लिए सुविधाजनक समझते हैं। इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा में अँग्रेजी मिथ्या-दम्भ की प्रतीक बनी हुई है। यह भ्रम भी फैलाया गया है कि विज्ञान और तकनीकी ज्ञान अँग्रेजी भाषा द्वारा ही सम्भव है। इस बात में संदेह नहीं कि प्रौद्योगिकी जिस भाषा-क्षेत्र में आती है, वह अपने साथ अपनी शब्दावली भी लाती है। कम्प्यूटर का तो हिन्दीकरण हो गया या इन्हें देवनागरी लिपि में लिखा जाएगा। ऐसी परिस्थिति में उधार के शब्दों को लेना ही होगा तो हिन्दी को 'अप-टू-डेट' नहीं किया जा सकेगा। अँग्रेजी आज क्यों ऊपर उठ रही है? इसका कारण है उसकी सर्वसंकलन क्षमता।

हिन्दी को माध्यम भाषा बनाने के लिए उसके रूप में वृद्धि करनी होगी। अभी तक हिन्दी के पास कुछ ही द्विभाषी, त्रिभाषी शब्दकोष हैं। इसी प्रकार विभिन्न विषयों के कोश, पर्याय कोश, व्युत्पत्ति कोश, संदर्भ कोश आदि भी बहुत कम हैं। इन्हें बनाना, प्रकाश में लाना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। इस आवश्यकता की पूर्ति तभी हो सकती है जब कोश विज्ञान का प्रशिक्षण देकर विभिन्न बोलियों और विषयों के शब्दकोश बनाये जायें। अब रचनाकारों को साहित्य छोड़कर इस क्षेत्र में आना होगा। सृजनात्मक लेखन हिन्दी में बहुत हो चुका है। अब आवश्यकता है उपयोगी साहित्य की या उपयोगी पाठ्य-सामग्री को प्रकाश में लाने की। पारिभाषिकों, संकेताक्षरों को इस समय हिन्दी की आवश्यकता है। विदेशी भाषा के प्रत्येक शब्द का धात्वर्थ अनुकूल हिन्दी नामान्तर गढ़ना होगा और हिन्दी के शब्दाभाव को दूर करना होगा। इस प्रकार के प्रयास विश्वविद्यालय के स्तर पर जब होंगे, शिक्षक और शोधार्थी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे और नवीनतम ज्ञान को हिन्दी में रूपान्तरित करेंगे, तभी हिन्दी का माध्यम भाषा के रूप में विकास होगा। हिन्दी

को माध्यम भाषा न तो दण्डात्मक प्रावधानों के द्वारा बनाया जा सकता है और न ही तुष्टीकरण की नीति के द्वारा। यह तभी सम्भव है जब अँग्रेजी स्कूलों से बेहतर हिन्दी स्कूल खुल जाँएँ और गुलामी की मानसिकता का भारतीयकरण अर्थात् हिन्दीकरण किया जाए।

NOTES

मातृभाषा

भारतीय मातृ-प्रधान संस्कृति के ही समान भाषा को विशेष महत्व देने के लिए मातृभाषा नाम दिया गया है। भाषा मानव की उन्नति का सर्वप्रधान और महत्वपूर्ण माध्यम है। भाषा के आधार पर समाज का विकास हुआ है और समाज के आधार पर भाषा का विकसित रूप सामने आया है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी भाषा से आत्मीय रूप से जुड़ा होता है। इस भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है और उसके जीवन को गतिशीलता मिलती है। व्यक्ति ऐसी ही भाषा के माध्यम से परिवार और समाज में अपना स्थान बनाता है। भक्ति में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक आदि भाव ऐसी भाषा के ही आधार पर विकसित होते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि जन्म के पश्चात् बालक जिस भाषायी परिवेश में रहकर प्रारम्भिक भाव का आदान-प्रदान करता है, उसे उसकी भाषा की संज्ञा देनी चाहिए। माना एक बालक अवधी क्षेत्र में रहकर बड़ा होता है तो उसकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति की भाषा अवधी होगी। यह सच है कि अवधी देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी की एक महत्वपूर्ण बोली है। इसे दृष्टिगत कर कहा जा सकता है कि उस बालक की मातृभाषा अवधी नहीं हिन्दी है।

जब हम गम्भीर रूप से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि अवधी भाषा क्षेत्र में जन्म लेने वाला बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है, वैसे-वैसे इस भाषा में भावाभिव्यक्ति करने लगता है। इसका प्रयोग बोलचाल या सामान्य व्यवहार में प्रभावी रूप में होता है। जब वह विद्यालय जाने के योग्य होता है, तो मुख्यतः हिन्दी भाषा सीखता है। अवधी अवध प्रान्त में प्रयुक्त जनपदीय भाषा है। पश्चिमी हिन्दी की एक संरचना को वह सरलता से ग्रहण कर लेता है। वह समाज, शिक्षा, राजनीति और धर्म आदि के क्षेत्रों में गतिशील रहने के लिए हिन्दी भाषा को ही अपनाता है। ऐसी प्रक्रिया भाषा और बोली के सहज सम्बंधों के कारण होती है। यही बात हिन्दी या किसी भी भाषा की विभिन्न बोलियों के संदर्भ में है।

इस प्रकार जिस भाषा में मनुष्य अपने जीवन में गतिशील रहने के लिए जिस मूल या प्रारम्भिक भाषा को अपनाता है, उसे मातृभाषा कहते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यदि कोई हिन्दी भाषा-भाषी परवर्ती समय में अँग्रेज या जर्मन भाषा सीखकर अपने जीवन में विशेष उन्नति कर ले तो उसकी मातृभाषा अँग्रेजी या जर्मन न होकर हिन्दी ही होगी। यह भी निर्विवाद सत्य है कि मातृभाषा का शिक्षण सरल होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** ने हिन्दी को मातृभाषा के रूप में याद करते हुए इसे 'निजभाषा' की संज्ञा दी है।

सार-संक्षेप

- दैनिक जीवन के व्यवहार में सामान्य भाषा का प्रयोग होता है। साहित्य-सृजन में परिनिष्ठित और साहित्यिक भाषा का प्रयोग होता है। जब बोलचाल की भाषा में कल्पना, नवीनता और मुहावरे आदि का प्रयोग होता है, तो सृजनात्मक भाषा का रूप विकसित हो जाता है। 'गद्य' का प्रारम्भिक प्रयोग एक पशु विशेष के लिए होता था, किन्तु बाद में इसका प्रयोग मूर्खता के प्रतीक रूप में होने लगा है—“वह बिल्कुल गधा है”। भाषा के व्याकरण सम्मत रूप होने के पश्चात् जब उसे साहित्यिक रूप मिलता है तो उसे सृजनात्मक भाषा कहते हैं।
- सृजनात्मक भाषा को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया गया है—प्रथम गद्यात्मक भाषा तथा द्वितीय पद्यात्मक भाषा। गद्य के अन्तर्गत कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, संस्मरण और समीक्षा आदि विधाएँ आती हैं। इन सभी विधाओं की भाषा में विधगत वैशिष्ट्य होना स्वाभाविक है, यथा—नाट्यभाषा में ध्वन्यात्मकता के साथ रिक्त वाक्य, संबोधनात्मक और प्रश्नवाचक वाक्यों से भाषा का स्वरूप अभिनेयता के लिए वरदान सिद्ध होता है। गद्य साहित्य का भाषायी रूप सामान्यतः व्याकरणसम्मत होता है।

- किसी देश के अधिकांश लोगों द्वारा समझी या प्रयुक्त की जाने वाली भाषा राष्ट्रभाषा होती है। यदि किसी राष्ट्र में एकाधिक राष्ट्रीय भाषाओं का प्रयोग होता है या वहाँ के संविधान में मान्यता प्राप्त हो, तो उनमें से ही सर्वाधिक रूप में प्रयुक्त भाषा को राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त होता है। राष्ट्रभाषा का सम्मान देश को गरिमा और गौरव प्रदान करता है।
- हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है। हिन्दी का प्रयोग भारतवर्ष के विस्तीर्ण भौगोलिक भाग—हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड प्रदेश तथा दिल्ली में होता है। इस भाग को हिन्दी-भाषी प्रदेश की संज्ञा दी जाती है। हिन्दी के विविध रूप राष्ट्रभाषा के आधार स्वरूप हैं। राष्ट्रभाषा के लिए संविधान में मान्यता की अपेक्षा नहीं होती है। यह देश के अधिकांश लोगों की मानसिक स्वीकृति पर प्रतिष्ठित होती है।
- किसी भाषा को राजभाषा तब कहते हैं जब देश का संविधान उस भाषा को प्रशासन की भाषा घोषित कर देता है। इस प्रकार की स्थिति में सभी औपचारिक कार्यों के लिए इस भाषा का प्रयोग अनिवार्य होता है। किसी भाषा को राजभाषा बन जाने पर यह बात प्रमुख नहीं होती कि लोग उस भाषा को भावनात्मक स्तर पर स्वीकारते हैं अथवा नहीं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 (प) में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है।
- भाषा सामान्य व्यवहार के माध्यम के साथ विविध ज्ञान-विज्ञान के ज्ञानार्जन का माध्यम है। हिन्दी साहित्य सृजन का माध्यम हिन्दी भाषा है। हिन्दी भाषा के अभाव में हिन्दी साहित्य की कल्पना भी असम्भव है। जिस प्रकार हिन्दी-भाषी समाज के भावादान-प्रदान की भाषा हिन्दी है, इसी प्रकार उनके विविध ज्ञानार्जन का माध्यम भी हिन्दी भाषा है। इस प्रकार सभी भाषाओं के माध्यम से उनसे सम्बन्धित भाषा-भाषी समाज विविध क्षेत्रों में उन्नति करते हैं।
- हिन्दी भारतवर्ष की राजभाषा, जनभाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा भी है। वर्तमान समय में विभिन्न विषयों का अध्ययन-अध्यापन हिन्दी माध्यम से होने लगा है। हिन्दी-भाषा क्षेत्रों में वाणिज्य, समाज विज्ञान ही नहीं, विज्ञान विषयों का अध्यापन हिन्दी माध्यम से विशेष रूप से होने लगा है। विविध शिक्षा संस्थाओं, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में परीक्षा प्रश्नों के उत्तर हिन्दी माध्यम से लिखने की छूट है। अनेक प्रतियोगी परीक्षाओं में हिन्दी प्रयोग को ऐसा ही अवसर दिया गया है। राजभाषा के नियमानुसार न्यायपालिका और कार्यपालिका की गतिविधियों का माध्यम हिन्दी होना चाहिए।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. जब भाषा के नियमों का प्रयोग नहीं किया जाता तो उसे हम असामान्य प्रयोग कहते हैं। असामान्य प्रयोग में लेखक जो बात, जिस प्रकार से जितनी मात्रा में प्रेषित करता है, वह बात उसी प्रकार से श्रोता तक नहीं पहुँचती है। नियमों का ज्ञान न होने से संदेश का गुणात्मक ह्रास हो जाता है, क्योंकि श्रोता को बात समझने में बाध आती है। दूसरे ओर यदि लेखक को नियमों का पूर्ण ज्ञान है लेकिन वह किसी विशेष कारण से नियमों का उल्लंघन कर अपनी बात इस प्रकार कहता है कि श्रोता कही गई बात से अधिक प्राप्त करता है तो इस अतिरिक्त को सृजना कहा जाता है। इस प्रकार लेखक का नियमों का अनायास उल्लंघन और अपने संदेश में अतिरिक्त अर्थ की सम्भावना का उद्घाटन 'सृजनात्मकता' है। इसके लिए उपलब्ध शब्द से हटकर नये शब्दों का निर्माण, शब्दों में नये अर्थों को भरना, शब्दों का नया प्रयोग करना तथा शब्दों को नये ढंग से प्रस्तुत करता है आदि सम्मिलित हैं। लेखक जितना प्रयास संदेश में अतिरिक्त अर्थ भरने में लगाता है, पाठक उतना ही उससे अधिक अर्थ निकालने में करेगा। ऐसे संदेश में सृजनात्मक तत्वों को समझकर अतिरिक्त अर्थ निकालना प्रत्येक भाषा के प्रयोक्ता के वश की बात नहीं। कई पाठक ऐसे अर्थ भी निकाल लेते हैं जो लेखक ने सोचा भी नहीं होता। जिस संदेश में ऐसे अतिरिक्त अर्थ निकालने की संभावना जितनी अधिक होगी, उनमें सृजनात्मकता का स्तर उतना ही अधिक ऊँचा होगा। सृजनात्मक भाषा में लिखे संदेशों के रचयिता अपनी रचनाओं को बार-बार परिष्कृत करते हैं। यह अर्थ भाषा के नियमों के उल्लंघन से ही किया जाता है, विशेषकर व्याकरण के नियमों का। यह प्रत्येक सृजनात्मक प्रयास में नहीं होता।

NOTES

भाषा का सृजनात्मक प्रयोग कई रूपों में होता है। कहानी, कविता, नाटक, संस्मरण, निबन्ध आदि सृजनात्मक प्रयोग के उदाहरण हैं।

2. विभिन्न संचार माध्यमों में हिन्दी अभिव्यक्ति का साधन है। इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों का आधार पाकर हिन्दी दिक्-काल की सीमा पार कर वैश्विक धरातल को अपना चुकी है। हम विभिन्न संचार माध्यमों-आकाशवाणी, दूरदर्शन और कम्प्यूटर में हिन्दी के बढ़ते प्रयोग और प्रयुक्तियों को देख सकते हैं।

संचार भाषा मूलतः सम्प्रेषण की भाषा है। पूरे विश्व में इस समय अघोषित सूचना-युद्ध चल रहा है। समर्थ देशों ने अन्तरिक्ष में अपनी-अपनी प्रयोगशालाएँ स्थापित कर रखी हैं। कृत्रिम उपग्रहों के द्वारा वे भूगोल और खगोल की जानकारी का तेजी से संग्रहण कर रहे हैं। परिणामस्वरूप सूचनाओं का विस्फोट हो रहा है। इन सबने हिन्दी के समक्ष अनेक चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं। भारत भी पीछे नहीं है। इसने भी अन्तरिक्ष युग में प्रवेश कर लिया है। इसलिए हिन्दी को दूरसंचार की सक्षम भाषा के रूप में गठित करना इस समय बड़ी प्राथमिकता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने एक नई संचार भाषा को पैदा किया जिसमें संकेताक्षरों, लिपि-चिह्नों और कूट पदों की बहुलता है। सर्वोत्तम संचार भाषा उसे माना जाता है जिसमें कम-से-कम वर्णाक्षरों कस प्रयोग किया जाए। ऐसी ही भाषा को कम्प्यूटर में सुविधापूर्वक भरा जा सकता है।

3. **राष्ट्रभाषा**—‘राष्ट्र’ शब्द का प्रयोग किसी देश तथा वहाँ बसने वाली जनता दोनों के लिए होता है। प्रत्येक राष्ट्र अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। उसमें अनेक जातियों और धर्मों को मानने वाले लोग सम्मिलित रहते हैं। विभिन्न प्रान्तों के निवासी विभिन्न प्रकार की भाषाएँ बोलते हैं। इस विभिन्नता के साथ ही साथ उनमें एकता भी रहती है। पूरे राष्ट्र का शासन एक ही केन्द्र द्वारा संचालित किया जाता है। अतः राष्ट्र की एकता को और भी दृढ़ बनाने के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जिसका प्रयोग पूरे राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण कार्यों में किया जाता है। केन्द्रीय सरकारी कार्य भी उसी भाषा में होता रहता है। ऐसी व्यापक भाषा राष्ट्रभाषा कही जाती है।

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता— ‘राष्ट्र’ शब्द में एक प्रकार की सामूहिक चेतना की भावना रहती है जो पूरे देश के निवासियों की भावना से सम्बन्धित होती है। ऐसी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए एक सार्वभौम भाषा की अपेक्षा होती है, वही सार्वभौम भाषा ‘राष्ट्रभाषा’ कहलाती है। यदि देश के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित भाषाओं में अलग-अलग काम होता रहे तो केन्द्रीय सरकार के सामने एक कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है और उसके लिए अनावश्यक व्यय बढ़ जाता है। शब्दावली को वास्तविक विचारधारा के तात्पर्य और मन्तव्य में एकरूपता नहीं रह पाती। परिणाम यह होता है कि एक ही वाक्य भिन्न-भिन्न भाषाओं में समान तात्पर्य (भाव) कठिनता से व्यक्त कर पाता है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए राष्ट्रभाषा आवश्यक होती है। सभी प्रान्तीय भाषाएँ वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से सम्मुनत (भलीभाँति उन्नत) नहीं होती और इस प्रकार के विषयों के लिए प्रान्तीय भाषाओं में शब्दावली का प्रायः अभाव रहता है। राष्ट्रभाषा को विविध विषयों के योग्य पारिभाषिक शब्दों से युक्त, उन्नत और सक्षम बनाना पड़ता है। यह कार्य सभी स्थानीय भाषाओं में सम्भव नहीं होता, अतः राष्ट्रभाषा की आवश्यकता होती है। राष्ट्र की एकता को दृढ़ करने के लिए राष्ट्रभाषा की आवश्यकता होती है। विदेशी विषयों को व्यक्त करने के लिए तथा विदेशी पत्र-व्यवहार के लिए भी राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार किसी राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा अत्यन्त आवश्यक है।

4. हिन्दी आन्दोलन में धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं, राजनीतिक संस्थाओं तथा साहित्यिक संस्थाओं का विशेष योगदान रहा है। 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना कलकत्ता में हुई। इसके संस्थापक राजा राममोहन राय थे। राजा राममोहन राय ने हिन्दी में बंगदूत (1826), नवीनचन्द्र राय ने साम्प्रदायिनी (1867), केशवचन्द्र सेन ने सुलभ समाचार (1875) पत्रिकाएँ निकालकर हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया। इसी प्रचार-प्रसार की कड़ी में बम्बई में (1867) को प्रार्थना समाज की स्थापना हुई।

केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, नारायण चंदावरकर, आर. जी. भंडारकर इस संस्था के ख्यातिप्राप्त नेता थे।

बम्बई में 1875 में ही आर्य समाज की स्थापना हुई। आर्य समाज हिन्दी को आर्य भाषा कहते थे। उनके 28 नियमों में से पाँचवे नियम के अनुसार आर्य समाज के सदस्यों के लिए आर्य भाषा का ज्ञान अनिवार्य था। स्वामी दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश के रचयिता) के अतिरिक्त भाई परमानन्द, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द, इंद्र विद्या वाचस्पति आदि का अत्यधिक योगदान रहा है।

हरिद्वार में स्वामी श्रद्धानन्द ने (1902) में 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना करके ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विषयों का माध्यम हिन्दी को बनाया।

राजनीतिक संस्थाओं में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना से हिन्दी को बढ़ावा मिला। 1936 में कांग्रेस अधिवेशन में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में 'राष्ट्रभाषा सम्मेलन' का भी आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में महात्मा गाँधी, काका कालेलकर, पुरुषोत्तम दास टंडन, पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे उत्कृष्ट कोटि के नेताओं ने भाग लिया, जिसमें अन्तर प्रादेशिक कार्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में करने के लिए सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया गया था।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार एवं विकास में अनेक संस्थाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता है - महाराष्ट्र राष्ट्र भाषा प्रसार समिति पूना (1937), हिन्दी विद्यापीठ बम्बई (1938), हिन्दुस्तानी प्रचार सभा वर्धा (1942), बिहार राष्ट्रभाषा पटना (1947), अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् (1949) तथा साहित्य अकादमी नई दिल्ली (1954)।

- माध्यम भाषा उसे कहते हैं जो 'माध्यम' में प्रयुक्त होती है। दूसरे शब्दों में जिस भाषा के द्वारा शिक्षण-प्रशिक्षण और पठन-पाठन की व्यवस्था की जाती है उसे माध्यम भाषा कहते हैं। माध्यम भाषा को अँग्रेजी में 'Medium Language' भी कहा जाता है। भारत में उच्च-स्तर पर ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी का पठन-पाठन प्रायः अँग्रेजी माध्यम से ही होता है। इसके परिणामस्वरूप देश की युवा पीढ़ी को भारी क्षति उठानी पड़ती है। यह एक राष्ट्रीय क्षति है, जिसका एक मात्र उपाय है, प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना। सरकार ने हिन्दी की तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग की तो अनेक घोषणाएँ कीं परन्तु उनका अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणों से पालन नहीं हो पाया। विश्व में ज्ञान क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है जिसके अनुरूप स्तरीय पुस्तकें नहीं आ पा रही हैं। दूसरी ओर अँग्रेजी माध्यम से पढ़कर आए हुए अध्यापक अँग्रेजी को ही अध्यापन के लिए सुविधाजनक समझते हैं। इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा में अँग्रेजी मिथ्या-दम्भ की प्रतीक बनी हुई है। यह भ्रम भी फैलाया गया है कि विज्ञान और तकनीकी ज्ञान अँग्रेजी भाषा द्वारा ही सम्भव है। इस बात में संदेह नहीं कि प्रौद्योगिकी जिस भाषा-क्षेत्र में आती है, वह अपने साथ अपनी शब्दावली भी लाती है। कम्प्यूटर का तो हिन्दीकरण हो गया या इन्हें देवनागरी लिपि में लिखा जाएगा। ऐसी परिस्थिति में उधार के शब्दों को लेना ही होगा तो हिन्दी को 'अप-टू-डेट' नहीं किया जा सकेगा। अँग्रेजी आज क्यों ऊपर उठ रही है? इसका कारण है उसकी सर्वसंकलन क्षमता।

हिन्दी को माध्यम भाषा बनाने के लिए उसके रूप में वृद्धि करनी होगी। अभी तक हिन्दी के पास कुछ ही द्विभाषी, त्रिभाषी शब्दकोश हैं। इसी प्रकार विभिन्न विषयों के कोश, पर्याय कोश, व्युत्पत्ति कोश, संदर्भ कोश आदि भी बहुत कम हैं। इन्हें बनाना, प्रकाश में लाना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। इस आवश्यकता की पूर्ति तभी हो सकती है जब कोश विज्ञान का प्रशिक्षण देकर विभिन्न बोलियों और विषयों के शब्दकोश बनाये जायें। अब रचनाकारों को साहित्य छोड़कर इस क्षेत्र में आना होगा।

- भारतीय मातृ-प्रधान संस्कृति के ही समान भाषा को विशेष महत्व देने के लिए मातृभाषा नाम दिया गया है। भाषा मानव की उन्नति का सर्वप्रधान और महत्वपूर्ण माध्यम है। भाषा के आधार पर समाज का विकास हुआ है और समाज के आधार पर भाषा का विकसित रूप सामने आया है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी भाषा से आत्मीय रूप से जुड़ा होता है। इस भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति का

स्व-प्रगति की जाँच करें-

- हिन्दी के विास में विभिन्न सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के योगदान पर टिप्पणी लिखिए।
- माध्यम भाषा के रूप में हिन्दी की उपादेयता पर प्रकाश डालिए।
- मातृभाषा किसे कहते हैं ? मातृभाषा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

NOTES

व्यक्तित्व विकसित होता है और उसके जीवन को गतिशीलता मिलती है। व्यक्ति ऐसी ही भाषा के माध्यम से परिवार और समाज में अपना स्थान बनाता है। भक्ति में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक आदि भाव ऐसी भाषा के ही आधार पर विकसित होते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि जन्म के पश्चात् बालक जिस भाषायी परिवेश में रहकर प्रारम्भिक भाव का आदान-प्रदान करता है, उसे उसकी भाषा की संज्ञा देनी चाहिए। माना एक बालक अवधी क्षेत्र में रहकर बड़ा होता है तो उसकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति की भाषा अवधी होगी। यह सच है कि अवधी देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी की एक महत्वपूर्ण बोली है। इसे दृष्टिगत कर कहा जा सकता है कि उस बालक की मातृभाषा अवधी नहीं हिन्दी है।

जब हम गम्भीर रूप से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि अवधी भाषा क्षेत्र में जन्म लेने वाला बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है, वैसे-वैसे इस भाषा में भावाभिव्यक्ति करने लगता है। इसका प्रयोग बोलचाल या सामान्य व्यवहार में प्रभावी रूप में होता है। जब वह विद्यालय जाने के योग्य होता है, तो मुख्यतः हिन्दी भाषा सीखता है। अवधी अवध प्रान्त में प्रयुक्त जनपदीय भाषा है। पश्चिमी हिन्दी की एक संरचना को वह सरलता से ग्रहण कर लेता है। वह समाज, शिक्षा, राजनीति और धर्म आदि के क्षेत्रों में गतिशील रहने के लिए हिन्दी भाषा को ही अपनाता है। ऐसी प्रक्रिया भाषा और बोली के सहज सम्बंधों के कारण होती है। यही बात हिन्दी या किसी भी भाषा की विभिन्न बोलियों के संदर्भ में है।

इस प्रकार जिस भाषा में मनुष्य अपने जीवन में गतिशील रहने के लिए जिस मूल या प्रारम्भिक भाषा को अपनाता है, उसे मातृभाषा कहते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यदि कोई हिन्दी भाषा-भाषी परवर्ती समय में अँग्रेज या जर्मन भाषा सीखकर अपने जीवन में विशेष उन्नति कर ले तो उसकी मातृभाषा अँग्रेजी या जर्मन न होकर हिन्दी ही होगी। यह भी निर्विवाद सत्य है कि मातृभाषा का शिक्षण सरल होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** ने हिन्दी को मातृभाषा के रूप में याद करते हुए इसे 'निजभाषा' की संज्ञा दी है।

अभ्यास-प्रश्न

1. कामकाजी हिन्दी के विविध स्वरूपों का वर्णन कीजिए।
2. सृजनात्मक भाषा एवं संचार भाषा की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
3. राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. माध्यम भाषा एवं मातृभाषा की विवेचना कीजिए।

हिन्दी का भौगोलिक विस्तार

NOTES

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन के उद्देश्य
- परिचय
- विचार वस्तु : हिन्दी बोलियाँ, परिचय, वर्गीकरण और विशेषतायें
- पश्चिमी हिन्दी का स्वरूपगत विभाजन
- पश्चिमी हिन्दी की विशेषताएँ
- सार-संक्षेप
- अभ्यास-प्रश्न

इस इकाई को पढ़ने के बाद हम हिन्दी भाषा की विभिन्न बोलियों, उनके पीछे की जनशक्ति को समझ सकेंगे। आज जो हिन्दी का रूप है वह किस तरह के ऐतिहासिक परिवर्तन और विकास तथा संघर्षों के दौर से गुजर कर यहाँ तक पहुँचा है इसे जान सकेंगे।

NOTES

परिचय

हिन्दी भाषा का उद्भव एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान हुआ। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के बाद हिन्दी। भारतीय इतिहास के एक विशेष चरण में हुआ। संस्कृत और संस्कृतभाषी समाज के ह्रास के साथ लौकिक भाषाओं ने अपना विस्तार करना प्रारंभ किया था। जनभाषा पहले भी थी परन्तु साहित्य रचना और राज्याश्रय के अभाव में उसकी पहचान नहीं बन पा रही थी। लोक रचनाकारों ने अपनी भाषा में रचनायें प्रस्तुत की और छोटे-छोटे राज्यों के उदय ने उन्हें आश्रय देना प्रारंभ किया तो हिन्दी जैसी जन भाषा साहित्य के क्षितिज पर छाने लगी। हिन्दी जन भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई इसका अर्थ है कि अब साहित्य में आम जीवन की झांकी उसके सुख-दुख, तीज त्योहार, आचार विचार को अभिव्यक्ति मिलने लगी। संस्कृत भाषा एक विशिष्ट वर्ग की भाषा थी, और वह आम जन की भाषा कभी नहीं रही लेकिन एक विशेष काल खंड में उसने जन भाषाओं के साहित्य को उभरने का अवसर नहीं दिया।

इस तरह लगभग एक हजार ईस्वी सन् के आसपास हिन्दी भाषा का उदय माना जाता है। यही वह समय था जब भारत ऐतिहासिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। इस परिवर्तन ने न केवल धर्म, संस्कृति, भाषा, भाव और विचारों आदि मानवीय जीवन के सभी क्षेत्रों में आमूल-चूल परिवर्तन की दिशा ग्रहण की थी। इस दिशा की उपज था भक्ति आंदोलन। भक्ति आंदोलन भाषा और भाव दोनों क्षेत्रों में जन आंदोलन था और यहीं से हिन्दी को एक भाषा का दर्जा मिला।

विचार वस्तु : हिन्दी बोलियाँ, परिचय, वर्गीकरण और विशेषतायें

वस्तुतः हिन्दी एक भाषा का नहीं, भाषा-समूह की संज्ञा है जिसमें विभिन्न भाषा, भाषाएँ और बोलियाँ सम्मिलित हैं। सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में 18 बोलियाँ बोली जाती हैं। इन सबको निम्न भाषा-क्षेत्रों में विभक्त किया जाता है—

(1) परिचय और वर्गीकरण

(1) पश्चिमी हिन्दी-क्षेत्र

► पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ

- | | | |
|--------------|-------------|------------|
| 1. खड़ी बोली | 2. बांगरू | 3. दक्खिनी |
| 4. ब्रजभाषा | 5. बुन्देली | 6. कन्नौजी |

► राजस्थानी की बोलियाँ

- | | | |
|-------------|-----------|-----------|
| 1. मारवाड़ी | 2. जयपुरी | 3. मेवाती |
| 4. मालवी | | |

► पहाड़ी हिन्दी की बोलियाँ

- | | |
|-------------|------------|
| 1. कुमायूनी | 2. गढ़वाली |
|-------------|------------|

(2) पूर्वी हिन्दी-क्षेत्र**► पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ**

1. अवधी
2. बघेली
3. छत्तीसगढ़ी

► बिहारी हिन्दी की बोलियाँ

1. भोजपुरी
2. मगही
3. मैथिली

(2) पश्चिमी हिन्दी-क्षेत्र

भौगोलिक विस्तार— भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मेवाती तथा अहीरवाटी प्रदेश को छोड़कर समस्त हरियाणा तथा भोजपुरी के अतिरिक्त पूर्वी उत्तर प्रदेश तक व्याप्त है। भाषा की दृष्टि से इसकी सीमायें पश्चिम में राजस्थानी तथा पंजाबी तक, पूर्व में अवधी एवं बघेली तक, उत्तर में पहाड़ी भाषाओं तक तथा दक्षिण में मराठी तक फैली हुई हैं। समस्त पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है।—(क) पश्चिमी हिन्दी, (ख) राजस्थानी हिन्दी तथा (ग) पहाड़ी हिन्दी। इनमें पश्चिमी हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ हैं—(1) ब्रज भाषा, (2) खड़ी बोली, (3) हरियाणवी (बांगरू), (4) कन्नौजी तथा (5) बुन्देली। राजस्थानी हिन्दी की चार बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती एवं मालवी। पहाड़ी हिन्दी की दो प्रमुख बोलियाँ हैं—कुमाँयूनी तथा गढ़वाली।

पश्चिमी हिन्दी — प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक जॉर्ज ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण करते समय मध्य देश की बोलियों को पश्चिमी हिन्दी का नाम दिया। इस वर्ग में उन्होंने प्रमुखतः पाँच भाषाएँ रखीं। ये भाषाएँ हैं— (1) ब्रज भाषा, (2) खड़ी बोली, (3) हरियाणवी (बांगरू), (4) कन्नौजी तथा (5) बुन्देली। दक्षिण भारत में मुस्लिमों द्वारा विकसित फारसी प्रधान हिन्दी भी पश्चिमी हिन्दी के अंतर्गत आती है।

पश्चिमी हिन्दी वर्ग की भाषाएँ वस्तुतः मध्य देश की भाषाएँ हैं। इसके अंतर्गत वर्तमान हरियाणा, दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश (कानपुर तक) तथा मध्यप्रदेश के ग्वालियर, भोपाल, सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड, होशंगाबाद, नरसिंहपुर, सिवनी और छिन्दवाड़ा आदि जिले आते हैं।

खड़ी बोली — हिन्दी के लिए खड़ी बोली शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम लल्लूलालजी ने अपने प्रेमसागर की भूमिका में किया है। दिल्ली और उसके पूर्व तथा उत्तर-पूर्व के समीपवर्ती जिलों की भाषा खड़ी बोली है। इस बोली को मुसलमान हिन्दी या हिन्दवी कहते थे। इसी का परिष्कृत रूप राष्ट्र भाषा हिन्दी कहलाता है।

बाँगरू अथवा हरियाणवी — बाँगरू शब्द बांगर से निकला है जिसका अर्थ—ऊबड़—खाबड़ या ऊँची—नीची भूमि है। दिल्ली के उत्तर पश्चिम की भूमि इसी प्रकार की है। यह दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्र—रोहतक, करनाल, नाभा, पटियाला, के पूर्वी भाग तथा हिसार जिले के पूर्वी भाग में बोली जाती है। जाटों का प्रदेश होने के कारण इसे जाटु भी कहते हैं।

ब्रजभाषा — ब्रजभाषा उत्तर प्रदेश के आगरा, अलीगढ़, एटा, मथुरा, मैनपुरी, बुलन्द शहर, बंदायूँ, बरेली, हरियाणा का गुड़गाँव, राजस्थान के धौलपुर, भरतपुर तथा जयपुर का पूर्वी भाग, मध्यप्रदेश का ग्वालियर ब्रजभाषा भाषी क्षेत्र है। इसकी क्षेत्रीय बोलियों का अन्तर भूत.दन्त के रूपों पर यौ, यौ, औ, ओ प्रत्ययों द्वारा ज्ञात हो जाता है, जैसे— चल्यौ, चलयौ, चलो चलो। शैरसेनी प्रा.त की वास्तविक प्रतिनिधि ब्रजभाषा ही है।

कन्नौजी — कन्नौज, उत्तर-प्रदेश के फर्रुखाबाद, इटावा, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, हरदोई के पश्चिमी भाग तथा कानपुर जिलों में बोली जाती है। इसमें और ब्रज में बहुत कम अंतर होने के कारण

NOTES

कन्नौजी का साहित्य ब्रजभाषा के अन्तर्गत ही समाहित किया गया है। जो शब्द खड़ी बोली में आ से अन्त होते हैं वे ब्रज में औ या यौ से और कन्नौजी में ओकारान्त हो जाते हैं। जैसे— खड़ी बोली — चला, ब्रज— चलयौ, कन्नौजी — चलो।

NOTES

बुंदेली—बुन्देलखण्ड की बोली है। उत्तर-प्रदेश के हमीरपुर, जालौन, झांसी जिलों तथा मध्यप्रदेश के भोपाल, ग्वालियर, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद जिलों में यह अपने मूल रूप में बोली जाती है। दतिया, पन्ना, चरखरी, दमोह, बालाघाट, छिंदवाड़ा आदि स्थानों में इसका मिश्रित रूप मिलता है, क्योंकि बुंदेली को भी कन्नौजी के समान ब्रज की ही एक बोली माना जाता है। राठौरी, लोघन्ती, बनाफरी आदि इसकी उपबोलियाँ हैं।

पश्चिमी हिन्दी का स्वरूपगत विभाजन

पश्चिमी हिन्दी की सभी भाषाएँ शोरसेनी अपभ्रंश से व्युत्पन्न हैं। पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाओं में ब्रज भाषा तथा खड़ी बोली को सबसे अधिक साहित्यिक मान्यता प्राप्त है। वर्तमान में खड़ी बोली के रूप में हिन्दी भाषा संघ की राजभाषा है। खड़ी बोली से पहले ब्रज भाषा साहित्य की प्रधान भाषा थी।

स्वरूप की दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाओं के दो वर्ग किए जा सकते हैं—

(1) **आकारबहुला भाषा** — खड़ी बोली तथा हरियाणवी भाषाएँ आती हैं।

(2) **ओकारबहुला भाषा** — ब्रज भाषा, बुंदेली और कन्नौजी आती है।

ध्वनि की दृष्टि से इन दोनों वर्गों की भाषा में मूल अन्तर यह है कि आकारबहुला भाषा के 'ड' और 'ड़' ओकरबहुला भाषा में 'र' हो जाते हैं। उदाहरण के लिए खड़ी बोली का पड़ता एवं 'दौड़' ब्रजभाषा में क्रमशः 'परता' और 'दौरि' हो जाता है। इसी विशेषता के कारण ब्रज भाषा खड़ी की तुलना में एक मधुर भाषा हो गई है।

पश्चिमी हिन्दी की विशेषताएँ

पश्चिमी हिन्दी के अंतर्गत आने वाली सभी पाँचों उपभाषाओं की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. पश्चिमी हिन्दी की प्रमुख बोली है 'खड़ी बोली' अतः इसकी विशेषता है उच्चारण में खड़ापन
2. इसमें 'य' और 'व' का उच्चारण सुरक्षित है। कुछ बोलियों में 'ल' ध्वनि पाई जाती है।
3. 'ण' और 'श' का भी स्पष्ट उच्चारण किया जाता है। ओकार बहुला बोलियों में ण का न और श का स हो जाता है।
4. जिह्वामूलीय ध्वनियों जैसे कि ख, ग, ज, और फ का भी प्रयोग होता है।
5. उच्चारण में महाप्राण ध्वनियों को अल्पप्राण कर दिया जाता है; जैसे— भी का बी, भूख का भूक, सभी का सबी, नहीं का नई, दुःख का दुक, धंधा का धंदा इत्यादि।
6. इस वर्ग की बोलियों के प्रमुख परसर्ग हैं—

कर्ता — ने, नें, नै

कर्म — को, कू को

करण—अपादान — ते, सेती, से

संबंध — का, के, की, को

अधिकरण — में, पर, वे

7. इस वर्ग की बोलियों में सर्वनामों के लिए मैं, हों, हमारो, हमारू, म्हारू, तुम, तिहारो आदि का मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है।
8. इसमें वर्तमान सहायक क्रिया के लिए है, हैं, हों, हौ; भूतकाल के लिए था, वे, हतो, हो तथा भविष्यत् काल के लिए ग वाले रूपों का प्रयोग किया जाता है।
9. संज्ञा, विशेषण तथा क्रियापदों में लिंग तथा वचन के अनुसार परिवर्तन किया जाता है।

(4) पूर्वी हिन्दी क्षेत्र

आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण करते हुए जार्ज ग्रियर्सन ने सबसे पहले 'पूर्वी हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया था। इसका उद्भव मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। पूर्वी हिन्दी प्राचीन काल के भौगोलिक नक्शे के अनुसार उत्तर और दक्षिण कौसल क्षेत्र में बोली जाती है। वर्तमान यह भाषा कानपुर से मिर्जापुर तक प्रयोग की जाती है। यह लखमीपुर से नेपाल की सीमा तक और दुर्ग बस्तर की सीमा तक व्याप्त हैं। इसे पूर्वी उत्तर प्रदेश, बघेलखंड, छोटा नागपुर और मध्यप्रदेश तक व्याप्त भी माना जा सकता है। उत्तर कौसल में अवधी भाषा बोली जाती है और दक्षिण कौसल में छत्तीसगढ़ी। भाषा की दृष्टि से इसकी सीमायें पूर्व में बिहारी, पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी, उत्तर में पहाड़ी भाषाओं तथा दक्षिण में उड़िया तक फैली हुई हैं। पूर्वी हिन्दी-क्षेत्र को भी दो वर्गों में विभक्त किया जाता है—(क) पूर्वी हिन्दी एवं (ख) बिहारी हिन्दी। पूर्वी हिन्दी में अनेक बोलियाँ हैं, किन्तु इनमें प्रमुख तीन ही हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। बिहारी हिन्दी में भी अनेक बोलियाँ हैं जिनमें मुख्य बोलियाँ तीन ही मानी जाती हैं—भोजपुरी, मगही मैथिल।

पूर्वी हिन्दी — पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र उत्तर कोसल तथा उसका दक्षिणी प्रदेश हैं। इसकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं— (1) भोजपुरी, (2) वधेली तथा (3) छत्तीसगढ़ी। कुछ विद्वान भोजपुरी को भी पूर्वी हिन्दी की ही बोली मानते हैं। साहित्यिक दृष्टि से, अवधी अत्यंत समृद्ध भाषा है। इसकी लिपि देवनागरी है यद्यपि कुछ लोग कैथी-लिपि का भी व्यवहार करते हैं।

अवधी— लखनऊ, फतेहपुर, इलाहाबाद, बाँदा, मिर्जापुर जिलों में बोली जाती है। अवधी के पश्चिमी भाग उन्नाव, फतेहपुर आदि जिलों में इसे बैगवाडी कहते हैं। अवधी के साहित्य को प्रोमाख्यानकार जायसी तथा श्रीरामचरितमानस के रचयिता तुलसी द्वारा अमरत्व प्रदान किया गया।

बघेली— बघेलखंड की भाषा है। रीवा इसका केन्द्र है। यह पश्चिम में बाँदा तथा मध्यप्रदेश के दमोह, जबलपुर, माँडला तथा बालाघाट जिलों में भी बोली जाती है। कुछ विद्वान इसे अवधी की ही एक बोली मानते हैं।

छत्तीसगढ़ी — छत्तीसगढ़ की बोली है। इसे लखोटी और लरिया भी कहा जाता है। यह जबलपुर से लेकर छोटा नागपुर तक और उत्तर में रीवा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक बोली जाती है। इसकी कई क्षेत्रीय बोलियाँ हैं, कारण कि यह उत्तर में अवधी, पूर्व में मुड़ा और उड़िया, दक्षिण तथा दक्षिण पश्चिम में मराठी और पश्चिम में बघेली और बुंदेली से घिरी हुई है।

(5) पूर्वी हिन्दी विशेषताएँ

पूर्वी हिन्दी की इन तीनों बोलियों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. पूर्वी हिन्दी का उच्चारण अवरोहपूर्ण है।
2. इन सभी में 'ण' ध्वनि के स्थान पर 'न', 'ल' के स्थान पर 'र', तथा 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' बोला जाता है।

NOTES

3. इन तीनों बोलियों में य का ज जैसे युवा का जुआ, यश का जश व का उ तथा ब – वकील का उकिल का बकील, बोला जाता है।
4. इनमें 'ए' का उच्चारण 'अइ' जैसे चैन का चइन, और 'औ' का उच्चारण 'अउ' होता है; जैसे—पैसा का पइसा, औरत का अउरत, कौन का कउन
5. इनमें संज्ञा शब्दों का एकवचन, तिर्यक एकवचन तथा सामान्य बहुवचन एक समान होते हैं।
6. हम—तुम सर्वनामों का अर्थ एकवचन है। जउन (जो), तउन (सो), कउन (कौन) इत्यादि।
7. पूर्वी हिन्दी बोलियों के प्रमुख परसर्ग हैं—

कर्म	—	क, का, कह, कु, के, को, कइ
सम्प्रदान	—	कहां, बरे, बदे, बाड़े
करण—अपादान	—	से, सेन, संती, सन, लग, भई, हुत, में, बे
संबंध	—	के, कर, केर, के, का, की, करि
अधिकरण	—	मा, में, मांहि, मांझ, मझारी, पर, प, मइहां।
6. इन बोलियों के क्रिया रूपों की रचना अनेकता एवं जटिलता है। इनमें क्रियापदों के साथ सार्वनामिक प्रत्यय जुड़ते हैं। इनमें 'कहिस' का अर्थ होता है— उसने कहा। 'मैं आता हूँ' को इनमें 'आइत ई' बोलते हैं। पूछिस (उसने पूछा), देहिस (उसने दिया) अहै, आरे, बारे आदि वर्तमान सहायक क्रियाएं हैं। भविष्यत् काल के लिए ह, ब, फ प्रयोग किया जाता है।

(6) पश्चिमी एवं पूर्वी हिन्दी में अन्तर

हिन्दी भाषा—भाषी क्षेत्र एक दूसरे से इतना अलग नहीं है कि एक बोली समूह की भाषा को दूसरे बोली समूह बाले बिल्कुल ही नहीं समझ पायें। इस दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी एकदम अपरिचित भाषा नहीं हैं। सूरदास की कविता समझने वाला व्यक्ति तुलसी दास के 'रामचरितमानस' को आसानी से समझ लेता है। इस परस्पर समझ के बावजूद दोनों भाषाओं में कुछ मुलभूत अन्तर हैं, जो शाब्दिक और व्याकरणिक दोनों ही रूपों में देखने को मिलते हैं।

पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी में जो भाषा वैज्ञानिक और व्याकरणिक अन्तर पाया जाता है उसका पहला कारण इनका उद्गम स्रोत अलग—अलग होना है। पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी प्राकृत से विकसित हुई। इसलिए उसको शौरसेनी की भाषिक और व्याकरणिक विशेषताएं मिलीं। जबकि पूर्वी हिन्दी अर्द्ध मागधी से विकसित हुई, इसलिए उसे उसकी भाषिक एवं व्याकरणिक विशेषताएं मिलीं।

इनके अन्तर का दूसरा कारण भौगोलिक तथा जीवनगत परिस्थितियाँ अलग—अलग होना है। मरुस्थल, मैदान, पहाड़ एवं जंगल इन बोलियों की ध्वनि तथा वाक् रचना को प्रभावित करते रहे हैं। इसके भौगोलिक परिवेश के कारण इन बोलियों की प्र.ति में भिन्नता आ गई है।

इनके अन्तर का तीसरा कारण है आसपास की बोलियों का प्रभाव ग्रहण करना। पूर्वी एवं पश्चिमी की आधारभूत दोनों प्रा.त भाषायें जब अपने स्थानीय जनभाषाओं के सम्पर्क में आईं, तो उन्होंने केवल उन्हीं की विशेषताएँ नहीं लीं, बल्कि अपने आस—पास की बोलियों से भी प्रभावित हुईं। इसके कारण इनकी रूप—रचना में अन्तर आया। पश्चिमी हिन्दी पंजाबी तथा पहाड़ी भाषाओं से प्रभावित हुईं, जबकि पूर्वी हिन्दी मराठी सीमा से जुड़ी होने के कारण उनसे प्रभावित हुईं। इस कारण दोनों भाषाओं में स्वाभाविक तौर पर कुछ व्याकरणगत विशेषतायें आ गईं। जो इस प्रकार हैं —

1. ध्वनि की दृष्टि से पूर्वी हिंदी में 'अ' का उच्चारण 'ओ' के बहुत निकट होता है। पूर्वी हिन्दी में अ इसका उच्चारण संवृत होता है, जबकि पश्चिमी हिंदी में इसका उच्चारण विवृत होता है।
2. पूर्वी हिंदी के 'इ' और 'उ' का उच्चारण अधिक ह्रस्व होता है जबकि पश्चिमी हिंदी में सामान्य ह्रस्व है।
3. पूर्वी हिंदी में 'ए' और 'ओ' संयुक्त स्वर हैं, जबकि पश्चिमी हिंदी में ये मूल स्वर हैं।
4. पश्चिमी हिंदी दो स्वरों का प्रयोग एक साथ नहीं होता है, जैसे 'दो' तथा 'और' बोले जाते हैं जबकि पूर्वी हिंदी में इनके स्थान पर दुई, अउर बोले जाते हैं क्योंकि इसमें दो स्वरों का प्रयोग प्रायः एक साथ किया जाता है।
5. पश्चिमी हिंदी में जिन शब्दों के प्रारम्भ में य, व आता है, पूर्वी हिंदी में य के स्थान पर इ और ज और व के स्थान पर उ प्रयोग किया जाता है। जैसे – पश्चिमी हिंदी के 'यहाँ' और 'वहाँ' पूर्वी हिंदी में क्रमशः 'इहाँ' और 'उहाँ' हो जाते हैं। यश का जश तथा वकील का उकील हो जाता है।
6. पश्चिमी हिंदी की बांगड़ू तथा खड़ी बोली आदि में 'ल' ध्वनि मिली है, जबकि पूर्वी हिंदी की किसी भी बोली में यह ध्वनि नहीं मिलती। पश्चिमी हिंदी की 'ल' ध्वनि का पूर्वी हिन्दी में 'र' हो गया है; जैसे— 'हल' का 'हर', 'फल' का 'फर' आदि। इसी प्रकार पश्चिमी हिंदी की ढ, ड, ध्वनियाँ पूर्वी हिंदी में क्रमशः 'र' और 'रह' में परिवर्तित हो जाती हैं ; जैसे 'गढ़' का 'गरह' तथा 'तोड़े' का 'तोरे'।
7. पश्चिमी हिंदी के ओकारांत या औकारांत शब्द पूर्वी हिंदी में प्रायः अकारांत या व्यंजनांत हो जाते हैं; जैसे—पश्चिमी हिंदी का 'बड़ो' या 'बड़ौक' शब्द पूर्वी हिंदी में 'बड़' हो जाता है। इसी प्रकार पश्चिमी हिंदी के 'भलो' या 'भलौ' का पूर्वी हिंदी में 'भल' हो जाता है।
8. पश्चिमी हिंदी में कर्त्ता के लिए 'ने' परसर्ग प्रयुक्त होता है। जबकि पूर्वी हिंदी में कर्त्ता के लिए किसी भी परसर्ग का प्रयोग नहीं होता।
9. पश्चिमी हिंदी में संज्ञा का मूल रूप प्रायः एक ही रहता है, जबकि पूर्वी हिंदी में इसके तीन रूप—सामान्य, दीर्घ, दीर्घतर प्रचलित हैं। जैसे पश्चिमी हिंदी में 'घोड़ा' का एक ही मूल रूप प्रचलित है। जबकि पूर्वी हिंदी में इसके घोड़, घोड़वा तथा घोड़वना; अर्थात् तीन रूप मिलते हैं।
10. पूर्वी हिंदी में 'अइया' तथा 'अउआ' प्रत्यय लगाकर संज्ञा शब्द अधिक बनते हैं, जबकि पश्चिमी हिंदी में ऐसा कम होता है। जैसे पूर्वी हिंदी में 'कन्हइया' और 'पुरवइया' जैसे शब्दों का प्रयोग होता है, जबकि पश्चिमी हिन्दी में इन्हें कान्हा, कन्हैया तथा 'पुरवैया' बोला जाता है।
11. पश्चिमी हिंदी का सर्वनाम 'मैं' पूर्वी हिंदी में 'मई'; पश्चिमी हिंदी का 'मेरा' और 'तेरा' पूर्वी हिंदी में 'मोर' और 'तोर' तथा पश्चिमी हिंदी का 'तुम्हारा', 'तिहारो' पूर्वी हिंदी में 'तुम्हार' के रूप में प्रयुक्त होते हैं।
12. पश्चिमी हिंदी में अन्य पुरुष एकवचन के लिए 'उस' का प्रयोग होता है। पूर्वी हिंदी में इसके लिए 'उइ' 'उओ' आदि रूप प्रचलित हैं। पूर्वी हिंदी में पश्चिमी हिंदी की तरह 'स' वाले रूपों का प्रचलन नहीं है।
13. पश्चिमी हिंदी में संबंधवाचक तथा सह—संबंधवाचक सर्वनामों के लिए 'जो', 'सो' प्रचलित हैं, जबकि पूर्वी हिंदी में इनके लिए 'जे', 'जवन', 'तवन', आदि प्रयुक्त होते हैं।

NOTES

14. पश्चिमी हिंदी में प्रश्नवाचक के लिए 'कौन' का प्रयोग होता है, जो पूर्वी हिंदी में 'कवन' बन जाता है।
15. पश्चिमी हिंदी में वर्तमान काल के अंतर्गत 'ह' वाले रूप; जैसे—है, हैं, हूँ, हो, हों, ही आदि अधिक प्रचलित हैं, जबकि पूर्वी हिंदी में 'ह' वाले रूप कम हैं और 'बाट' वाले रूपों का प्रचलन अधिक है; जैसे— बाटे, बाटें, बाटै, बाटो, बाटौ आदि।
16. पश्चिमी हिंदी में भूतकाल के लिए सहायक क्रिया के रूप में थ, ह, हत आदि के रूप अधिक प्रयोग होते हैं; जैसे— था, थे, थी, हा, हो, है, ही, हीं, हतो, हती, हते, हतीं आदि। परंतु पूर्वी हिंदी के इसके लिए रह, रहोउ, रहिस, रहे आदि रूपों का प्रयोग होता है।
17. पश्चिमी हिंदी में भविष्यत् काल की क्रिया में 'ग' वाले रूपों का प्रयोग अधिक होता है; जैसे— चलेगा, चलेगी, चलेंगे आदि। जबकि पूर्वी हिंदी में इस काल के लिए 'ग' वाले रूपों का प्रयोग कभी नहीं होता। उसके स्थान पर चली, चली है, आदि का प्रयोग होता है।
18. पश्चिमी हिंदी में क्रियार्थक संज्ञा के लिए 'न' या 'बो' वाले रूपों का प्रयोग होता है; जैसे—चलनो, चलिबो आदि। जबकि पूर्वी हिंदी में इसके लिए 'न' वाले रूपों का कभी प्रयोग नहीं होता। केवल 'ब' वाले रूपों का ही प्रचलन है; जैसे— चलब, देखब आदि।

(7) पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी में साम्य

1. पश्चिमी हिन्दी एवं पूर्वी हिन्दी; दोनों में ही शब्दांत 'अ' का लोप प्रायः सभी जगह प्राप्त होता है। लेकिन यदि 'अ' से पूर्व 'ऐ' अथवा 'औ' हो, तो 'अ' का लोप नहीं होता।
2. दोनों में ही 'श' की जगह 'स' मिलता है, तथा 'ष' का रूप 'ख' में परिवर्तित हो गया है।
3. 'र' का 'ड़', 'ल' का 'ड़' तथा 'न' का 'ल' दोनों में ही हो जाता है।
4. दोनों ही वर्ग की भाषाओं में अनुनासिकता का आगमन हुआ है।
5. दोनों में लिंग भेद की अस्पष्टता है, जो नपुंसकलिंग के विलय के कारण आई। स्त्रीलिंग के लिए दोनों में 'इ', 'अनि', 'इनि' आदि प्रत्यय लगाए जाते हैं।
6. दोनों में तद्भव शब्दों की प्रधानता देखने को मिलती है, तथा अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्दों को दोनों ने ही स्वीकार किया है।

(8) ब्रजभाषा

ब्रजभाषा पश्चिमी हिंदी क्षेत्र की प्रमुख बोली है। इसका विकास शौरसेनी प्राकृत से हुआ है। इसका क्षेत्र है— उत्तर प्रदेश के अलीगढ़, मथुरा, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा रायबरेली जिले, हरियाणा के गुडगांव जिले का पूर्वी भाग, मध्यप्रदेश में ग्वालियर जिले का पश्चिमी भाग। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में बरेली, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा तथा कानपुर के जिलों में भी ब्रजभाषा ही बोली जाती है।

ब्रजभाषा की अनेक उप-बोलियाँ हैं। इनमें नैनीताल की भुक्सा, एटा, मैनपुरी बदायूँ और बरेली की अंतर्वेदी, धौलपुर-पूर्वी जयपुर की डांगी, गुडगाँव एवं भरतपुर की मिश्रित बोली, करौली की जादोवाटी तथा कन्नौजी से प्रभावित बोलियाँ मुख्य हैं।

ब्रजभाषा की प्रमुख विशेषताये :

- (1) ब्रजभाषा औकारांत हैं। इसकी प्रायः सभी एकवचनीय पुल्लिंग संज्ञायें एवं विशेषण औकारांत होते हैं। जैसे—खुरपों कारी, गौरी मेरी, जौ आदि। क्रिया का सामान्य भूतकाल का एकवचन पुल्लिंग रूप भी औकारांत ही होता है, जैसे—बोली, कही, गयी, मारी।

(2) 'ए' तथा 'औ' ब्रजभाषा की विशेष ध्वनियाँ हैं। खड़ी बोली में जहाँ भी 'ए' तथा 'ओ' पाया जाता है, वहाँ ब्रजभाषा में ऐ, औ उच्चारण मिलता है। जैसे खड़ी बोली के तो, को, पे, में, ने के स्थान पर ब्रज भाषा में तौ, कौ, पै, में, नै आदि मिलते हैं।

(3) खड़ी बोली के शब्द के अंत का 'आ' ब्रजभाषा में 'ओ' हो जाता है; जैसे— 'आया' का 'आयो', 'होता' का 'होतो', 'जाऊंगा' का 'जाऊंगो' तथा 'दूजा' का 'दूजो'।

(4) खड़ी बोली का 'ड' 'र' हो जाता है, जैसे— पड़े—परे, लड़का—लरका, जुड़तो जाइगो।

(5) य, व, की श्रुति प्रायः दृष्टिगत होती है, जैसे— बोल्यो, कह्यो।

(6) पुल्लिंग एकवचन के अंत में उ तथा स्त्रीलिंग एकवचन के अंत में इ प्रायः बोला जाता है, जैसे— मातु—करमु, छोरी, कालि, इरि, मालु, कालि, दूरि आदि। स्त्रीलिंग के लिए ई, इनी, आइन तथा आनी का प्रयोग होता है; जैसे—छोरी, शेरनी, जेठानी, ललाइन आदि।

(7) परसर्ग खड़ी बोली आदि अन्य बोलियों ही की भाँति प्रयुक्त होते हैं। निम्न परसर्ग उल्लेखनीय हैं।

कर्ता — ने, नें, नै, न

कर्म — कु, कुं, कूं, कों, को, ऐ, ए, इ, कै, कें

करण अपादान — ते, तै, तैं, सू, सूं, सो, सों, सै, तें, तै

संबंध — को, कौ, (पुल्लिंग एकवचन अविकारी), कि,की (स्त्रीलिंग) के (पुल्लिंगविकारी बहुवचन)

अधिकरण — में, में, महं, मांहि, माहीं, माहि, मा, प, पै, पें।

(8) सर्वनामों में हौ (में), मो (को) विशिष्ट हैं। इसके अलावा इनका भी प्रयोग होता है मौहि, हमहिं, जाहि, जासु, ताहि, तासु, काहि, रावरो (आप)। ब्रजभाषा में प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम इस प्रकार हैं —

उत्तम पुरुष — में, हौं, मौ (कौ) मोहि, मुजकौ, मेरौ, हम, हमन, हमैं, हमहिं, हमारो।

मध्यम पुरुष — तू, तूं, तैं, तो (कौ) तोहि, तुजको, तेरौ, तुम, तुमहिं, तुम्हैं, तुम्हारो, तिहारो।

अन्य पुरुष — वौ, वह, वा (कौ).....वाहि, वे, वै, उन, उन्हें, ए, यह, या, (कौ)..., याहि, वे, इन, सो, तौन, ताहि, तिन्हें, तिन (कौ)...आदि।

(9) क्रिया रूपों में कुछ विशिष्ट रूप (सहायक क्रिया— इसमें वर्तमान काल) देखने में आते हैं— हों, ही, ही, (खड़ी बोली के हूं, है, हो) भूतकाल में हतो, हूतो, तो (था के लिए); हे, हते, हुतै, ते (थे के लिए); ही, हती, हुती, ती (थी के लिए) तथा हीं, हतीं, हुतीं, तीं (थीं के लिए) आते हैं। खड़ी बोली के 'हुआ' के लिए भयो, भ्यौ, भे; 'हुए' के लिए 'भै' तथा 'हुई' के लिए 'भई' रूप आते हैं। भविष्यत् काल के लिए 'ग' और 'ह' दोनों रूप मिलते हैं; जैसे—होंगे, हुंगो, हैगो आदि। ब्रजभाषा की क्रिया में 'त' वाले रूप; जैसे—मारत, मारति, मारतु तथा 'औ' या 'यौ' वाले रूप, जैसे—चलौ, गयो, आदि काफी प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में 'जाते' का रूप 'जातु', 'जात्वे' तथा 'जातू' भी मिलते हैं, जो ब्रजभाषा के विशेष प्रयोग हैं। इसमें प्रेरणार्थक क्रिया के रूप हैं— 'करायौ', देखायै, 'समुझायौ' आदि। सम्भावना के लिए खड़ी बोली में जहाँ 'होऊँ' होता है, वहीं ब्रज भाषा में 'होउ' होता है।

(10) खड़ी बोली का 'ण' 'न' (बाण=बान) हो जाता है।

NOTES

- (11) खड़ी बोली की तरह ब्रजभाषा में भी महाप्राण ध्वनि का अल्प-प्राणीकरण मिलता है; जैसे-साहूकार=साउकार, मुझ=मुज ।
- (12) ब्रजभाषा में बहुवचन बनाने के लिए ए, ऐ, अन तथा इन का प्रयोग किया जाता है; जैसे – किताबें, किताबन, किताबै, रोटिन ।
- (13) आज्ञासूचक शब्दों के लिए सुन, सुनु, सुनि, सुनै, सुनियो, सुनिए तथा सुनिजे रूप मिलते हैं ।
14. ब्रजभाषा में कभी-कभी नपुंसकलिंग भी मिलता है, जो इसकी प्राचीनता का द्योतक है। इसमें केवल पुल्लिंग रूप 'मारनौ' (मारना) ही नहीं मिलता, बल्कि इसका नपुंसक रूप 'सौनों' अथवा 'सोनों' प्रचलित हैं ।
15. इसके विशेषण प्रायः खड़ी बोली की भाँति हो होते हैं, किन्तु दीर्घ पुल्लिंग आकारान्त शब्द इसमें औकारान्त हो जाते हैं ।
16. इसमें कर्मवाच्य प्रायः खड़ी बोली की तरह ही "जानौ" के साथ अतीत क्रियाबोधक विशेषण का संयोग करके बनाया जाता है। कभी-कभी धातु में 'इचै' लगाकर भी कर्मवाच्य बनाया जाता है; जैसे- 'मारिचै' (वह मारा जा रहा है)।
17. क्रिया के रूपों में 'आव' प्रत्यय संयुक्त करके णिजन्त बनता है। दुहरे णिजन्त के लिए 'वाव्' अथवा 'वा' प्रत्यय लगता है। उदाहरण के लिए 'चलनौ' के लिए 'चलावनौ' ('आव' प्रत्यय) तथा दुहरे णिजन्त के लिए 'चलावावनौ' या 'चलवानौ' होगा ।

(9) खड़ी बोली

खड़ी बोली – सबसे पहले सन् 1600 में लल्लूलाल ने 'खड़ी' नाम का इस संदर्भ में प्रयोग किया था। उनके समकालीन और सहयोगी सदल मिश्र और ग्रिलक्राइस्ट ने भी इस नाम को प्रचारित किया।

'खड़ी' का अर्थ 'स्टैण्डर्ड या स्तर' है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में खड़ी बोली का व्याख्यात्मक परिचय देते हुए कहा गया है। "भाषा शास्त्र की दृष्टि से खड़ी बोली शब्द का प्रयोग दिल्ली मेरठ के समीपस्थ ग्राम समुदाय की ग्रामीण बोली के लिए होता है। इसे ग्रियर्सन ने 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' कहा है। डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने 'जनपदीय हिन्दुस्तानी' कहा है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से खड़ी बोली ही स्टैण्डर्ड हिन्दी, हिन्दुस्तानी तथा उर्दू की मूलाधार बोली है। साहित्यिक सन्दर्भ में कभी-कभी अवधि, ब्रज आदि के साहित्य से अलगाव करने के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य को 'खड़ी बोली साहित्य' से अभिहित किया जाता है। इस अर्थ में खड़ी बोली शब्द 'स्टैण्डर्ड हिन्दी' का समानार्थक होकर प्रयुक्त होता है। 'खड़ी बोली' शब्द का यह सामान्य अर्थ है। प्रथम प्रयोग विशिष्ट अर्थ में है।" इसको हिन्दुस्तानी, नागरी, सरहिन्दी, खरी, निर्मल गँवारी, कच्ची, प्रत या ठेठ, मरदानी आदि के नाम से भी पुकारते हैं।

'खड़ी बोली' के नामकरण की व्युत्पत्ति के संबंध में काफी मतभेद रहा है। एक मत यह है कि मूर्धन्य ध्वनियों की अधिकता के कारण इसे 'कड़ी' या खड़ी बोली' कहा गया कुछ विद्वानों के अनुसार अवधि को पड़ी या गिरी हुई बोली कहा जाने लगा था, इसलिए इस भाषा को 'खड़ी' कहा गया है।

एक अन्य मत इससे ठीक विपरीत है कि इस बोली की प्रखरता, बलाघात का आधिक्य और दीर्घ स्वर के बाद भी व्यंजन के उच्चारण इसको ब्रज की अपेक्षा अधिक 'कर्कश' बना देता है, इसीलिए इसे 'खड़ी' कहा गया।

चंद्रबली पाण्डेय ने 'खड़ी' का अर्थ 'प्रकृत' और ठेठ बताया है। ईस्टविक, ग्राहम बेली और गिलक्राइस्ट के अनुसार इसे प्रचलित और स्टैण्डर्ड अर्थात् परिनिष्ठत या खरी बोली कहा गया। खड़ी में परिवर्तन हुआ है।

डॉ. हरदेव बाहरी ने भी इसी मत को पुष्टि करते हुए लिखा है—“हमें भी लगता है कि जैसे अंग्रेजी स्टैड से स्टैंडर्ड बना, वैसे ही हिंदी पर्याय सुझाते हुए ‘खड़ा’ से ‘खड़ी’ बोली का प्रयोग चल पड़ा। याद रहे कि इस प्रदेश की भाषा का यह नाम तभी पड़ा जब इसका व्यवहार शिक्षा और साहित्य में स्टैडर्ड भाषा के रूप में होने लगा था। जयपुरी की राजस्थानी और पूना की मराठी को भी खड़ी बोली इसी कारण से कहा जाता है।”

जनपदों को नामों के आधार पर बोलियों का नामकरण होता रहा है। खड़ी बोली नाम से उर्दू की तरह किसी क्षेत्र जनपद विशेष का भान नहीं होता। इसीलिए राहुल सांकृत्यायन ने इस क्षेत्र के पुराने नाम कुरु जनपद से इस बोली को कौरवी कहा है। अधिकांश विद्वानों ने इस संज्ञा को स्वीकार किया है। इसके लिए हिन्दोस्तानी, नागरी हिंदी, सरहिंदी, साधु-हिंदी नई हिंदी, हिन्दवी रेख्ता, मानक हिंदी, परिनिष्ठित हिंदी, सर्जनात्मक हिंदी, राजभाषा हिंदी, राष्ट्रभाषा हिंदी आदि संज्ञाओं का प्रयोग होता रहा है। लेकिन एक बोली के रूप में खड़ी बोली तथा कौरवी ही प्रचलित रही हैं।

भौगोलिक विस्तार

खड़ी बोली का क्षेत्र गंगा यमुना के उत्तरी दोआब अर्थात् देहरादून के मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर तथा मेरठ जिले के अतिरिक्त बुलन्दशहर के उत्तरी भाग है। इसके अतिरिक्त यमुना के पार अम्बाला तक, दक्षिण पूर्व में बिजनौर तक।

खड़ी बोली की प्रमुख विशेषतायें

1. खड़ी बोली आकारान्त प्रधान है, जैसे— खाना, पीना, आया, गया, करता, किया, करना, आना, जाना, पाना, पड़ेगा, करेगा, बड़ा, छोटा, लम्बा, मोटा, पतला आदि। उच्चारण के खड़ेपन के कारण इसमें कभी-कभी प्रारम्भ के स्वर लुप्त हो जाते हैं; जैसे— इकट्टा=कट्टा, अनाज=नाज।
2. ऐ, औ का उच्चारण संवृत होने के कारण ए, ओ है, जैसे पैर-पेर, और-ओर आदि।
3. ह के पहले अ का उच्चारण ए जैसा सुनने में आता है। जैसे—कह्या केह्य, रह रेह।
4. ड़, ल स्वर के मध्य का न क्रमशः ड, ल्ल और ण बोले जाते हैं, जैसे— गाड़ी-गाडी, बड़ा-बडा, नीला-नील्ला, जाना-जाणा आदि।
5. स्वर मध्य में आने वाले दित्व व्यंजन दीर्घ स्वर के बाद ही बोले जाते हैं, किन्तु उनकी दीर्घता कम हो जाती है, जैसे—बाप्पू, बेट्टा, लोट्टा, जुत्ता, रात्री आदि।
6. खड़ी बोली के कारकों के लिए निम्नलिखित परसर्ग प्रयुक्त होते हैं—

कर्ता	—	ने, नें
कर्म तथा सम्प्रदान	—	को, कू, नू, ने
करण तथा अपादान	—	तें, सेती, से, सौं
संबंध	—	का, के, की
अधिकरण	—	में, पे, पर।

7. खड़ी बोली के सर्वनामों और क्रिया विशेषणों में भी विशिष्टता दृष्टिगत होती है —

सर्वनाम— में, मुज, मैं, (मुझे), म्हारा (हमारा), ते (तुझे), तमे-तुमे, थारा (तुम्हारा), यू-यो (यह), वोह (वह, जोण, जो) कोन (कौन), के अपना (अपना), को (कोई)।

क्रिया-विशेषण— कै 'कितने', असे 'ऐसे', जसे 'जैसे', जिब तिब 'जब तक' जां 'जहाँ, क्यू 'कैसे', नूं यों आदि।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

1. पश्चिमी हिन्दी की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. पूर्वी हिन्दी की विशेषताएँ बताइए।
3. ब्रज भाषा का परिचय देते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

NOTES

- (8) सामान्य हिंदी की अपेक्षा इसके दीर्घ स्वर कुछ कम दीर्घ हैं। अंतिम स्वर तो हिंदी में भी अन्त्येतर स्वरों की अपेक्षा ह्रस्व होते हैं, किंतु इस बोली में अन्त्येतर दीर्घ स्वर भी अपेक्षाकृत ह्रस्व हो जाते हैं, यही कारण है कि ऐसे दीर्घ स्वर के बाद के व्यंजन द्वित्व रूप में बोले जाते हैं। जैसे—लोगों, मोट्टा, राज्जा। इसके स्वर या तो दीर्घ स्वरांत होते हैं यह व्यंजनान्त शब्दांत में ह्रस्ववाली स्थिति नहीं रहती है।
- (9) ह्रस्व और अतिह्रस्व स्वर शब्द के अंत में नहीं आते। इसलिए इसके शब्द दीर्घस्वरांत या व्यंजनान्त होते हैं।
- (10) उदासीन स्वरों को छोड़कर सब स्वर सानुनासिक रूप में भी प्राप्त होते हैं।
- (11) दो माहप्राण ध्वनियाँ एक साथ उच्चरित न होकर, व्यंजन में परिवर्तन के रूप में मिलती है यथा—भीख—भीक, समझ—समज आदि। इसमें महाप्राण ध्वनियों की महाप्राणता बहुत कम है। शब्द के आदि में अथवा बालाघात युक्त स्थिति में तो यह महाप्राणता स्पष्ट रहती है, किंतु महाप्राण व्यंजन के बाद दूसरा महाप्राण व्यंजन अल्पप्राणता में उच्चरित होता है।
- (12) 'ड' और 'ढ़' व्यंजन शब्द के आरंभ में नहीं आते हैं।
- (13) संयुक्त अक्षर केवल शब्द के मध्य में आते हैं, आदि और अंत में नहीं।
- (14) कारकीय विभक्तियों का प्राथक्य भी इसकी अपनी विशेषता है।
- (15) शब्द प्रयोग की दृष्टि से इसमें तत्समपरकता एवं अरबी फारसी का बाहुल्य है।
- (16) इसमें 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग होता है। जैसे गनेश—गणेश।
- (17) इसमें र, ल, ड, ध्वनियाँ आपस में बदल भी जाती हैं; जैसे—चपरासी=चपड़ासी। इसी प्रकार कुछ शब्द एक साथ संधि करके भी बोले जाते हैं; जैसे—छिपगया =छिप्पा।
- (18) उच्चारण और ध्वनि भेद के कारण जो, जौन, कौन, ऐसा, अभी आदि क्रमशः जो, जोण, कोण, असा, इभी में परिवर्तित हो जाते हैं। जब, तब को जिब, तिब कहते हैं। 'कितनों' का संक्षिप्त रूप 'कै', 'कोई' का 'को' तथा 'क्या' का 'के' रूप प्रचलित हैं।
- (19) खड़ी बोली के क्रिया रूप साहित्यिक हिन्दी के समान हैं। किंतु 'है' का उच्चारण 'हे' भी होता है; जैसे—लाया करे है (लाया करता है)। इसमें क्रिया रूप से विकसित कुछ इस तरह के रूप भी चलते हैं; जैसे— मैं मारू हूँ (मैं मारता हूँ), मैं जाऊँ हूँ (मैं जाता हूँ)। भूतकाल के लिए 'या' वाले रूप चलते हैं; जैसे—चल्लाया (चला)। भविष्यत् काल का रूप हिन्दी की तरह गा, गे, गी, जोड़कर बनाया जाता है। किन्तु उसमें थोड़ा अंतर यह होता है कि अंतिम व्यंजन का उच्चारण द्वित्व हो जाता है; जैसे—मारुंग्गा, लाऊंग्गा आदि। कहीं—कहीं पंजाबी प्रभावी के कारण लाग्गा, जाग्गा आदि रूप भी पाए जाते हैं।
- (20) इसमें स्त्री प्रत्यय 'इन' के स्थान पर 'अन' मिलता है; जैसे— मालन, साँपन आदि।
- (21) इसमें वर्तमानकालिक .दन्त—खाता, जाता आदि हैं। भूतकालिक .दन्त के रूप में 'रिह्या' तथा 'उढ्या' आदि हैं।

(10) बांगरू

हरियाणा एक राज्य है जिसमें हिसार, रोहतक, करनाल आदि शामिल हैं। इस प्रदेश की बोली ही हरियाणवी अथवा बांगरू कहलाती है। इस प्रदेश में जाटों की संख्या अधिक होने के कारण इसको जाटू भी कहते हैं। बांगरू बोली केवल हरियाणा तक ही सीमित नहीं है। बांगरू की सीमा उत्तर पश्चिम में

पंजाबी, दक्षिण-पश्चिम में राजस्थानी (मारवाडी) तथा पूर्व में खड़ी बोली तक व्याप्त है। इस पर पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है।

बांगरू की प्रमुख विशेषताये

- (1) बांगरू अथवा हरियाणवी की ध्वनियाँ अधिकतर खड़ी बोली के समान हैं। इसमें भी ण् ल्ल एवं ड की प्रधानता है।
- (2) कारकों के परसर्ग भी प्रायः खड़ी बोली के समान हैं। 'ने' परसर्ग कर्ता और कर्म दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। कभी-कभी भ्रम भी हो जाता है जैसे—'मन् नै छोरे नै पीट्या।' सम्प्रदान में 'कील्या', अधिकरण में 'मंह—मांह' का विशेष प्रयोग होता है।
- (3) अन्य (प्रथम) पुरुष में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूप पृथक्-पृथक् हैं, जैसे — योह, (पु.) याह (स्त्री), वह् (पु) वाह (स्त्री)।
- (4) बांगरू में सहायक है, है, हूँ हो के स्थान पर सै, से, सूं, सो बोला जाता है। क्रियारूपों में विविधता भी पाई जाती है, जैसे—मारुं सूं, मारौं—सू, मारू—मारी आदि।

(11) कन्नौजी—कुछ विद्वान कन्नौजी को ब्रजभाषा का ही रूप मानते हैं, किन्तु जॉर्ज ग्रियर्सन ने इसे एक अलग भाषा के रूप में स्वीकार किया है। यह प्राचीन कान्यकुब्ज प्रदेश की भाषा है। इसका क्षेत्र मूलतः ब्रजभाषा और अवधी के बीच का क्षेत्र है। इस भाषा का केन्द्र है— उत्तर प्रदेश के शाहजहांपुर, फर्रुखाबाद, इटावा जिलों के अतिरिक्त पश्चिमी कानपुर तथा पश्चिमी हरदोई के कुछ भागों में भी बोली जाती है। पं. किशोरी दास वाजपेयी ने इसको 'पांचाली' नाम दिया है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा कन्नौजी को ब्रजभाषा का ही उपरूप मानते हैं।

कन्नौजी की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं

1. कन्नौजी में प्रायः वे सभी स्वर एवं व्यंजन-ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं, जो ब्रजभाषा में प्रचलित हैं। अंतर केवल इतना है कि इसमें व्यंजनांत पुल्लिंग शब्द उकारांत बोले जाते हैं; जैसे—रामु, कानु, घरु, किसानु, पेटु आदि।
2. इसमें ड, ङ और ढ, ढ में भेद स्पष्ट है।
3. इसमें 'ह' और 'स' की अपेक्षा 'र' का प्रयोग अधिक होता है।
4. इस बोली में मध्यम 'ह' का लोप हो जाता है; जैसे — जाहि=जाइ।
5. इसमें हिन्दी के अकारांत शब्द प्रायः ओकारांत बोले जाते हैं; जैसे—'छोटा' को 'छोटो'। इसी प्रकार हिन्दी का 'अ' भी यहाँ 'औ' में बदल जाता है; जैसे— बकरा=बौकरा।
6. हिन्दी की अंतिम महाप्राण ध्वनि यहाँ अल्पप्राण के रूप में पाई जाती है; जैसे— हाथ=हात्।
7. कन्नौजी में अनुनासिकता का अत्यधिक प्रयोग होता है।
8. इस बोली में व्यंजन और वाक्यों में शब्द-संयोग उल्लेखनीय
9. है; जैसे—बादशाह—बास्साह, थक गया=थग्गयो, लोभ मत करो=लोभमति करो।
10. स्त्रीलिंग बनाने के लिए आइन, इया तथा इ प्रत्यय जोड़े जाते हैं।
11. संज्ञा-सर्वनामों में कुछ अतिरिक्त परसर्ग भी प्रयोग में जाए जाते हैं; जैसे—कर्म के लिए का, कौ; संबंध के लिए 'कर' तथा अधिकरण के लिए मां, मंह आदि। इसमें ई(य) और ऊ (व) सर्वनाम अवधी से आए हैं।

NOTES

12. इसमें वर्तमान काल के लिए हू, हों, हो, हैगो तथा हुई; भूतकाल के लिए थी, थे, हो, हते, हती तथा भविष्यत्काल के लिए ह और ग वाले रूप अधिक प्रचलित हैं।
13. भूतकालीन क्रिया और पुल्लिंग एकवचन के विशेषण—रूप ओकरांत है, जैसे— देखो लगो, छोटो, बड़ो आदि।
14. कन्नौजी में कुछ विशेष प्रकार के क्रियाविशेषण पाये जाते हैं जैसे—कित्तों (कितने), जित्तों (जितने), इतै (इतने), कितै (कितने), काल्लि (कल), आजु (आज) आदि।

(12) दक्खिनी

दक्खिनी और खड़ी बोली में बहुत अधिक समानता दिखलाई पड़ती हैं। इसका मुख्य क्षेत्र आंध्र प्रदेश के हैदराबाद का आस-पास का दकन प्रदेश है। इसके विकास के संबंध में विद्वानों की धारणा है कि चौदहवीं शती के प्रारंभ में दिल्ली के बादशहों की प्रेरणा पर हरियाणा तथा उस प्रदेश के निवासी दौलताबाद और उसके पास बस गये थे। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग चालीस लाख हैं। इसमें पर्याप्त मात्रा से साहित्य उपलब्ध होता है। 18वीं शती के उत्तरार्द्ध तक दक्खिनी शासन, शिक्षा तथा साहित्य का माध्यम रही हैं।

दक्खिनी और खड़ी बोली में कोई विशेष अंतर नहीं हैं। यहां तक कि उसको खड़ी बोली का ही दक्षिणी रूप कहा जाता है। संक्षेप में इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

1. खड़ी बोली की भांति इस पर भी पंजाबी का प्रभाव दृष्टिगत होता है। प्रायः अनेक शब्दों का आदि स्वर ह्रस्व तथा द्वित्य है, जैसे—असमान, सुंगना, मिट्टा सुक्का आदि।
2. ड के स्थान प ड का अधिक प्रयोग होता है। इसी तरह न्द तथा न्ध ही जगह क्रमशः म्ब और म्म बोला जात है, जैसे—चान्दनी—चाननी, गूँधना, कम्बल—कम्मल आदि।
3. अधिकांश सर्वनाम खड़ी बोली के ही हैं, कतिपय विशिष्ट भी है यथा—मुंजे, हम—हमम, हमना—तुमना आदि।
4. कारक—परसर्गो की भी यही स्थिति है। कुछ विशेष परसर्गो का प्रयोग होता है, जैसे—कर्म में कू, सम्प्रदान के तई, करण में सू संबंध में क्या—केरा, अधिकरण में मने—पो आदि।
5. कुछ सज्ञार्थक क्रियाओं का विशिष्ट प्रयोग होता है, जैसे बोलना—बालना करना।

(13) बुन्देली

बुंदेला राजपूतों का प्रदेश होने के कारण इस क्षेत्र को बुंदेलखण्ड और उसकी भाषा को बुंदेलखण्डी या बुंदेली कहा जाता है। बुंदेली शुद्ध रूप में झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इस प्रकार यह बोली दक्षिणी—पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश के मध्यभाग तथा महाराष्ट्र के नागपुर के पास के उत्तरी—पूर्वी भाग में प्रयुक्त होती है। इसका क्षेत्र पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी तथा मराठी के बीच में है। इसका परिनिष्ठत रूप ओरछा और सागर के आस-पास बोला जाता है। जॉर्ज ग्रियर्सन के अनुसार बुन्देली की पूर्वी सीमा पर बघेली, उत्तर—पश्चिम सीमा पर कन्नौजी और ब्रजभाषा तथा दक्षिण—पश्चिम की ओर राजस्थान की बोलियाँ हैं। पश्चिमी हिन्दी की समस्त भाषाओं में बुन्देली का क्षेत्र अन्य भाषाओं की अपेक्षा काफी बड़ा है। यह मध्यप्रदेश (टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, दतिया, ग्वालियर, सारग, दमोह, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, छिंदवाड़ा, सिवनी, भोपाल, बालाघाट और दुर्ग के कुछ भाग); उत्तर प्रदेश (झांसी, हमीरपुर, जालौन, बांदा, आगरा, इटावा और मैनपुरी के कुछ भाग); महाराष्ट्र (नागपुर, छंदा, बुलडाना, बांधटा)

में बोली जाती है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का विचार है कि बुंदेली शुद्ध रूप में उत्तर प्रदेश में झांसी, जालौन, हमीरपुर तथा मध्यप्रदेश में ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी एवं होशंगाबाद जिलों में बोली जाती है। इसके मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं।

ठेट बुंदेली में, इसुरी की फागें और गंगाधर का प्रेम काव्य प्रसिद्ध है। लाल कवि ने इसी भाषा में साहित्य-रचना की है। इनका 'छत्र-प्रकाश' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ है। कहा जाता है कि जगनिक का 'आल्हाखण्ड' मूलतः बुंदेली की एक उपबोली 'बनाफरी' की रचना है। पँवारी, लोधांती, खटोली, भदावरी, सहेरिया, किनारे की बोली (किरारी), बनाफरी, कुंडी, तिरहरी, निभट्टा, लोधी, छिंदवाड़ा, बुंदेली, कोष्टी, कुम्हारी, नागपुरी आदि बुंदेली की उपबोली है।

बुंदेली की प्रमुख विशेषताये :

- (1) बुंदेली एवं ब्रजभाषा में घनिष्ठ संबंध हैं। इस पर कन्नौजी का बहुत प्रभाव है, विशेष रूप में संज्ञा, विशेषण क्रियापदों पर। इसकी प्रकृति प्रायः ओकारांत है— घोरो, कारो, मारो, लयो आदि।
- (2) सहायक क्रियाओं में ह का लोप पाया जाता है जैसे जऊँ (हूँ), आँय (है, हैं), औ आव (हो)
- (3) क्रिया के साथ सहायक क्रिया आने पर उसका विचित्र रूप हो जाता है। बड़ी अच्छौ भजौ। इसमें औकारांत ध्वनि न होकर औँ और ओ के बीच ध्वनि हैं।
- (4) क्रियार्थक संज्ञा के लिए बौ एवं नै का योग किया जाता है, जैसे— मारबौ, मारनै आदि।
- (5) इसके उच्चारण में अल्पप्राणीकरण की प्रवृत्ति मिलती है; जैसे — गधा=गदा, दूध=दूद, हाथ=हाँत जीव=जीब, दूद=दूद।
- (6) ब्रजभाषा के बहुत से ओकारांत शब्द वाकारांत तथा इकारांत याकारांत हो जाते हैं— धोरी=धुरवा, बेटी=बिटिया।
- (7) बुंदेली की प्रमुख विशेषता उसके निजी शब्द प्रयोग हैं। जैसे—दाई (पितामही), भोभी (भाभी), कनिही (चाची) आदि।
- (8) सम्बन्धवाचक 'जो' और 'जिस' बुंदेली में 'जोन' और 'जोहि' हो जाते हैं।
- (9) प्रश्नवाचक 'क्या' बुंदेली 'कहा' हो जाता है।
- (10) व्यंजानान्त या अकारान्त पुलिंग संज्ञा पद कर्ता एक वचन में खड़ी बोली में अविकृत रहते हैं, जबकि बुंदेली में उकारान्त हो जाते हैं। जैसे घर.....घरू, किन्तु बहुवचन में 'अन्' प्रत्यय जुड़कर इसमें घरों से घरन् बन जाता है।
- (11) व्यंजनों में न्ह, म्ह, ल्ह की महाप्राणता संदिग्ध है।
- (12) बुंदेली में ङ, ढ का प्रयोग कम किया जाता है। ङ की जगह अधिकांशतः 'र' बोला जाता है; जैसे—करोड़=करोर, झगड़ा=झगरो। इसकी तरह इसमें 'स' ध्वनि 'छ' में (सीढ़ियाँ=छिड़ियाँ), 'ब' ध्वनि 'म' में (बबूल=बमूरा), 'क' ध्वनि 'घ' में (सकूर=संघरवा) तथा 'च' ध्वनि 'स' में (सौच=शौंस) परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार 'उ' ध्वनि 'इ' (खूब=खीब) में बदल जाती है।
- (13) अनुनासिकता की प्रवृत्ति अधिक है।
- (14) बुंदेली में अ, औ का उच्चारण मूल स्वर तथा संयुक्त स्वर दोनों रूपों में मिलता है। ब्रजभाषा की तरह स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिल जाते हैं

NOTES

- (15) इसमें बीच की 'ह' ध्वनि का लोप हो जाता है; जैसे— चाहत=चाउत, रहिके = रइके।
- (16) बुंदेली में कुछ विचित्र ध्वनियाँ भी शामिल हुई हैं; जैसे—हठ=हड़स, अवकाश=उकास, अंगूठा=ऊंठा।
- (17) बुंदेली में ब्रजभाषा के परसर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य परसर्गों का भी प्रयोग किया जाता है। इनमें से प्रमुख परसर्ग हैं— के लाने/के काजे (के लिए), खों (को) खो (का)।
- (18) सहायक क्रिया में 'ह' के लोप के कारण 'हूँ' के लिए औँ; है 'हैं' के लिए 'आय'; 'हो' के लिए औँ/आव तथा था, थे, थी के लिए तो, ते, ती रूप मिलते हैं। भविष्यकाल में ह, ग, तथा नै वाले रूप चलते हैं; जैसे— होंगे, हुँगें तथा हौंनै आदि।
- (19) बुंदेली में कुछ मुहावरेदार प्रयोग भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; जैसे — मो पै जौ काम न हुइए (मुझ से यह काम न होगा), वाने बैठो (वह बैठा), वाने चाउत तो (वह चाहता था), ताखों पीछे (उसके पीछे)। इसी प्रकार सकारें (सवेरे), दुफाई (दोपहर को), आसौ (इस वर्ष), फिर (फिर), तथा पै (पहले) आदि बोले जाते हैं।
- (20) हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह बुंदेली में भी स्त्रीलिंग बनाने के लिए 'इन' तथा 'नी' प्रत्यय लगते हैं; जैसे — लड़किन।

(14) हरियाणवी

जॉर्ज ग्रियर्सन ने इसके लिए बांगडु नाम दिया है। बांगर का अर्थ होता है— "ऊँची—नीची भूमि।" करनाल के आसपास का क्षेत्र बांगर कहलाता है। इसलिए ग्रियर्सन ने इसे बांगरू कहा। इस बोली का क्षेत्र दिल्ली, रोहतक, करनाल, जीन्द, नाभा, हिसार तथा पटियाला के कुछ क्षेत्रों तक विस्तृत है।

हरियाणवी की विशेषताएं

- हरियाणवी में स्वरों के उच्चारण में अधिक विविधता है। इसमें अ का उ, ए, ऐ, तथा और में परिवर्तन हो जाता है; जैसे — कहाऊं=कोहाऊं, जवाब=जुवाब, बहुत=बोहत।
- कुछ शब्दों के उच्चारण भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होते हैं; जैसे — 'कहां' के लिए रोहतक के आसपास 'कड़े' तथा झज्जर के आसपास 'किग्घे' कहा जाता है।
- इसमें 'न' के स्थान पर 'ण' बोला जाता है; जैसे—अपना=अपणा, होना=होणा। इसी प्रकार ड़=ड (बड़ा=बडा) तथा त=द (मारता=मारदा) बोला जाता है।
- कुछ शब्दों में विशेषकर क्रियाओं में दोहरे व्यंजनों का भी प्रयोग होता है; जैसे— चाल्लया, लागगे आदि।
- इसमें 'नै' परसर्ग कर्त्ता—कर्म—सम्प्रदान तीनों में प्रयुक्त होता है। करण और सम्प्रदान कारक के लिए 'नइ', सम्प्रदान और अपादान के लिए 'तइ' तथा संबंध कारक के लिए 'कइ', एवं 'के' का प्रयोग होता है।
- इसमें वर्तमान काल के लिए सूँ, सां, हूँ, सैं, सै तथा भूतकाल के लिए सहायक क्रिया 'था' का प्रयोग किया जाता है।

(15) अवधी

'अवध' क्षेत्र की बोली होने से इसका नामकरण 'अवधी' हुआ है। इस बोली का केन्द्र अयोध्या का ही विकसित रूप है—अवध, जिससे 'अवधी' शब्द बना। अवधी के लिए 'बैसवाड़ी' तथा 'कोसली' नाम के भी प्रयोग होते हैं।

यह उत्तर प्रदेश के लखीमपुर खीरी, गोंडा बहराइच, लखनऊ, उन्नाव, बस्ती, रायबरेली, सीतापुर, हरदोई (शाहाबाद तहसील को छोड़कर), फैजाबाद, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी, फतेहपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर (चुनार व दुद्धी को छोड़कर) तथा जौनपुर (केराकत तहसील को छोड़कर) में बोली जाती है। अवधी भाषा का क्षेत्र लगभग 35,500 वर्ग मील है।

प्रमुख विशेषताएं :

- (1) खड़ीबोली की तुलना में अवधी के स्वरों की मात्रा कुछ कम होती है।
- (2) इसमें 'ण' का उच्चारण 'न' तथा 'ड़' का उच्चारण 'र' की तरह होता है; जैसे—बाण=बान, गुण...गुन, साड़ी=सारी।
- (3) 'व' का व्यंजन रूप में 'ब' तथा स्वर रूप में 'उ' 'ओ' के रूप में उच्चारण किया जाता है। बाहन, उकील, ओकील
- (4) संज्ञा शब्दों के तीन-तीन रूप मिलते हैं— जैसे— घोर, घोरवा, घौराना। बेटी, बिटिया, बिटइवा, सरिका, सरिकवा, सरिकउना। विदेशी शब्दों को भी इसी तर्ज पर बोलने के लिए इया, इआ, प्रत्यय लगा देते हैं; जैसे—कितबिया, स्कूलवा आदि।
- (5) 'वा', 'इआ' वाले रूप व्यक्तिवाचक और विदेशी शब्दों तक की बनावट में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—जगदीसवा, रजिस्टरवा।
- (6) विशेषण प्रायः मूल में अकारान्त होते हैं। जैसे— नीक, भला।
- (7) कुछ संख्यावाचक विशेषण रूप विशिष्ट हैं। जैसे— दुई, तीनि, छा, एगारा, पहिल, दोसर, दूजा।
- (8) इसमें विविध सहायक क्रियापद प्राप्त होते हैं। जैसे— वर्तमान काल— आटे, बांटे, हैं, अहै। भूतकाल— भए, रहे।
- (9) अवधी में हिन्दी की प्रायः सभी ध्वनियाँ मिलती हैं। इसमें स, श, ष में से केवल 'स' का ही शुद्ध रूप में प्रयोग किया जाता है; जैसे—शुक्ल=सुकुल। इसी प्रकार 'ष' का उच्चारण 'स' किया जाता है; जैसे— वर्षा=वरसा।
- (10) उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से इसमें संधि से व्यंजन का संयोग कर दिया जाता है; जैसे — 'बाप—महतारी' के लिए 'बाम्महतारी'।
- (11) इसमें 'ऐ' का उच्चारण 'अइ' (पैसा=पइसा) तथा 'औ' का उच्चारण 'अउ' (औरत=अउरत) किया जाता है।
- (12) पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए ई, इनि, इया तथा आइन आदि प्रत्यय लगाए जाते हैं; जैसे—लड़की, मालिनी, बुढ़िया, ललाइन आदि।
- (13) इसमें बहुवचन शब्द की रचना खड़ी बोली की तरह होती है; जैसे—सपने, बातें आदि। कभी—कभी एकवचन को सीधे बहुवचन के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है; जैसे—लरिका खात रहीन — इसके दोनों अर्थ हैं—'लड़का खा रहा था' तथा 'लड़के खा रहे थे'।
- (14) अवधि में कर्ता के लिए परसर्ग का प्रयोग नहीं होता। अन्य परसर्ग इस प्रकार हैं—

कर्म—सम्प्रदान — का, कां, कहं, कु, कूं, के, कहूं

करण—अपादान — से, सेनी, सेन, सन, ते, साँ, साँ, सेती, सेंति, हुंत

सम्प्रदान — बरे, बदे

संबंध — का, की, के, कर, केर, के

अधिकरण — में, मां, पर, मांझ, मांह, मेंहू, महूं आदि।

NOTES

(15) अवधि के सर्वनाम इस प्रकार हैं —

उत्तम पुरुष एकवचन — मैं, मह

बहुवचन — हम, हम लोग

तिर्यक रूप में एक वचन — मो, मोका, मोसे, मोहि, मोर आदि का,

बहुवचन — हमहिं, हमां, हमका, हमसूं, हमार

मध्यम पुरुष एकवचन — तू, तूं, तई, तोई

बहुवचन — तुम, तुम्हं, तूं सब, तुम, लोक

तिर्यक रूप में एकवचन — तो, तोका, तोसों, तोहि, तोर

बहुवचन — तुम, तुमका, तुमसों, तुमहिं, तुम्हार, तोहार

अन्य पुरुष एकवचन — वह,

बहुवचन — वेइ, तेइ

तिर्यक रूप एकवचन — ऊ, ओ, ओकार, ओक, ओसे

बहुवचन — ओ, ओन, ओन कर, ओनसे तथा ओनका

16. अवधि में क्रियाओं के लिए —

वर्तमान काल — आटो, बाटे, अहें;

भूतकाल — राह, रहे, भए

भविष्यत् काल — 'ब' और 'ह' रूप (खाब, होइ) आदि

उसकी सहायक क्रियाएं हैं — वर्तमान काल के लिए अहउं, अउ, अहरि, आहि। इसी प्रकार 'ह' वाले रूप भी प्रचलित हैं; जैसे — हउं, हहिं, हसि।

भूतकाल के रूप में 'भ' वाले शब्द— भा, भइ, भए, भयेउ, भएन, भइल आदि। इसी काल में 'ह' वाले प्रचलित हैं; जैसे — शब्द भी प्रचलित हैं; जैसे— हत, हते, हता, हतें, हुत आदि।

भविष्यकाल की सहायक क्रिया के — होब, होबहू, होबउं, होइहि, होइहिं आदि। ये शब्द प्रचलित हैं

(16) बघेली

यह बोली बघेल खण्ड के क्षेत्र में बोली जाती है, इसलिए इसे बघेली या बघेलखंडी कहा जाता है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से बघेली को अवधी की दक्षिणी शाखा कहा जा सकती है, जार्ज ग्रियर्सन ने जनमत को ध्यान में रखकर इसे एक स्वतंत्र बोली के रूप में स्वीकार किया है। बघेली का केन्द्र रीवा है, इसलिए इसे 'रीवाई' भी कहते हैं। रीवा के अतिरिक्त उसके आस-पास दमोह, जबलपुर, मंडला, बालाघाट, बाँदा, फतेहपुर तथा हमीरपुर आदि जिलों के कुछ भागों में भी इसका शुद्ध या मिश्रित रूप प्रयुक्त किया जाता है। इसके लिए पहले कैथी लिपि का प्रयोग होता था, लेकिन अब नागरी लिपि का प्रयोग किया जाता है। इसकी उपबोलियाँ— तिरहारी, बुंदेली, गहोरा, जुडार, बनाफरी, केवटी आदि।

NOTES

विशेषताएं :

- (1) बघेली का क्षेत्र अवधी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, मराठी और बुंदेली के बीच में पड़ता है, इसलिए इसके सीमान्त रूप इनसे प्रभावित हैं।
- (2) अवधी की अपेक्षा बघेली में 'व' का 'ब' उच्चारण करने की प्रवृत्ति अधिक है। इसलिए अवधी का 'आवा' बघेली में 'आबा' बन जाता है।
- (3) परसर्गों में हालांकि अधिकांशतः अवधी के ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किंतु कर्म-सम्प्रदान के क, का, के अतिरिक्त 'कह' और करण-अपादान में 'ते' के अतिरिक्त 'तार' का प्रयोग उल्लेखनीय है।
- (4) सर्वनामों में 'मुझे' के लिए म्वां, मोही; 'तुझे' के लिए त्वा, तोही; 'उसको' के लिए 'वहि' तथा 'इसको' के लिए 'यहि' शब्द प्रयोग किए जाते हैं। यह इसकी अपनी विशिष्टता है।
- (5) विशेषण के निर्माण में 'ह' प्रत्यय अधिकतर लगाया जाता है। जैसे-अधिकह, निकह।
- (6) शब्दावली में आदिवासियों की भाषा के तत्व भी पाये जाते हैं।
- (7) अवधी की 'ओ' और 'ए' ध्वनियों का जब बघेली में उच्चारण किया जाता है, तब उनके उच्चारण में क्रमशः 'व' और 'य' ध्वनि मिला दी जाती है; जैसे-घोड़=घ्वाड़, खेत=ख्यात।
- (8) क्रिया रूपों में भी इसकी अपनी अलग पहचान है। इसमें 'चराने' के लिए 'चरामै' का तथा 'देखकर' के लिए 'देखकै' का प्रयोग होता है। भूतकाल के लिए अवधी के रहा, रहेन के अतिरिक्त ता, तें, का भी प्रयोग किया जाता है। अवधी में भविष्यत् काल के लिए जहां 'व' वाले रूपों की प्रधानता होती है, वहीं बघेली में 'ह' वाले रूपों की प्रधानता होती है; जैसे-जेहों, कैंहो आदि।

(17) छत्तीसगढ़ी

इसका केन्द्र छत्तीसगढ़ होने के कारण ही इसका 'छत्तीसगढ़ी' नामकरण हुआ। मध्यप्रदेश के पूर्वोत्तर में पलामू-बिहार की सीमा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक और पश्चिम में बघेलखण्ड को छूता हुआ पूर्व में उड़ीसा की सीमा तक फैला हुआ जो क्षेत्र है, जिसमें रायगढ़ सारगढ़, खैरागढ़ आदि 'छत्तीस' गढ़ थे। इसी कारण इस क्षेत्र को छत्तीसगढ़ और इस क्षेत्र की बोली को 'छत्तीसगढ़ी' कहा जाता रहा है। इसकी उपबोलियां हैं - सुरगुजिया, सदरी, बैगाजी, बिंझवाली, कलंगा, भुलिया, सतनामी, कॉकेरी, बिलासपुरी, हलबी, कबर्धाई, खैरागढ़ी, कलंगा, अरु मुलिया आदि।

विशेषताएं :

- (1) आदिवासी की बोलियों के साथ ही सीमावर्ती मराठी, तेलगू और उड़िया आदि का प्रभाव छत्तीसगढ़ी पर दिखाई देता है।
- (2) इसमें महाप्राणीकरण की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में दिखाई देती है, जैसे दौड़ का धौड़ कचहरी का कधेरी, जन=झन, जात है=जाथै आदि।
- (3) संज्ञा-सर्वनामों में कर्म, संप्रदान में 'ला' और करण-अपादान में 'ले' छत्तीसगढ़ी के विशिष्ट परसर्ग हैं।
- (4) कर्ता के साथ 'हर' का प्रयोग उसे निश्चित अर्थ प्रदान करता है।
- (5) बहुवचन का रूप प्रायः वही रहता है जो एकवचन का है। साधारणतः 'मन' या 'मनन' जोड़कर बहुवचन बनाया जाता है।

NOTES

- (6) छत्तीसगढ़ी में 'स' का 'छ' (सीता=छीता), 'ल' का र/व तथा 'व' का 'ज' हो जाता है।
- (7) इसमें 'श' को 'स' के रूप में बोलने की प्रवृत्ति है। अवधी की तरह ही इसमें भी 'ष' को 'स' बोला जाता है; जैसे—भाषा=भासा, दोष=दोस।
- (8) संज्ञा—सर्वनामों में कर्म—सम्प्रदान के लिए 'ला' तथा करण—अपादान के लिए 'ले' छत्तीसगढ़ी के विशेष परसर्ग हैं। संबंध कारक परसर्ग 'के' लिंग के अनुसार परिवर्तित नहीं होता। इसके बहुवचन का रूप प्रायः एकवचन के जैसा ही रहता है। कहीं—कहीं तिर्यक बहुवचन में 'न' का प्रयोग किया जाता है; जैसे—लरिकन, बहलन (बैल) आदि। सामान्य बहुवचन बनाने के लिए 'मन' प्रत्यय जोड़ा जाता है, जैसे—हम मन (हम लोग)। लेकिन यह 'मन' प्रत्यय निर्जीव वस्तुओं के साथ नहीं लगाया जाता।
- (9) स्त्रीलिंग के लिए निन, इन, आनी, इया आदि प्रत्यय प्रचलित हैं; जैसे—नतनिन, जेठानी, बुढ़िया आदि।
- (10) इसमें वर्तमान काल के लिए हवउं (हूँ), हवन् (हैं), हवस (हो), हवै (है); तथा भूतकाल के लिए रहेंव, रहेन् तथा रहे सहायक क्रिया का प्रयोग किया जाता है। भविष्यत् काल के लिए 'ह' और 'ब' वाले रूप प्रचलित हैं; जैसे— चलहूँ, चलबो, चलिहअ आदि।
- (11) क्रिया के साथ 'त' और 'ह' को जोड़कर 'थ' बना दिया जाता है, जैसे—करते हैं=करथन।
- (12) छत्तीसगढ़ी के अपने कुछ विशेष अव्यय हैं; जैसे—अंते (अन्यत्र), एकोत (एक ओर), काबर (क्यों) तथा अभीच (अब ही) आदि।

(18) मालवी

इन्दौर और उज्जैन के आस—पास का क्षेत्र 'मालव' नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र की बोली 'मालवी' कहलाती है। इसका क्षेत्र पश्चिम में प्रतापगढ़, रतलाम, दक्षिण—पश्चिम में इंदौर, दक्षिण में भोपाल और होशंगाबाद का पश्चिमी भाग तथा बैतूल का उत्तरी भाग उत्तर पूर्व में गुना और उत्तर—पश्चिम में नीमच, उत्तर में ग्वालियर, झालावाड़, टोंक तथा चित्तौड़गढ़ तक विस्तृत है। शुद्ध मालवी उज्जैन, इन्दौर और देवास में बोली जाती है। इसकी उपबोलियाँ हैं — डोंगी, सांडवाडी, रांगड़ी, धोलेबाडी, भोयरी, पाटवी, कटियाई, उमठवाडी, मन्दसौरी, रतलामी तथा डंगेसरी।

विशेषताएं :

- (1) इसमें 'ण' का प्रयोग नहीं होता।
- (2) 'ड़' की अपेक्षा 'ड' का प्रयोग अधिक प्रचलित है।
- (3) ऐ, औ की उपेक्षा 'ए' 'ओ' बोलने की प्रवृत्ति अधिक है।
- (4) कुछ विशेष सार्वजनिक रूपों का प्रचलन है— के (कौन), कीने कणीने (किसने), काँई, के, काँई, (क्या)
- (5) संज्ञा बहुवचन में हिन्दी के 'लोग' की तरह होर, होरो, होना जोड़ा जाता है।
- (6) 'ल' के स्थान पर 'ळ' का प्रयोग होता है। जैसे— काल.....काळ
- (7) 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग होता है। जैसे— युद्ध.....जुद्ध। यजमान.....जजमान।
- (8) 'म' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग होता है। जैसे—मेंढक.....डेंडक।
- (9) 'ब' के स्थान पर 'व' का प्रयोग होता है। जैसे— बात.....वात।

NOTES

(19) निमाड़ी

निमाड़ी – वर्तमान में निमाड़ी निमाड़ जिला, बुरहानपुर, तथा भोपवाड़ा रियासत के कुछ भागों में बोली जाती है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने इसे दक्षिणी राजस्थानी कहा है। इस विभाषा पर पड़ौसी भीली और खानदेशी बोलियों का प्रभाव है, जिसके कारण उसे अलग बोली माना जाता है। निमाड़ी की अपनी अलग विशेषताएँ हैं। उद्गम की दृष्टि से यह मालवी का ही एक रूप है, परन्तु यह एक ऐसे पर्वतीय प्रदेश की जातियों के मुंह से बोली जाती है जो कि मालवी के बाकी हिस्सों से अलग-सा जान पड़ता है।

(20) राजस्थानी बोलियाँ

राजस्थानी हिंदी बोलियों के अंतर्गत चार मुख्य बोलियाँ हैं— (1) मारवाड़ी (2) जयपुरी (3) मेवाती (4) मालवी। इन बोलियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मारवाड़ी

राजस्थानी की भूतपूर्व रियासत जोधपुर का समीपवर्ती प्रदेश, मरुप्रधान न होने के कारण मारवाड़ या मरवण कहलाता है। इस प्रदेश की मुख्य बोली 'मारवाड़ी' कहलाती है। यह मारवाड़ के अतिरिक्त मिश्रित रूप में अजमेर, किशनगढ़, मेवाड़, सिरोही, पालमपुर, जैसलमेर, अमरकोट (सिंधी) तथा बीकानेर, उत्तरी जयपुर एवं हरियाणा के हिसार-भिवानी जिलों आदि में बोली जाती है। भूभाग तथा बोलने वालों की दृष्टि से यह राजस्थान की सबसे बड़ी बोली है।

(21) पहाड़ी हिंदी बोलियाँ

पहाड़ी हिंदी बोलियों को डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने तीन भागों में विभाजित किया है—

क-पश्चिमी पहाड़ी ख-मध्य पहाड़ी तथा ग-पूर्वी पहाड़ी। मध्य पहाड़ी के दो मुख्य भेद हैं—1. कुमायूनी, 2. गढ़वाली। पूर्वी पहाड़ी के अंतर्गत नेपाली आती है, जिसको पूर्वतीया, गुरखाली अथवा खसकुरा भी कहते हैं। इन समस्त पहाड़ी बोलियों में कूमायूनी और गढ़वाली विशेष उल्लेखनीय हैं।

कुमायूनी

उत्तर प्रदेश के नैनीताल, अलमोड़ा तथा पिथौरागढ़ जिले कूर्मांचल या कुमायू के नाम प्रसिद्ध हैं। इसी प्रदेश की बोली कुमायूनी कहलाती है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने कुमायूनी की बारह उपबोलियाँ मानी हैं। इन सबका विकास 'खस' से हुआ है।

प्रमुख विशेषताये

1. इसके ण, ल्ल के उच्चारण में राजस्थानी, अल्प प्राणीकरण में दरर तथा खड़ी बोली का प्रभाव है।
2. ए, ओ के स्थान पर अवधी की तरह क्रमशः या, वा बोले जाते हैं।
3. अधिकांश सर्वनाम हिंदी के ही हैं।
4. कारक-परसर्गों में कुछ विशिष्टतायें हैं, जैसे-कर्ता ने के स्थान पर ले तथा को के लिये कणि का प्रयोग होता है।
5. क्रिया-रूपों में न वर्तमान, आ-ई-ओ भूतकाल तथा ल भविष्यकाल में प्रयुक्त होता है।
8. छः मुख्य सहायक क्रिया हैं।

स्व-प्रगति की जाँच करें—

4. हिन्दी खड़ी बोली के स्वरूप पर संक्षेप में अपने विचार लिखिए।
5. कन्नौजी बोली की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
6. बुन्देली बोली के प्रसार-क्षेत्र एवं विभिन्न नामों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

NOTES

कूर्माचल अथवा कुमायू से परिचय में यमुना तक का प्रदेश उत्तराखण्ड कहलाता है। इसका प्राचीन नाम केंदारखण्ड था। उत्तर प्रदेश के टिहरी गढ़वाल तथा चमोली जिले इसी के अंतर्गत हैं। गढ़वाल इस क्षेत्र का मुख्य केन्द्र हैं। उसी के नाम पर यहाँ की बोली गढ़वाली कहलाती हैं। इसकी अनेक उपबोलियाँ हैं, जिन पर खस, शक, किरात आदि का प्रभाव हैं।

प्रमुख विशेषतायें

1. गढ़वाली में अनुनासिकरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक है, जैसे—सांत, छांया।

सार—संक्षेप

- हिन्दी भाषा परंपरा से विकसित और अपने समय और समाज की जरूरतों से संबद्ध भाषा है।
- यह हिन्दी क्षेत्र के सम्पूर्ण भागों में अलग-अलग बोलियों और भाषाओं के रूप में अपनी पहचान बनाये हुए है।
- सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में 18 बोलियाँ बोली जाती हैं।
- हिन्दी की बोलियों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया है – पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी।
- हिन्दी की यह विविधता ही उसके सामाजिक अनुबंध को प्रदर्शित करती है।
- हिन्दी की सम्पूर्ण बोलियों का एक समृद्ध साहित्य है।
- बोलियों का व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक नियम हैं।

स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर

1. पश्चिमी हिन्दी की विशेषताएँ— पश्चिमी हिन्दी के अंतर्गत आने वाली सभी पाँचों उपभाषाओं की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. पश्चिमी हिन्दी की प्रमुख बोली है 'खड़ी बोली' अतः इसकी विशेषता है उच्चारण में खड़ापन
2. इसमें 'य' और 'व' का उच्चारण सुरक्षित है। कुछ बोलियों में 'ल' ध्वनि पाई जाती है।
3. 'ण' और 'श' का भी स्पष्ट उच्चारण किया जाता है। ओकार बहुला बोलियों में ण का न और श का स हो जाता है।
4. जिह्वामूलीय ध्वनियों जैसे कि ख, ग, ज, और फ का भी प्रयोग होता है।
5. उच्चारण में महाप्राण ध्वनियों को अल्पप्राण कर दिया जाता है; जैसे— भी का बी, भूख का भूक, सभी का सबी, नहीं का नई, दुःख का दुक, धंधा का धंदा इत्यादि।
6. इस वर्ग की बोलियों के प्रमुख परसर्ग हैं—

कर्ता	—	ने, नें, नै
कर्म	—	को, कू, को
करण—अपादान	—	ते, सेती, से

- संबंध — का, के, की, को
- अधिकरण — में, पर, वे
7. इस वर्ग की बोलियों में सर्वनामों के लिए मैं, हों, हमारो, हमारू, म्हारू, तुम, तिहारो आदि का मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है।
8. इसमें वर्तमान सहायक क्रिया के लिए है, हैं, हों, हौ; भूतकाल के लिए था, वे, हतो, हो तथा भविष्यत् काल के लिए ग वाले रूपों का प्रयोग किया जाता है।
9. संज्ञा, विशेषण तथा क्रियापदों में लिंग तथा वचन के अनुसार परिवर्तन किया जाता है।
2. पूर्वी हिन्दी विशेषताएँ— पूर्वी हिन्दी की इन तीनों बोलियों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—
1. पूर्वी हिन्दी का उच्चारण अवरोहपूर्ण है।
 2. इन सभी में 'ण' ध्वनि के स्थान पर 'न', 'ल' के स्थान पर 'र', तथा 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' बोला जाता है।
 3. इन तीनों बोलियों में य का ज जैसे युवा का जुआ, यश का जश व का उ तथा ब — वकील का उकिल का बकील, बोला जाता है।
 4. इनमें 'ए' का उच्चारण 'अइ' जैसे चैन का चइन, और 'औ' का उच्चारण 'अउ' होता है; जैसे— पैसा का पइसा, औरत का अउरत, कौन का कउन
 5. इनमें संज्ञा शब्दों का एकवचन, तिर्यक एकवचन तथा सामान्य बहुवचन एक समान होते हैं।
 6. हम—तुम सर्वनामों का अर्थ एकवचन है। जउन (जो), तउन (सो), कउन (कौन) इत्यादि।
 7. पूर्वी हिन्दी बोलियों के प्रमुख परसर्ग हैं—

कर्म	—	क, का, कह, कु, के, को, कइ
सम्प्रदान	—	कहां, बरे, बदे, बाड़े
करण—अपादान	—	से, सेन, संती, सन, लग, भई, हुत, में, बे
संबंध	—	के, कर, केर, के, का, की, करि
अधिकरण	—	मा, में, मांहि, मांझ, मझारी, पर, प, मइहां।
6. इन बोलियों के क्रिया रूपों की रचना अनेकता एवं जटिलता है। इनमें क्रियापदों के साथ सार्वनामिक प्रत्यय जुड़ते हैं। इनमें 'कहिस' का अर्थ होता है— उसने कहा। 'मैं आता हूँ' को इनमें 'आइत ई' बोलते हैं। पूछिस (उसने पूछा), देहिस (उसने दिया) अहै, आरे, बारे आदि वर्तमान सहायक क्रियाएँ हैं। भविष्यत् काल के लिए ह, ब, फ प्रयोग किया जाता है।
- ब्रजभाषा— ब्रजभाषा पश्चिमी हिंदी क्षेत्र की प्रमुख बोली है। इसका विकास शौरसेनी प्राकृत से हुआ है। इसका क्षेत्र है— उत्तर प्रदेश के अलीगढ़, मथुरा, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूँ तथा रायबरेली जिले, हरियाणा के गुडगाँव जिले का पूर्वी भाग, मध्यप्रदेश में ग्वालियर जिले का पश्चिमी भाग। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में बरेली, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा तथा कानपुर के जिलों में भी ब्रजभाषा ही बोली जाती है।
- ब्रजभाषा की अनेक उप-बोलियाँ हैं। इनमें नैनीताल की भुक्सा, एटा, मैनपुरी बदायूँ और बरेली की अंतर्वेदी, धौलपुर—पूर्वी जयपुर की डांगी, गुडगाँव एवं भरतपुर की मिश्रित बोली, करौली की जादोवाटी तथा कन्नौजी से प्रभावित बोलियाँ मुख्य हैं।

NOTES

- (1) ब्रजभाषा औकारांत हैं। इसकी प्रायः सभी एकवचनीय पुल्लिंग संज्ञायें एवं विशेषण औकारांत होते हैं। जैसे—खुरपों कारी, गौरी मेरी, जौ आदि। क्रिया का सामान्य भूतकाल का एकवचन पुल्लिंग रूप भी औकारांत ही होता है, जैसे—बोली, कही, गयी, मारी।
- (2) 'ऐ' तथा 'औ' ब्रजभाषा की विशेष ध्वनियाँ हैं। खड़ी बोली में जहाँ भी 'ए' तथा 'ओ' पाया जाता है, वहाँ ब्रजभाषा में ऐ, औ उच्चारण मिलता है। जैसे खड़ी बोली के तो, को, पे, में, ने के स्थान पर ब्रज भाषा में तौ, कौ, पै, में, नै आदि मिलते हैं।
- (3) खड़ी बोली के शब्द के अंत का 'आ' ब्रजभाषा में 'ओ' हो जाता है; जैसे— 'आया' का 'आयो', 'होता' का 'होतो', 'जाऊंगा' का 'जाऊंगो' तथा 'दूजा' का 'दूजो'।
- (4) खड़ी बोली का 'ड' 'र' हो जाता है, जैसे— पड़े—परे, लड़का—लरका, जुड़तो जाइगो।
- (5) य, व, की श्रुति प्रायः दृष्टिगत होती है, जैसे— बोल्यौ, कह्यौ।
- (6) पुल्लिंग एकवचन के अंत में उ तथा स्त्रीलिंग एकवचन के अंत में इ प्रायः बोला जाता है, जैसे— मातु—करमु, छोरी, कालि, इरि, मालु, कालि, दूरि आदि। स्त्रीलिंग के लिए ई, इनी, आइन तथा आनी का प्रयोग होता है; जैसे—छोरी, शेरनी, जेठानी, ललाइन आदि।
- (7) परसर्ग खड़ी बोली आदि अन्य बोलियों ही की भाँति प्रयुक्त होते हैं। निम्न परसर्ग उल्लेखनीय हैं।

कर्ता	—	ने, नें, नै, न
कर्म	—	कु, कुं, कूं, कों, को, ऐ, ए, इ, कै, कें
करण अपादान	—	ते, तै, तैं, सू, सूं, सो, सौं, सै, तें, तैं
संबंध	—	को, कौ, (पुल्लिंग एकवचन अविकारी), कि,की (स्त्रीलिंग) के (पुल्लिंगविकारी बहुवचन)
अधिकरण	—	में, मैं, महं, माहि, माहीं, माहि, मा, प, पै, पें।

4. खड़ी बोली — सबसे पहले सन् 1600 में लल्लूलाल ने 'खड़ी' नाम का इस संदर्भ में प्रयोग किया था। उनके समकालीन और सहयोगी सदल मिश्र और ग्रिलक्राइस्ट ने भी इस नाम को प्रचारित किया।

'खड़ी' का अर्थ 'स्टैण्डर्ड या स्तर' है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में खड़ी बोली का व्याख्यात्मक परिचय देते हुए कहा गया है। "भाषा शास्त्र की दृष्टि से खड़ी बोली शब्द का प्रयोग दिल्ली मेरठ के समीपस्थ ग्राम समुदाय की ग्रामीण बोली के लिए होता है। इसे ग्रियर्सन ने 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' कहा है। डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने 'जनपदीय हिन्दुस्तानी' कहा है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से खड़ी बोली ही स्टैण्डर्ड हिन्दी, हिन्दुस्तानी तथा उर्दू की मूलाधार बोली है। साहित्यिक सन्दर्भ में कभी—कभी अवधी, ब्रज आदि के साहित्य से अलगाव करने के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य को 'खड़ी बोली साहित्य से अभिहित किया जाता है। इस अर्थ में खड़ी बोली शब्द 'स्टैण्डर्ड हिन्दी' का समानार्थक होकर प्रयुक्त होता है। 'खड़ी बोली' शब्द का यह सामान्य अर्थ है। प्रथम प्रयोग विशिष्ट अर्थ में है।" इसको हिन्दुस्तानी, नागरी, सरहिन्दी, खरी, निर्मल गँवारी, कच्ची, प्रत या ठेठ, मरदानी आदि के नाम से भी पुकारते हैं।

'खड़ी बोली' के नामकरण की व्युत्पत्ति के संबंध में काफी मतभेद रहा है। एक मत यह है कि मूर्धन्य ध्वनियों की अधिकता के कारण इसे 'कड़ी' या खड़ी बोली' कहा गया कुछ विद्वानों के

अनुसार अवधी को पड़ी या गिरी हुई बोली कहा जाने लगा था, इसलिए इस भाषा को 'खड़ी' कहा गया है।

एक अन्य मत इससे ठीक विपरीत है कि इस बोली की प्रखरता, बलाघात का आधिक्य और दीर्घ स्वर के बाद भी व्यंजन के उच्चरण इसको ब्रज की अपेक्षा अधिक 'कर्कश' बना देता है, इसीलिए इसे 'खड़ी' कहा गया।

चंद्रबली पाण्डेय ने 'खड़ी' का अर्थ 'प्रकृत' और ठेठ बताया है। ईस्टविक, ग्राहम बेली और गिलक्राइस्ट के अनुसार इसे प्रचलित और स्टैंडर्ड अर्थात् परिनिष्ठत या खरी बोली कहा गया। खड़ी में परिवर्तन हुआ है।

डॉ. हरदेव बाहरी ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए लिखा है—“हमें भी लगता है कि जैसे अंग्रेजी स्टैड से स्टैंडर्ड बना, वैसे ही हिंदी पर्याय सुझाते हुए 'खड़ा' से 'खड़ी' बोली का प्रयोग चल पड़ा। याद रहे कि इस प्रदेश की भाषा का यह नाम तभी पड़ा जब इसका व्यवहार शिक्षा और साहित्य में स्टैंडर्ड भाषा के रूप में होने लगा था। जयपुरी की राजस्थानी और पूना की मराठी को भी खड़ी बोली इसी कारण से कहा जाता है।”

5. कन्नौजी की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

1. कन्नौजी में प्रायः वे सभी स्वर एवं व्यंजन-ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं, जो ब्रजभाषा में प्रचलित हैं। अंतर केवल इतना है कि इसमें व्यंजनांत पुल्लिंग शब्द उकारांत बोले जाते हैं; जैसे—रामु, कानु, घरु, किसानु, पेटु आदि।
 2. इसमें ड, ङ और ढ, ढ में भेद स्पष्ट है।
 3. इसमें 'ह' और 'स' की अपेक्षा 'र' का प्रयोग अधिक होता है।
 4. इस बोली में मध्यम 'ह' का लोप हो जाता है; जैसे — जाहि=जाइ।
 5. इसमें हिन्दी के अकारांत शब्द प्रायः ओकारांत बोले जाते हैं; जैसे—'छोटा' को 'छोटो'। इसी प्रकार हिन्दी का 'अ' भी यहाँ 'औ' में बदल जाता है; जैसे— बकरा=बौकरा।
 6. हिन्दी की अंतिम महाप्राण ध्वनि यहाँ अल्पप्राण के रूप में पाई जाती है; जैसे— हाथ=हात्।
 7. कन्नौजी में अनुनासिकता का अत्यधिक प्रयोग होता है।
 8. इस बोली में व्यंजन और वाक्यों में शब्द-संयोग उल्लेखनीय
 9. है; जैसे—बादशाह—बास्साह, थक गया=थग्गयो, लोभ मत करो=लोभमति करो।
 10. स्त्रीलिंग बनाने के लिए आइन, इया तथा इ प्रत्यय जोड़े जाते हैं।
 11. संज्ञा-सर्वनामों में कुछ अतिरिक्त परसर्ग भी प्रयोग में जाए जाते हैं; जैसे—कर्म के लिए का, कौ; संबंध के लिए 'कर' तथा अधिकरण के लिए मां, म्हं आदि। इसमें ई(य) और ऊ (व) सर्वनाम अवधी से आए हैं।
 12. इसमें वर्तमान काल के लिए हू, हों, हो, हैगो तथा हुई; भूतकाल के लिए थी, थे, हो, हते, हती तथा भविष्यत्काल के लिए ह और ग वाले रूप अधिक प्रचलित हैं।
6. बुंदेला राजपूतों का प्रदेश होने के कारण इस क्षेत्र को बुंदेलखण्ड और उसकी भाषा को बुंदेलखण्डी या बुंदेली कहा जाता है। बुंदेली शुद्ध रूप में झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इस प्रकार यह बोली

NOTES

दक्षिणी—पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश के मध्यभाग तथा महाराष्ट्र के नागपुर के पास के उत्तरी—पूर्वी भाग में प्रयुक्त होती है। इसका क्षेत्र पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी तथा मराठी के बीच में है। इसका परिनिष्ठत रूप ओरछा और सागर के आस—पास बोला जाता है। जॉर्ज ग्रियर्सन के अनुसार बुन्देली की पूर्वी सीमा पर बघेली, उत्तर—पश्चिम सीमा पर कन्नौजी और ब्रजभाषा तथा दक्षिण—पश्चिम की ओर राजस्थान की बोलियाँ हैं। पश्चिमी हिन्दी की समस्त भाषाओं में बुन्देली का क्षेत्र अन्य भाषाओं की अपेक्षा काफी बड़ा है। यह मध्यप्रदेश (टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, दतिया, ग्वालियर, सारग, दमोह, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, छिंदवाड़ा, सिवनी, भोपाल, बालाघाट और दुर्ग के कुछ भाग); उत्तर प्रदेश (झांसी, हमीरपुर, जालौन, बांदा, आगरा, इटावा और मैनपुरी के कुछ भाग); महाराष्ट्र (नागपुर, छंदा, बुलडाना, बांघटा) में बोली जाती है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का विचार है कि बुंदेली शुद्ध रूप में उत्तर प्रदेश में झांसी, जालौन, हमीरपुर तथा मध्यप्रदेश में ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी एवं होशंगाबाद जिलों में बोली जाती है। इसके मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं।

ठेठ बुंदेली में, इसुरी की फागें और गंगाधर का प्रेम काव्य प्रसिद्ध है। लाल कवि ने इसी भाषा में साहित्य—रचना की है। इनका 'छत्र—प्रकाश' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ है। कहा जाता है कि जगनिक का 'आल्हाखण्ड' मूलतः बुंदेली की एक उपबोली 'बनाफरी' की रचना है। पँवारी, लोधांती, खटोली, भदावरी, सहेरिया, किनारे की बोली (किरारी), बनाफरी, कुंडी, तिरहरी, निभट्टा, लोधी, छिंदवाड़ा, बुंदेली, कोष्टी, कुम्हारी, नागपुरी आदि बुंदेली की उपबोली है।

अभ्यास—प्रश्न

1. पश्चिमी हिन्दी का स्वरूपगत विभाजन उदाहरणों सहित कीजिए।
2. पश्चिमी हिन्दी की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. पूर्वी हिन्दी के क्षेत्र एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. पश्चिमी एवं पूर्वी हिन्दी के अन्तर उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।
5. खड़ी बोली का क्षेत्र और विशेषताएं स्पष्ट कीजिए।